Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

JANTA ANTIQUARY

1940 G. K. U.

Public Domain. Gurukul Kangri Collection

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

L 078891

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

COMPILED

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणबेल्गोल के मस्तकाभिषेक की स्मृति में

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण ४

99 ACC. NO 078891

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V. NO. IV

RJ 01293

078891

Edited by

Dr. B. A. Saletore. M. A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

MARCH, 1940.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर; और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर क़ी सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहियें।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणबेलगोल के मस्तकाभिषेक की स्मृति में

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | फाल्गुन | किरण ४

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) | विदेश में ४।।) | एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
१ जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेल्गोल—	[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल. बी.	२०१
२ श्रवणबेल्गोल एवं यहां की श्रीगोम्मट-मूर्ति—	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ...	२०५
३ श्रवणबेल्गोल (पद्य)—	[श्रीयुत कल्याणकुमार जैन 'शशि'	२१३
४ पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद—	[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ...	२१६
५ वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय—	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	२२९
६ श्रवणबेल्गोल के शिलालेख—	[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.	२३३
७ गोम्मट स्वामी की सम्पत्ति का गिरवी रक्खा जाना—	[श्रीयुत पं० जुगल किशोर मुख्तार	२४२
८ महाबाहुर्बाहुबली (पद्य)—	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...	२४५
९ दक्षिण भारत के जैन वीर—	[श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०	२४९
१० धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ—	[श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ...	२५८
११ गोम्मट-मूर्ति की प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल—	[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ	२६१
१२ सार 'जैन ऐन्टीक्वेरी'—(भाग ५, न० ३)—	[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ...	२६७
१३ साहित्य-समालोचना—(१) अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें—	[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री	२६८
(२) कथा-कुसुमावली—	[श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ	२६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

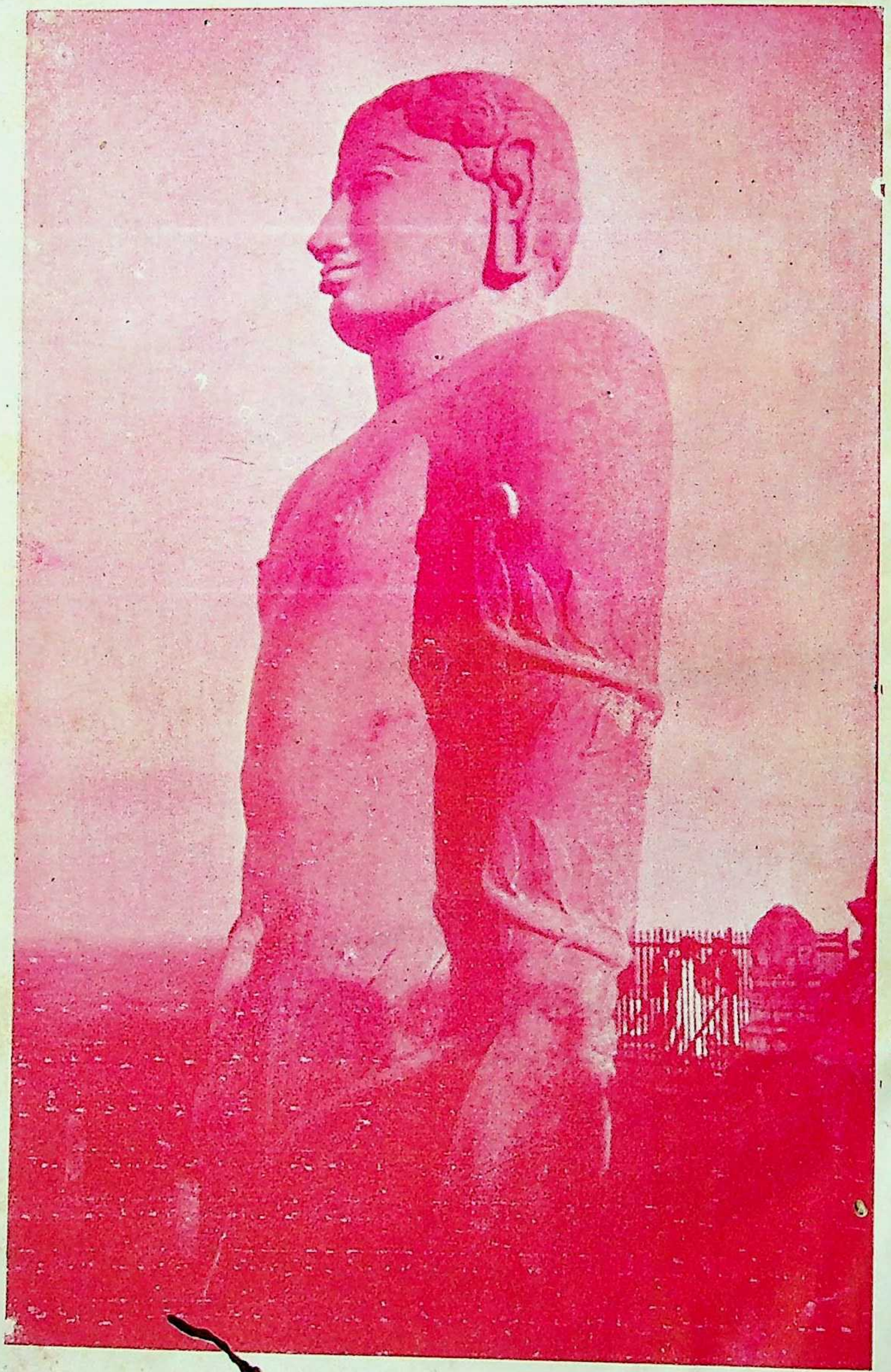

श्रीबाहुबलीस्वामी

(श्रीयुत अयोध्या प्रसाद गोयलीय के सौजन्य से प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ६ | मार्च १९४० । फाल्गुन वीर नि० सं० २४६६ | किरण ४

जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेल्गोल

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम०ए०, एलएल० बी०]

समस्त दक्षिण भारत में ऐसे बहुत ही कम स्थान होंगे जो प्राकृतिक सौन्दर्य में, प्राचीन कारीगरी के नमूनों में व धार्मिक और ऐतिहासिक स्मृतियों में 'श्रवणबेल्गोल' की बराबरी कर सकें। आर्य जाति और विशेषतः जैन जाति की लगभग ढाई हजार वर्ष की सभ्यता का इतिहास यहां के विशाल और रमणीक मन्दिरों में, अत्यन्त प्राचीन गुफाओं, अनुपम उत्कृष्ट मूर्तियों व सैकड़ों शिलालेखों में अंकित पाया जाता है। यहां की भूमि अनेक मुनि-महात्माओं की तपस्या से पवित्र, अगणित धर्मनिष्ठ यात्रियों का भक्ति से पूजित और बहुत से नरेशों व सम्राटों के दान से अलंकृत और इतिहास में प्रसिद्ध हुई है।

यहां की धार्मिकता इस स्थान के नाम में ही गर्भित है। श्रवण (श्रमण) नाम जैन मुनि का है और बेल्गोल् कन्नड भाषा के 'बेल्' और 'गोल' इन दो शब्दों से बना है जिनका अर्थ क्रमशः धवल और सरोवर होता है। इस प्रकार श्रवण-बेल्गोल का अर्थ 'जैन मुनियों का धवल सरोवर' होता है जिसका तात्पर्य संभवतः उस रमणीक सरोवर से है जो ग्राम के बीचों-बीच अब भी इस स्थान की शोभा बढ़ा रहा है। जैनियों का प्राचीनतम केन्द्र होने से इस स्थान की प्रसिद्धि जैनबिद्री नाम से भी है।

श्रवणबेल्गोल ग्राम मैसूर प्रान्त में हासन जिले के चेन्नरायपट्टण तालुक में दो सुन्दर पहाड़ियों के बीच बसा हुआ है। इनमें से बड़ी पहाड़ी (दोड्डबेट्ट) ग्राम से दक्षिण की ओर है और विन्ध्यगिरि कहलाती है। छोटी पहाड़ी (चिक्कबेट्ट) ग्राम से उत्तर की ओर है और चन्द्रगिरि नाम से प्रख्यात है। विन्ध्यगिरि समुद्रतल से ३,३४७ फुट और नीचे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैदान से लगभग ४७० फुट ऊचा है। कभी-कभी इन्द्रगिरि नाम से भी इस पर्वत का सम्बोधन किया जाता है। पवत के शिखर पर पहुंचने के लिये नीचे से कोई ५०० सीढ़ियां बनी हुई हैं। ऊपर समतल चौक है जिसके चारों-ओर एक छोटा सा घेरा है। इस घेरे में बीच-बीच में तलघर हैं जिनमें जैन मूर्तियां विराजमान हैं। इस घेरे के चारों ओर कुछ दूरी पर एक भारी दीवाल है जो कहीं-कहीं प्राकृतिक शिलाओं से बनी हुई है। चौक के ठीक बीचोबीच गोम्मटेश्वर की वह विशाल खड्गासन मूर्ति है जो अपनी दिव्यता से उस समस्त भूभाग को अलंकृत और पवित्र कर रही है। यह नग्न, उत्तरमुख खड्गासनमूर्ति समस्त संसार की आश्चर्यकारी वस्तुओं में से है। सिर के बाल घुंघराले, वक्षस्थल चौड़ा, विशाल बाहु नीचे को लटकते हुए और कटि किंचित् क्षीण है। घुटनों से कुछ ऊपर तक बमीठे दिखाये गये हैं जिनसे सर्प निकल रहे हैं। दोनों पैरों और बाहुओं से माधवी लता लिपट रहा है। मुख पर अपूर्व कान्ति, अगाध शान्ति और अटल ध्यानमुद्रा विराजमान हैं। मूर्ति क्या है मानों तपस्या का अवतार ही है। दृश्य बड़ा ही भव्य और प्रभावोत्पादक है। सिंहासन एक प्रफुल्ल कमल के आकार का है। इस कमल पर बायें चरण के नीचे तीन फुट चार इञ्च का माप खुदा हुआ है जिसको कहा जाता है, अठारह से गुणित करने पर मूर्ति की ऊँचाई निकलती है। जो माप लिये गये हैं उनसे मूर्ति की ऊँचाई कोई ५७ फुट पाई गई है। निस्सन्देह मूर्तिकार ने अपने इस अनुपम प्रयास में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। एशिया-खंड ही नहीं समस्त भूतल का विचरण कर आइये, गोम्मटेश्वर की तुलना करनेवाली मूर्ति आपको शायद ही कहीं दृष्टिगोचर होगी। रामसेस या अबू सिम्बल की अत्यन्त प्राचीन मूर्तियां मानो इसी दिव्य मूर्ति के सामने लज्जित होकर धराशायी हो गयी हैं। बड़े-बड़े पश्चिमीय विद्वानों के मास्तष्क इस मूर्ति की कारीगरी पर चक्कर खा गये हैं। इतने भारी और प्रबल पाषाण पर सिद्धहस्त कारीगर ने जिस कौशल से अपनी छैनी चलाई है उससे भारत के मूर्तिकारों का मस्तक सदैव गर्व से ऊँचा उठा रहेगा। कोई एक हजार वर्ष से यह प्रतिमा सूर्य, मेघ, वायु आदि प्रकृति देवी की अमोघ शक्तियों से टक्कर ले रही है, पर अब तक उसमें कोई भारी क्षति नहीं हुई। मानों मूर्तिकार ने उसे आज ही उद्‌घाटित किया हो।

गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी यह अनुपम मूति किस भाग्यवान् ने निर्माण कराई इसका विवरण श्रवणबेल्गोल के शिलालेख व भुजबलि-शतक, भुजबलि-चरित, गोम्मटेश्वर चरित, राजावलिकथा व स्थलपुराण नामक ग्रन्थों में पाया जाता है। आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दो पुत्र थे भरत और बाहुबली। भरत चक्रवर्ती राजा हुए और बाहुबली ने तपोरूपी साम्राज्य स्वीकार करके केवल ज्ञान प्राप्त किया। कहा जाता है भरतजी ने उनकी ५२५ धनुषप्रमाण मूर्ति स्थापित कराई थी। उसी का प्रशंसा सुन कर गंगनरेश राचमल्ल के मंत्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चामुण्डराय ने शक संवत् ९५१ के लगभग इस भव्य मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई जो गोम्मटेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके सैकड़ों वर्ष पश्चात् दक्षिण में गोम्मटेश्वर की और विशाल-काय मूर्तियां निर्माण हुईं। एक कारकल में सन् १४३२ में ४१½ फुट ऊँची और दूसरी वेणूर में सन् १६०४ ईस्वी में ३५ फुट ऊची। श्रवणबेल्गोल के गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के उल्लेख शक संवत् १३२० से लगाकर आधुनिक काल तक के मिलते हैं।

विन्ध्यगिरि पर अन्य दर्शनीय स्थान हैं सिद्धरबस्ति, अखण्ड बागिलु, सिद्धरगुण्डु, गुल्ल कायज्जि बागिलु, त्यागद ब्रह्मदेवस्तम्भ, चेन्नण्ण बस्ति, ओदेगल बस्ति, चौवीस तीर्थङ्कर बस्ति और ब्रह्मदेव मन्दिर।

चन्द्रगिरि (चिक्कबेट्ट) पर्वत की ऊँचाई समुद्रतल से ३,०५२ फुट है। प्राचीनतम लेखों में इसका नाम कटवप्र (संस्कृत) व कल्वप्पु (कन्नड) पाया जाता है। तीर्थगिरि और ऋषि-गिरि नाम से भी इस पर्वत की प्रसिद्धि रही है। यहां १४ मन्दिर (बस्ति) हैं—पार्श्वनाथ, कत्तले, चन्द्रगुप्त, शान्तिनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, चामुण्डराय, शासन, मज्जिगण्ण, एरडु-कट्टे, सवतिगंधवारण, तेरिन, शान्तीश्वर और इरुवे ब्रह्मदेव। इनमें से प्रथम १३ एक ही घेरे के भीतर हैं, केवल अन्तिम मन्दिर उससे बाहर है। यहां के अन्य दर्शनीय स्थान हैं—कूगे ब्रह्मदेव स्तम्भ, महानवमी मण्डप, भरतेश्वर मूर्ति, कञ्चिनदोण्णे कुंड, लक्किदोण्णे कुंड, भद्रबाहु की गुफा और चामुण्डराय की शिला।

विन्ध्यगिरि और चन्द्रगिरि के बीच बसे हुए नगर के मन्दिर इस प्रकार हैं—भण्डारि बस्ति, अक्कन बस्ति, सिद्धान्त बस्ति, दानशाले बस्ति, नगर जिनालय, मंगायि बस्ति, और जैनमठ। कहा जाता है कि पूर्वकाल में धवल, जयधवल आदि सिद्धान्तग्रन्थ यहीं रखे जाने के कारण पूर्वोक्त बस्ति का नाम सिद्धान्त बस्ति पड़ा तथा पीछे यहीं से वे ग्रन्थ मूड़बिद्री गये। इन मन्दिरों के अतिरिक्त नगर में दर्शनीय स्थान इस प्रकार हैं—कल्याणि सरोवर, जक्किकट्टे सरोवर और चेन्नण्ण कुंड।

श्रवणबेल्गोल का सब से बड़ा ऐतिहासिक माहात्म्य वहां के शिलालेखों में है। यहां कोई ५०० शिलालेख चट्टानों, स्तम्भों व मूतियों पर खुदे हुए पाये गये हैं, जिनमें जैन इति-हास से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक राजाओं और आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है। इनमें सबसे प्राचीन शिलालेख वह है जिसमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु की भविष्यवाणी तथा मुनिसंघ के उत्तरापथ से दक्षिणापथ की यात्रा का उल्लेख है। इसी लेख में जो प्रभाचन्द्राचाय का उल्लेख है उससे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का तात्पर्य समझा जाता है जो अनेक साहित्यिक उल्लेखों के अनुसार भद्रबाहु से दीक्षा लेकर जैन मुनि हो गये थे और जिन्होंने यहीं चन्द्रगिरि पर तपस्या करके समाधिमरण किया। इसी कारण इस पर्वत का नाम चन्द्रगिरि पड़ा। इस पर्वत पर भद्रबाहु नाम की गुफा भी है और उसमें चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न बतलाये जाते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और कहा जाता है कि यहीं चन्द्रगुप्त ने समाधिमरण किया था। अनेक शिलालेखों में भी भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त मुनि का उल्लेख आया है। साहित्य में भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की कथा को सविस्तर रूप से वर्णन करनेवाले ग्रन्थ हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष, रत्ननन्दिकृत भद्रबाहु-चरित, चिदानन्दकृत मुनिवंशाभ्युदय और देवचन्द्रकृत राजावलिकथे हैं। पश्चिमी विद्वानों में ल्यूमन, हानले, टामस व राइस साहब ने मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के जैनधर्मी होने की बात स्वीकार की है। स्मिथ साहब पहले इस मत के विरुद्ध थे; किन्तु अन्त में उन्हें भी कहना पड़ा कि "चन्द्रगुप्त मौर्य का घटनापूर्ण राज्यकाल किस प्रकार समाप्त हुआ इस पर ठीक प्रकाश एकमात्र जैन कथाओं से ही पड़ता है। जैनियों ने सदैव उक्त सम्राट् को बिम्बसार (श्रेणिक) के समान जैन धर्मावलम्बी माना है और उनके इस विश्वास को झूठ कहने के लिये कोई उपयुक्त कारण नहीं है।" जायसवाल महोदय लिखते हैं कि "प्राचीन जैन ग्रन्थ और शिलालेख चन्द्रगुप्त को जैनराजर्षि प्रमाणित करते हैं। मेरे अध्ययन ने मुझे जैन ग्रन्थों की ऐतिहासिक वार्ताओं का आदर करने को बाध्य किया है। कोई कारण नहीं है कि हम जैनियों के इस कथन को कि चन्द्रगुप्त अपने राज्य के अन्तिम भाग में राज्य को त्याग जिनदीक्षा ले मुनिवृत्ति से मरण को प्राप्त हुए, न मानें" इत्यादि। इस प्रकार अधिकांश विद्वानों का झुकाव अब चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की कथा के मूल अंश को स्वीकार करने की ओर है।

भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा का दक्षिण भारत और जैनधर्म के इतिहास पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। जैन मुनियों ने सर्वत्र विहार कर के जैनधर्म का खूब प्रचार किया। राजनीति और साहित्य दोनों पर इस प्रचार का भारी प्रभाव पड़ा। क्रमशः गंग, कदम्ब, रट्ट, पल्लव, सन्तार, चालुक्य, राष्ट्रकूट और कलचूरि राजवंशों में जैनधर्म की मान्यता के प्रचुर प्रमाण उपलभ्य है। धवल सिद्धान्त के मूलाधार ग्रन्थ षट्खण्डागम की रचना बनवास और तामिल देश में विक्रम की दूसरी शताब्दि में हुई थी। अनेक सर्वोपरि प्रमाण जैन ग्रन्थों के रचयिता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ने भी इसी भूभाग को अलंकृत किया था। समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र आदि दिगम्बर-समाज के प्रमुख आचार्यों की रचनाओं का इसी प्रदेश में अवतार हुआ था। तामिल भाषा के साहित्य को परिपुष्ट करने तथा कन्नड भाषा में साहित्य उत्पन्न करने का श्रेय जैन आचार्यों को ही है।

श्रवणबेलगोल इस सब सामाजिक और साहित्यिक प्रगति का केन्द्र था। धर्म को इसी विपुल और विशाल उन्नति को ही मानो मन्त्रिराज चामुण्डराय ने गोम्मटेश्वर की स्थापना-द्वारा मूर्तिमान् स्वरूप दे दिया है जिससे यहां चिरकाल तक धर्म प्रभावना होती रहे और यावच्चन्द्र-दिवाकरम् जैनधर्म की जयजयकार बोली जावे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणबेल्गोल एवं यहां की श्रीगोम्मट-मूर्ति

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

श्रीमान्नाभेयजातः प्रथममनसिजो नाभिराजस्य नप्ता
देहं संसारभोगं तृणमिव मुमुचे भारते संगरे यः।
कायोत्सर्गं वितन्वन् महदुरगलसद्गर्भवल्मीकजुष्टम्
सोऽयं विन्ध्याचलेशो स जयतु सुचिरं गोम्मटेशो जिनेशः॥

यों तो दक्षिण भारत में कोपण (कोप्पल) आदि जैनियों के और भी कई स्थान ऐसे हैं, जो कि ऐतिहासिक, धार्मिक एवं कलाकौशलआदि की दृष्टि से कम महत्त्व के नहीं हैं। फिर भी इन सबों में श्रवणबेलगोल को प्रथम स्थान दिया जाना सर्वथा समुचित ही है। यहाँ के विशाल और चित्ताकर्षक देवालयों, अतिप्राचीन गुफाओं, अनुपम मनोज्ञ मूर्तियों तथा सैकड़ों शिलालेखों में आर्यजाति और विशेषतया जैनजाति की लगभग पच्चीस सौ वर्ष की सभ्यता का जीता-जागता इतिवृत्त सुरक्षित है। यहाँ का भू-भाग अनेक प्रातःस्मरणीय मुनि-अर्जिकाओं की दिव्य तपस्या से पुनीत, बहुत से धर्मनिष्ठ श्रावक-श्राविकाओं के समाधि-मरण से पवित्र, असंख्य श्रद्धालु यात्रियों के भक्तिगान से मुखरित और अनेक नरेशों एवं सम्राटों की वदान्यता से विभूषित है। यहाँ की धार्मिकता इस क्षेत्र के नाम में ही छिपी हुई है। क्योंकि श्रवण (श्रमण) बेल्गोल इस शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ जैनमुनियों का श्वेतसरोवर होता है। सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन शिलालेखों में भी इस स्थान के नाम श्वेतसरोवर, धवलसरोवर तथा धवलसर पाये जाते हैं। हाँ, गोम्मट-मूर्ति के कारण इसका नाम गोम्मट-पुर भी है।

श्रवणबेलगोल यह ग्राम मैसूर राज्य में हासन जिला में चेन्नराय पट्टण तालुक में दो सुन्दर पर्वतों के बीच बसा हुआ है। इनमें बड़ा पर्वत (दोड्डबेट्ट) जो ग्राम से दक्षिण की ओर है 'विन्ध्यगिरि' कहलाता है। इस पर गोम्मटेश्वर की वह विशाल लोकविश्रुत मूर्ति स्थापित है जो मीलों की दूरी से दर्शकों की दृष्टि इस पवित्र तीर्थ की ओर आकृष्ट करती रहती है। इस मूर्ति के अतिरिक्त पर्वत पर कुछ जैन मन्दिर भी विद्यमान हैं। दूसरा छोटा पर्वत (चिक्कबेट्ट) जो ग्राम से उत्तर की ओर है 'चन्द्रगिरि' के नाम से प्रसिद्ध है। अधिकांश एवं प्राचीनतम लेख और मन्दिर इसी पर्वत पर हैं। कुछ मन्दिर, लेख आदि ग्राम की सीमा के भीतर है और शेष इसके आसपास के ग्रामों में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बात को मैं भी मानता हूं कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त की दक्षिण-यात्रा के पूर्व भी दक्षिण भारत में जैनधर्म मौजूद था। अन्यथा श्रुतकेवली जी को इतने विशाल जैनसंघ को यहाँ पर ले जाने का साहस नहीं होता। इस बात की पुष्टि सिंहलीय 'महावंश' नामक सुप्राचीन बौद्धग्रन्थ से भी होती है। परन्तु उस समय का इतिहास अभी अन्धकार में छिपा हुआ है। इसलिये एक प्रकार से दक्षिण भारत के जैनइतिहास का सूत्रपात यहीं से माना जाता है। बल्कि आज भी अधिकांश विद्वानों का खयाल है कि भद्रबाहु-चन्द्रगुप्त की यात्रा के उपरान्त ही दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रसार हुआ। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि उपर्युक्त यात्रा के पश्चात् ही यहाँ पर जैनधर्म को सार्वभौम एवं सर्व-व्यापक होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उत्तर भारत से गये हुए विद्वान् जैनमुनियों ने प्रत्येक प्रान्त में जा-जाकर अपने धर्म, साहित्य एवं संस्कृति का इतना प्रचार किया कि अन्य धर्माव-लम्बियों को भी उनका लोहा मानना पड़ा। बाहर से जाकर उन प्रान्तों की भिन्न-भिन्न भाषाओं को जानकर उनमें सर्वोच्च प्राचीनतम साहित्य की सृष्टि कर उसी के द्वारा अपने धर्म का द्रुतगति से प्रचार करना कोई साधारण बात नहीं है।

जैनधर्म के उस सुवर्ण-युग में प्रचुर संख्या में हिन्दूधर्म के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जैसे उच्चवर्ण के लोग सहर्ष जैन धर्म में दीक्षित हुए। यह दीक्षा-द्वार दीर्घकाल तक उन्मुक्त रहा। यहाँ के अनेक जैनपरिवारों में अबतक इन्हीं अपने प्राचीन भारद्वाज, आत्रेय, गर्ग आदि हिन्दुत्व-सूचक गोत्रसूत्रादि का प्रचलन ही इस बात के लिये एक ज्वलन्त दृष्टान्त है। इतना ही नहीं समन्तभद्र जैसे जैनधर्म के स्तम्भस्वरूप सुप्राचीन आचार्यों ने जिन कतिपय क्रियाओं को लोकमूढ, देवमूढ आदि विशेषणों से पूर्व में घोषित किया था ऐसी कई क्रियायें—जो जैनमूल-सिद्धान्त के विरुद्ध हैं—इन्हीं नवदीक्षित हिन्दुओं से जैनधर्म में प्रविष्ट हुईं। बल्कि लगभग ७ वीं—८ वीं शताब्दी से कुछ ऐसी क्रियायें जैनकर्मकाण्ड आदि ग्रंथों में भी स्थान पा गयीं। ये सब बातें सर्वप्रथम भगवज्जिनसेनाचार्य-कृत महापुराण में ही हमें दृष्टिगोचर होती हैं। इसके लिये कतिपय श्रद्धेय आचार्यों को दोषी ठहराना एकान्त भूल है। क्योंकि वह ऐसा ही एक जमाना था कि आपद्धर्म-रूप में इन चीजों को यदि वे नहीं अपनाते तो दक्षिण-भारत में जैनधर्म का सार्वत्रिक प्रचार एवं रक्षा असाध्य सी हो जाती। क्योंकि इस समय शंकराचार्य, मध्वाचार्य आदि हिन्दू-धर्माचार्य जैनधर्म के विरुद्ध खुले आम हो गये थे और पूर्वोक्त आचरणों के अभाव में जैनियों को नास्तिक कहते हुए जनता को भड़का कर उलटा लाभ उठाना चाहते थे। इससे जैनधर्म के प्रचार में ही रोड़ा नहीं अटका, बल्कि जिस प्रबल राजाश्रय के द्वारा दक्षिण में जैनधर्म फल-फूल रहा था उससे भी इसे हाथ धोने का मौका आ गया था। ऐसी दशा में कुछ नूतन आचार-विचारों का अपने धर्मग्रंथों में प्रश्रय देकर हमारे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्वजों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। यों तो कोई भी धर्म देशकालादि के वायुमण्डल से बचकर यथावत् विशुद्ध नहीं रह सका है। प्रत्येक धर्म में दूसरे धर्म की कुछ न कुछ छाप है अवश्य। हिन्दूधर्म पर भी अहिंसाधर्म का प्रभाव आदि जैनधर्म की देन लोकमान्य तिलक जैसे प्रगाढ़ हिन्दू विद्वानों ने मुक्तकंठ से स्वीकार की है। अपने सम्यक्त्व को किसी प्रकार से दूषित नहीं करने वाले आचरणों को अपनाना अनुचित नहीं है* यों घोषित करते हुए आचार्यों ने उक्त क्रियाओं को अपने सिद्धान्तानुकूल बनाने की काफी चेष्टा की है और उसमें सफल भी हुए हैं। खैर, मैं पाठकों को विषयान्तर में ले जाना नहीं चाहता।

यद्यपि श्रवणबेल्गोल के लेखों का मूल प्रयोजन धार्मिक है, फिर भी ये इतिहास-निर्माण के लिये भी कम महत्त्व की चीज नहीं हैं। यहाँ के संगृहीत लेखों में लग-भग एक सौ लेख मुनियों, अर्जिकाओं, श्रावक एवं श्राविकाओं के समाधिमरण के स्मारक हैं; लगभग एक सौ मन्दिर-निर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, दानशिला, वाचनालय, मन्दिरों के दरवाजे, परकोट, सीढ़ियाँ, रंगशालायें, तालाब, कुण्ड, उद्यान एवं जीर्णोद्धारादि कार्यों के यादगार हैं; अन्य एक सौ के लग-भग मन्दिरों के खर्च, जीर्णोद्धार, पूजा, अभिषेक और आहारदान आदि के लिये ग्राम, भूमि तथा रकम के दान के स्मृति-रूप में हैं; लगभग एक सौ साठ संघों और यात्रियों की तीर्थयात्रा के स्मरण-चिह्न हैं; शेष चालीस लेख ऐसे हैं जो या तो किसी आचार्य, श्रावक या योद्धा के प्रशंसा-परक हैं। इसी से पाठक समझ सकते हैं कि इतिहास और इन लेखों में कितना निकट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है। बल्कि जैनइतिहास की अनेक जटिल गुत्थियाँ यहीं के लेखों से सुलझ पायी हैं। गंग, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, विजयनगर, मैसूर, कदम्ब, नोलम्ब, पल्लव, चोल, कोंगाल्व, चंगाल्व आदि बड़े से बड़े और छोटे से छोटे राज-वंश से श्रवणबेल्गोल का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। इन सम्बन्धों का विस्तृत विवरण यहाँ के अन्यान्य लेखों में स्पष्ट अंकित है। इसी प्रकार श्रवण-बेल्गोल के लेखों में उत्कीर्ण आचार्य-परम्परा भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें भिन्न-भिन्न संघ के अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध दिगम्बराचार्य आ गये हैं। यह है भी स्वाभाविक। क्योंकि भूतबलि, पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क, विद्यानन्दी, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, महावीराचार्य, पुष्पदन्त (अन्य), नेमिचन्द्र, वादीभसिंह आदि दिगम्बर-सम्प्रदाय के जितने प्रधान-प्रधान आचार्य हुए हैं, वे सब प्रायः कर्णाटक या तमिलुदेश के निवासी थे। बल्कि अन्तिम तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी की द्वादशाङ्गवाणी का अवशिष्टरूप, धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थों का मूलाधार षट्खण्डागम की रचना भी विक्रमीय द्वितीय शताब्दी में बनवासि (कर्णाटक)

* "सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न न यत्र व्रतदूषणम्॥" (आचार्य सोमदेव)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं तमिलु देश में हुई थी। खासकर दिगम्बर-सम्प्रदाय के साहित्य-भाण्डागार को भरने का सुयश दाक्षिणात्य दिगम्बराचार्यों को ही प्राप्त है। उस जमाने में सबों का केन्द्र यही श्रवण बेलगोल रहा है।

अब उपर्युक्त विन्ध्यगिरि में विराजमान श्रीगोम्मट या गोम्मटेश्वर-प्रतिमा को लीजिये यह दिगम्बर, उत्तराभिमुख, खड्गासन मूर्ति अखिल विश्व में एक कौतूहलोत्पादक वस्तु है सिर के बाल घुंघराले, कान बड़े और लंबे, छाती चौड़ी, लम्बी बाहु नीचे को लटकती हुई और कमर कुछ पतली है। मुख पर अलौकिक कान्ति एवं शान्ति का साम्राज्य है। घुटनों से कुछ ऊपर तक भामियाँ दिखाई दे रही हैं, जिनसे सर्प निकलते दृष्टिगोचर होते हैं। दोनों पैरों और बाहुओं से माधवीलता लिपटी हुई है।* फिर भी मुख पर ध्यान-मुद्रा की स्थिरता दर्शनीय है। प्रतिमा क्या है, मानो तपस्या का जीता-जागता एक अनूठा निदर्शन है। दृश्य बड़ा ही हृदयग्राही है। सचमुच शिल्पी ने अपने इस अपूर्व प्रयत्न में अभूतपूर्व एवं आशातीत सफलता पायी है। बड़े-बड़े पाश्चात्य विद्वानों का मस्तिष्क भी इस मूर्त्ति-निर्माण-कला को देख कर चकरा गया है। स्थापत्य-कला के मर्मज्ञों का कहना है कि संसार में मिश्र मूर्तिकला के लिये पथप्रदर्शक माना गया है; फिर भी इस मूर्ति की कला के सामने वह नतमस्तक है। इतने लम्बे-चौड़े और गुरुतर पाषाण पर सिद्धहस्त शिल्पी ने जिस नैपुण्य से अपनी छेनी चलाई हैं, उससे भारतीय मूर्तिकारों का मस्तक हमेशः गर्व से ऊँचा रहेगा। वास्तव में यह जैनियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत समस्त आर्यजाति के लिये एक अपूर्व गौरव की वस्तु है। बल्कि जिस मैसूर राज्य में यह अनुपम मूर्ति विराजमान है उसके लिये एकमात्र अभिमान-कारक बहुमूल्य रत्न है।

५७ फुट की मूर्ति खोद निकालने योग्य पाषाण कहीं और जगह से लाकर इतने ऊँचे पर्वत पर प्रतिष्ठित किया गया होगा, यह सम्भवपरक नहीं ज्ञात होता। बल्कि यह अनुमान करना सर्वथा समुचित जान पड़ता है कि इसी पहाड़ पर प्रकृति-प्रदत्त स्तम्भाकार चट्टान को काट कर ही यह मूर्ति बनायी गयी है। मगर सोचिये, सीधे खड़े एक कठिनतम वृहदाकार चट्टान को चारो ओर से काटते हुए इसी खड़ी दशा में शास्त्रोक्त प्रमाण से नाप-जोख कर

*—स शंसितव्रतो नाश्वान् वनवल्लीततान्तिकः।
वल्मीकरन्ध्रनिस्सर्पत्सर्पैरासीद्भयानकः ॥१०७॥
दधानः स्कन्धपर्यन्तलम्बिनीः केशवल्लरीः।
सोऽन्वगादूढकृष्णाहिमण्डलं हरिचन्दनम् ॥१०९॥
माधवीलतया गाढमुपगूढः प्रफुल्लया।
शाखाबाहुभिरावेष्ट्य सध्रीच्येव सहासया ॥११०॥ —(आदिपुराण, पर्व ३६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतनी सुन्दर विशालकाय प्रतिमा का निर्माण करना बड़े ही साहस का काम है। इस कठिनाई का अनुभव केवल एक भुक्तभोगी कुशल मूर्त्ति-निर्माता ही कर सकता है—सब कोई नहीं। आरा में अभी थोड़े ही रोज हुए इन्हीं गोम्मटेश्वर की लगभग १५ फुट की श्वेत-शिला की मूर्ति जो जयपुर से बन कर आई है, इसी की कठिनाई का इतिहास सुन कर बहुत से पाठक आश्चर्यित हुए विना नहीं रहेंगे। श्रवणबेल्गोल की यह मूर्ति लगभग एक हजार वर्ष से धूप, हवा और पानी आदि का सामना करती हुई अक्षुण्ण रह मालूम पड़ती है मानों अमर शिल्पी के द्वारा आज ही उत्कीर्ण की गयी है। इस मूर्ति के दोनों बाजुओं पर यक्ष और यक्षी की मूर्त्तियाँ हैं, जिनके एक हाथ में चमर दूसरे में कोई फल है। यह मूर्त्तियाँ भी कला की दृष्टि से बहुत ही सुन्दर हैं। मूर्ति के सम्मुख का मण्डप नव सुन्दर रचित छतों से सजा हुआ है। आठ छतों पर अष्टदिक्पालों की मूर्त्तियाँ हैं और नवी छत पर गोम्मटेश के अभिषेक के लिये हाथ में कलश लिये हुए इन्द्र की मूर्त्ति। ये छतें बड़ी कारीगरी की बनी हुई हैं। गोम्मटेश्वर-मूर्त्ति की निश्चित प्रतिष्ठा-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भेद है। इसी किरण में अन्यत्र प्रकाशित कुछ लेखों में कतिपय विद्वानों ने इस पर प्रकाश डाला भी है। सुहृद्वर श्रीयुत गोविन्द पै मंजेश्वर का मत है कि इस प्रतिमा की प्रतिष्ठा ईस्वी सन् ९७८ और ९८६ के बीच में ९८१ के मार्च की १३ तारीख रविवार को हुई होगी।

अब विचार करना है कि गोम्मट स्वामी कौन थे और उनकी मूर्त्ति यहाँ किसके द्वारा, किस प्रकार प्रतिष्ठित की गयी। इसका कुछ विवरण लेख नं० ८५ (२३४) में पाया जाता है। यह लेख एक छोटा सा सुन्दर कन्नड काव्य है जो सन् ११८० ई० के लगभग बोप्पण कवि के द्वारा रचा गया था। इसके वर्णनानुसार गोम्मट पुरुदेव अपर नाम ऋषभदेव[1] प्रथम तीर्थङ्कर के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबली या भुजबली भी था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षित होने के पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भ्राताओं में साम्राज्य के लिये युद्ध हुआ, जिसमें बाहुबली की विजय हुई, पर संसार की वासना से विरक्त हो उन्होंने साम्राज्य को अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को सौंप दिया और आप तपस्या करने वन में चले गये। थोड़े ही काल में घोर तपस्या के द्वारा उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया। भरत ने, जो अब चक्रवर्त्ती हो गये थे, पोदनपुर[2] में स्मृति-स्वरूप उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष प्रमाण की एक

१—ऋषभदेव का वर्णन भागवतपुराण, पञ्चम स्कन्ध, अध्याय ३—७ में भी विस्तारपूर्वक मिलता है।

२—जैनपुराणों में पोदन, पौदन एवं पौदन्य—बौद्धग्रन्थों में दक्षिणापथस्थ अश्मकदेश की राजधानी पौतन या पोतलि—भागवतपुराण में इक्ष्वाकुवंशीय अश्मक की राजधानी पौदन्य नाम से विख्यात यह नगर मित्रवर श्रीयुत बा० कामताप्रसादजी के मत से विन्ध्य के उत्तरवर्त्ती तक्षशिला एवं श्रीयुत सुहृद्वर गोविन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिमा स्थापित कराई। समयानुसार मूर्ति के आस-पास का प्रदेश कुक्कुटसर्पों [१] से व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्त्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन केवल मुनियों को ही मन्त्र-शक्ति से प्राप्य हो गये। गंगनरेश राचमल्ल के मन्त्री चावुण्डराय ने इस मूर्त्ति का वर्णन सुना और उन्हें उसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई। पर पौदनपुर की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान एक सौम्य मूर्त्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्त्ति का निर्माण कराया। यही वर्णन थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ भुजबलिशतक, भुजबलिचरित, गोम्मटेश्वरचरित, राजावलिकथे और स्थल-पुराण में भी पाया जाता है। एक बात है, जिनसेन (ई० सन् ८३८) के आदिपुराण, पंप (ई० सन् ९४२) के कन्नड आदिपुराण, चावुण्डराय (ई० सन् ९७८) के चावुण्डरायपुराण, रत्नाकरसिद्ध (ई० सन् १५५७ लगभग) के भरतेश्वरवैभव आदि में भी बाहुबलि-सम्बन्धी कथा मिलती है अवश्य; पर यहाँ भरतचक्रवर्ती की कथा के सामने इनकी कथा गौण हो गई है। इन सबों में इनके वर्णन के विषय में तो उपर्युक्त बोप्पण पण्डित का छोटा सा काव्य ही उल्लेखनीय है।

अब देखना है कि गोम्मट शब्द का क्या अर्थ है और श्रवणबेल्गोल में स्थापित बाहुबली की विशाल मूर्ति गोम्मट नाम से क्यों प्रख्यात हुई। कात्यायन की 'प्राकृतमञ्जरी' के "न्मो मः" (३।४२) इस सूत्र के अनुसार संस्कृत का 'मन्मथ' शब्द प्राकृत में 'गम्मह' हो जाता है। उधर कन्नड भाषा में संस्कृत का 'ग्रन्थि' शब्द 'गन्टि' और 'पथ' शब्द 'बट्टे' आदि में परिवर्तित हो जाते हैं। अत एव संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का 'ह' उच्चारण जो उसे प्राकृतरूप में नसीब होता है, वह कन्नड में नहीं रहेगा। बल्कि वह 'ट' में बदल जायगा। इस प्रकार संस्कृत 'मन्मथ' प्राकृत 'गम्मह' का कन्नड तद्भवरूप 'गम्मट' हो जायगा। और उसी 'गम्मट' का 'गोम्मट' रूप हो गया है। क्योंकि बोलचाल की कन्नड में 'अ' स्वर का उच्चारण धीमे 'ओ' की ध्वनि में होता है। जैसे—'मगु'='मोगु'; 'सप्पु' = 'सोप्पु' इत्यादि। उधर कोंकणी और

पै की राय में वर्तमान निजाम-सरकार के निजामाबाद जिलान्तर्गत बोधन-नामक एक छोटा सा ग्राम है। (देखें—क्रमशः जैन एण्टिक्वेरी, भाग ३, किरण ३ तथा 'कंठीरव' के सन् १९३८ का दसहरा विशेषांक, पृ० ५२-५३)

अगर निजामराज्यान्तर्गत 'बोधन' ही प्राचीन पौदनपुर होता तो क्या आचार्य नेमिचन्द्र जैसे विद्वान् भी इतने निकटवर्ती स्थान से अपरिचित होते; क्योंकि इन्होंने अपने गोम्मटसार (कर्मकाण्ड गाथा सं० ९६८) में इस मूर्त्ति को 'दक्खिणकुक्कडजिणो' स्पष्ट लिखा है। अन्यान्य विद्वानों की कृतियों में भी इसका समर्थन दृष्टिगोचर होता है। इससे मालूम होता है कि 'उत्तरकुक्कटजिन' भी कोई अवश्य थे। श्रीयुत गोविन्द पै इसकी ओर अवश्य ध्यान दें।

१—कुक्कुटसर्प कैसे होते थे इस बात को जानने के लिये कारकल के चतुर्मुख-बसदि (मन्दिर) की दीवाल में उत्कीर्ण उनके चित्रों को या श्रवणबेल्गोल के शासन-संग्रह में दिये हुए २६ वें चित्र को देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मराठी भाषाओं का उद्गम क्रमशः अर्द्ध मागधी और महाराष्ट्री प्राकृत से हुआ प्रकट है और यह भी विदित है कि मराठी, कोङ्कणी एवं कन्नड भाषाओं का शब्द-विनिमय पहले बराबर होता रहा है। क्योंकि इन भाषा-भाषी देश के लोगों का पारस्परिक विशेष सम्बन्ध था। अब कोङ्कणी भाषा में एक शब्द 'गोमटो' या 'गोम्मटो' मिलता है और यह संस्कृत के 'मन्मथ' शब्द का ही रूपान्तर है। यह अद्यापि 'सुन्दर' अर्थ में ही व्यवहृत है। कोङ्कणी भाषा का यह शब्द मराठी भाषा में पहुंच कर कन्नड भाषा में प्रवेश कर गया हो—कोई आश्चर्य नहीं। कुछ भी हो, यह स्पष्ट है कि गोम्मट संस्कृत के मन्मथ शब्द का तद्भवरूप है और यह कामदेव का द्योतक है।

श्रीयुत प्रो० के० जी० कुन्दनगार एम० ए० आदि एक दो विद्वान् इससे सहमत नहीं हैं। बल्कि कुन्दनगारजी का 'कर्णाटक-साहित्य-परिषत्पत्रिका भाग XXIII, पृष्ठ ३०४—३०५ में इसके सम्बन्ध में एक लेख प्रकाशित भी हो चुका हैं। पर श्रीयुत गोविन्द पै अपने इसी मत को इसी किरण में अन्यत्र प्रकाशित अपने अंग्रेजी लेख में समर्थन करते हैं। श्रीयुत मित्रवर ए० एन० उपाध्ये और श्रीयुत के० जी० कुन्दनगार आदि विद्वानों को इस पर सप्रमाण विशेष प्रकाश डालना चाहिये।

अब प्रश्न हो सकता है कि बाहुबली की विशाल मूर्त्ति मन्मथ या कामदेव क्यों कहलायी। जैनधर्मानुसार बाहुबली इस युग के प्रथम कामदेव माने गये हैं। इसी लिये श्रवणबेल्गोल में या अन्यत्र स्थापित उनकी विशाल मूर्त्तियां उसके (मन्मथ के) तद्भवरूप 'गोम्मट' नाम से प्रख्यात हुई। बल्कि बाद मूर्तिस्थापना के इस पुण्यकार्य की पवित्र स्मृति को जीवित रखने के लिये आचार्य श्रीनेमिचन्द्रजी ने इस मूर्त्ति के संस्थापक चावुण्डराय का उल्लेख 'गोम्मटराय' के नाम से ही किया और इस नामको प्रख्याति देने के लिये ही चावुण्डराय के लिये रचे गये अपने 'पञ्चसंग्रह' ग्रंथ का नाम उन्होंने 'गोम्मटसार' रख दिया।*

जैनियों में बाहुबली की मूर्त्ति की उपासना कैसे प्रचलित हुई यह भी एक प्रश्न उठ खड़ा होता है। इसका प्रथम एवं प्रधान कारण यह है कि इस अवसर्पिणी-काल में सब से प्रथम अर्थात् अपने श्रद्धेय पिता आदि तीर्थङ्कर वृषभ स्वामी से भी पहले मोक्ष जाने वाले क्षत्रिय वीर बाहुबली ही थे। मालूम होता है कि इस युग के आदि में सर्व-प्रथम मुक्ति-पथ-प्रदर्शक के नाते आपकी पूजा, प्रतिष्ठा आदि जैनियों में सर्वमान्य-रूप से प्रचलित हुई। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि बाहुबली के अपूर्व त्याग, अलौकिक आत्मनिग्रह और नैजबन्धुप्रेम आदि असाधारण एवं अमानुषिक गुणों ने सर्वप्रथम अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को इन्हें पूजने को बाध्य किया होगा, बाद भरत का ही अनुकरण औरों ने भी।

* विशेष जिज्ञासु भास्कर भाग ४, किरण २ में प्रकाशित श्रीयुत गोविन्द पै का "श्रीबाहुबली की मूर्त्ति गोम्मट क्यों कहलाती है?" शीर्षक लेख देखें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब देखना है कि उत्तर भारत की अपेक्षा दक्षिण भारत में बाहुबलीजी की प्रतिमा का विशेष प्रचार क्यों हुआ ? संसार का यह अटल नियम है कि जो जिस विषय में अपने को निष्णात बनाना चाहता है, वह उस विषय के विशेषज्ञ को ढूंढ़ता है। जैसे—धनुर्विद्या सीखने वाला एक योग्य धनुर्धर को एवं आयुर्वेद सीखनेवाला एक सुयोग्य आयुर्वेदज्ञ को। इस नियमानुसार क्षत्रिय वीरों के लिये संसार-विजयी, प्रथम कामदेव, महाबाहु बाहुबली को छोड़ कर दूसरा कोई आदर्श व्यक्ति नहीं मिल सकता था। यही कारण है कि चावुण्डराय जैसे वीर-मार्तण्ड ने इन्हीं को अपना आदर्श मान लिया। कार्कल एवं वेणूर के शासक वीर क्षत्रियों ने भी पीछे इन्हीं चावुण्डराय का अनुकरण किया है। वास्तव में वीर क्षत्रियों के लिये बाहुबली को छोड़कर इह-पर दोनों के सर्वयोग्य पथ-प्रदर्शक दूसरा कोई नहीं मिल सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणबेल्गोल !

[रचयिता—श्रीयुत कल्याणकुमार जैन, 'शशि']

तुम प्राचीन कलाओं का आदर्श विमल दरशाते
भारत के ध्रुव गौरव-गढ़ पर जैन-केतु फहराते
कला-विश्व के सुप्त प्राण पर अमृत-रस बरसाते
निधियों के हत साहस में नवनिधि-सौरभ सरसाते
आओ इस आदर्श कीर्ति के दर्शन कर हरषाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(२)

शुभस्मरण कर तीर्थराज हे शुभ्र अतीत तुम्हारा
फूल-फूल उठता है अन्तस्तल स्वयमेव हमारा
सुरसरि-सदृश बहा दी तुमने पावन गौरव-धारा
तीर्थक्षेत्र जग में तुम हो देदीप्यमान ध्रुवतारा
खिले पुष्प की तरह विश्व में नवसुगन्ध महकाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(३)

दिव्य विंध्यागिरि भव्य चन्द्रगिरि की शोभा है न्यारी
पुलकित हृदय नाच उठता है हो बरबस आभारी
श्रुत-केवली सुभद्रबाहु सम्राट् महा यश-धारी
तप-तप घोर समाधिमरण कर यहीं कीर्ति विस्तारी
उठो पूर्वजों की गाथाएं जग का मान बढ़ाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४)

सांत-आठ सौ शिला लेख का है तुममें दुर्लभ धन
श्रावक-राजा-सेनानी श्राविका-आर्यिका मुनिजन
धीर-वीर-गम्भीर कथाएं धर्म-कार्य सञ्चालन
उक्त शिलालेखों में है इनका सुन्दरतम वर्णन
दर्शन कर इस पुण्य क्षेत्र का जीवन सफल बनाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(५)

पंशु-रक्षा पर प्राण दिये जिन लोगों ने हँस हँस कर
वीर-बधू सायिर्बे* लड़ी पति-सँग समर के स्थल पर
चन्द्रगुप्त सम्राट् मौर्य का जीवन अति-उज्ज्वलतर
चित्रित है इसमें इन सब का स्मृति-पट महामनोहर
आ-आ एक बार तुम भी इसके दर्शन कर जाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(६)

मन्दिर अति-प्राचीन कलामय यहाँ अनेक सुहाते
दुर्लभ मानस्तम्भ मनोहर अनुपम छवि दिखलाते
यहाँ अनेकानेक विदेशी दर्शनार्थ हैं आते
यह विचित्र निर्माण देख आश्चर्य-चकित रह जाते
अपनी निरुपम कला देखने देशवासियों ! आओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(७)

प्रतिमा गोम्मटदेव बाहुबलि की अति-गौरवशाली
देखो कितनी आकर्षक है चित्त-लुभानेवाली

* इनका प्रकृत नाम सावियब्बे है। —के० बी० शास्त्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ा रही शोभा शरीर पर चढ़ लतिका शुभशाली
मानों दिव्य कलाओं ने अपने हाथों ही ढाली
इस उन्नति के मूल केन्द्र में जीवन ज्योति जगाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(८)

ऊँचे सत्तावन सुफीट पर नभ से शीस लगाए
शोभा देती जैनधर्म का उज्ज्वल यश दरशाए
जिसने कौशल-कला-कलाविद के सम्मान बढाए
देख-देख हैदर-टीपू-सुल्तान जिसे चकराए
आओ इसका गौरव लख अपना सम्मान बढ़ाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में यश पाओ ॥

(९)

गंग-वंश के राचमल्ल नृप विश्व-कीर्ति-व्यापक हैं
नृप-मन्त्री चामुण्डरायजी जिसके संस्थापक हैं
जो निर्माण हुआ नौसे नब्बे* में यशवर्द्धक है
राज्य-वंश मैसूर आजकल जिसका संरक्षक है
उसकी देख-रेख रक्षा में अपना योग लगाओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

(१०)

कहे लेखनी पुण्य-तीर्थ क्या गौरव-कथा तुम्हारी
विस्तृत कीर्ति-सिन्धु तरने में है असमर्थ विचारी
नत मस्तक अन्तस्तल तन-मन-धन तुम पर बलिहारी
शत-शत नमस्कार तुम को हे नमस्कार अधिकारी
फिर सम्पूर्ण विश्व में अपनी विजय-ध्वजा फहराओ
वन्दनीय हे जैनतीर्थ तुम युग-युग में जय पाओ ॥

* मूर्ति-स्थापना-काल अभी ठीक निश्चित नहीं हो पाया है।

—के० बी० शास्त्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद

[लेखक—श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री]

अष्टाध्यायीसूत्र के प्रणेता प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि और उनके भाष्यकार पतञ्जलि को इतिहासकारों ने ईस्वी सन् से पहले का विद्वान् सिद्ध किया है। किन्तु शोलापुर से प्रकाशित सर्वार्थसिद्धि-नामक ग्रन्थ की तथोक्त महत्वपूर्ण प्रस्तावना में जैनसमाज के उदीयमान विद्वान् श्रीगौतमचन्द्र मोतीचन्द्र कोठारी एम० ए० ने उन्हें आद्य जैनव्याकरण के प्रणेता आचार्य पूज्यपाद (ईसा की ५वीं शताब्दी) का समकालीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। कोठारी जी का उक्त प्रयास यदि किन्हीं ठोस प्रमाणों के आधार पर अवलम्बित होता तो सचमुच जैनसमाज के लिये यह गर्व की बात होती। किन्तु मुझे दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उन्होंने लिखते समय कदाचित् यह सोचा ही नहीं कि यह कार्य कितना गुरुतर है। उनकी भूमिका के ऐतिहासिक अंश को पढ़ कर मुझे तो यही प्रतीत हुआ कि वह इतिहासज्ञों के लिये नहीं लिखा गया और न ऐतिहासिक दृष्टिकोण से ही लिखा गया है। उसके लिखने में साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से ही काम लिया गया है और संभवतः वह उसी तरह के लोगों के लिये लिखा भी गया है। लेख का कोई-कोई मुद्दा (युक्ति) विचारणीय भी है, किन्तु लेखक ने इतने उतावलेपन से अपनी लेखनी को चलाया है कि उन्होंने अपने किसी भी तर्क को डटकर प्रमाणित नहीं किया है। उन्हें सोचना चाहिये था कि जिन ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में वे लेखनी चला रहे हैं उनके बारे में देशीय और विदेशीय लेखकों ने ज़रूरत से ज्यादा लिखा है और आज तक के सभी इतिहासज्ञ उन्हें ईस्वी सन् से पहले का विद्वान् मानने में एकमत हैं। अतः उनके बारे में जो कुछ लिखा जाना चाहिये वह खूब सोच-समझ कर लिखा जाना चाहिये, जिससे अन्य इतिहासज्ञ उस पर विचार कर सकें और लेखक को उनके हास्य का पात्र न बनना पड़े। किन्तु लेखक ने उस ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया जान पड़ता। उनके लेख को पढ़ने से ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने जो कुछ लिखा उसे स्वयं सिद्ध समझ लिया। अस्तु, मेरा लिखना कहां तक ठीक है यह आगे की आलोचना से स्वयं ज्ञात हो जायगा।

पूज्यपाद के नाम

नन्दिसंघ की पट्टावली में एक श्लोक निम्न प्रकार है—

"यशःकीतिर्यशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।
श्रीपूज्यपादापराख्यः गुणनन्दी गुणाकरः॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस श्लोक में जितने नाम आये हैं, कोठारी जी उन्हें पूज्यपाद के नामान्तर बतलाते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है। इसके लिये हमें पट्टावली[1] का इससे पूर्व का श्लोक देखना चाहिये, जो निम्न प्रकार है---

"ततः पट्टद्वयी जाता प्राच्युदीच्युपलक्षणात्।
तेषां यतीश्वराणां स्युर्नामानीमानि तत्त्वतः॥"

इस श्लोक में बतलाया है कि—'उसके बाद दो पट्ट हो गये एक पूर्वीय पट्ट और दूसरा उत्तरीय। उन पट्टों में जो मुनीश्वर हुए उनके वास्तविक नाम निम्न प्रकार हैं।'

इस श्लोक के साथ उक्त श्लोक को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त श्लोक में जो यशःकीर्ति, यशोनन्दी, द्वितीय नाम पूज्यपाद के धारक महामति देवनन्दी और गुणों के आकर गुणनन्दी का नाम आया है; ये सब नाम एक ही आचार्य के नहीं हैं, किन्तु पट्ट पर होने वाले विविध आचार्यों के नाम हैं। जो दो नाम एक ही आचार्य के थे, उन्हें पट्टावलीकार ने 'श्रीपूज्यपादापराख्यः' लिख कर स्वयं स्पष्ट कर दिया है। अन्य उपलब्ध प्रमाणों से भी पूज्यपाद के देवनन्दी और जिनेन्द्रबुद्धि ये दो ही नाम उपलब्ध होते हैं, यशःकीर्ति आदि नामों का समर्थन अन्य किसी भी प्रमाण से नहीं होता। 'गुणनन्दी' नाम के समर्थन में कोठारी जी ने शब्दार्णवचन्द्रिका का जो 'श्रीपूज्यपादममलं गुणनन्दिदेवम्' इत्यादि श्लोक दिया है, उसका आशय समझने में भी उन्हें भ्रम हुआ है। इस श्लोक में ग्रन्थकार ने भगवान् महावीर के विशेषणरूप से क्रम से पूज्यपाद का, गुणनन्दी का और अपना निर्देश किया है। यह गुणनन्दी एक पृथक् आचार्य हुए हैं, जिन्होंने पूज्यपाद के सूत्रपाठ[2] को संशोधित और परिवर्धित कर के वह सूत्रपाठ तैयार

---

१ 'भास्कर' भाग १, किरण ४ में नन्दिसंघ की पट्टावली २६ वें श्लोक से दी है और लिखा है कि इस पट्टावली के प्रारम्भ के २५ श्लोक श्रीशुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली के प्रारम्भिक २५ श्लोकों के ही समान हैं। अतः यह श्लोक यहां शुभचन्द्राचार्य की गुर्वावली से दिया गया है। उसमें भी इसके बाद 'यशःकीर्ति' इत्यादि श्लोक आता है।

२ जैनेन्द्रव्याकरण के दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं—एक पर महावृत्ति है और दूसरे पर शब्दार्णवचन्द्रिका तथा जैनेन्द्रप्रक्रिया हैं। स्व० के० बी० पाठक दूसरे पाठ को मौलिक बतलाते हैं। उन्होंने इसके सम्बन्ध में एक लेख लिखा था। किन्तु श्रीयुत प्रेमीजी महावृत्तिवाले सूत्र-पाठ को ही मौलिक समझते हैं। इस सम्बन्ध में 'जैनसाहित्य-संशोधक' भाग १, अङ्क २ में प्रकाशित 'जैनेन्द्र व्याकरण और आचार्य देवनन्दी' शीर्षक उनका महत्त्वपूर्ण लेख पठनीय है। इस लेख के लिखने में उससे भी सहायता ली गई है और इसके लिये मैं प्रेमीजी का आभारी हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया था, जिस पर शब्दार्णवचन्द्रिका और जैनेन्द्रप्रक्रिया टीका बनाई गई है। यह बात शब्दार्णवचन्द्रिका के अन्तिम श्लोक के नीचे दिये चरणों से स्पष्ट है—

'श्रीसोमदेवयतिनिर्मितमादधाति या नौः प्रतीतगुणनन्दितशब्दवार्धौ।'

इसमें सोमदेव-निर्मित वृत्ति को गुणनन्दी आचार्य के 'शब्दार्णव' में प्रवेश करने के लिये नौका के समान बतलाया है। तथा जैनेन्द्रप्रक्रिया के अन्तिम श्लोक में "सैषा श्री गुणनन्दितानितवपुः शब्दार्णवं निर्णयम्' लिखकर बतलाया है कि गुणनन्दी ने शब्दार्णव के शरीर को विस्तृत किया था। अतः गुणनन्दी पूज्यपाद का नामान्तर नहीं है, किन्तु उस नाम के वह एक पृथक् आचार्य हैं।

पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद

कन्नड भाषा में चंद्रप्प कवि-निर्मित एक पूज्यपादचरित पाया जाता है। उसमें प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि को पूज्यपाद का मामा बतलाया है तथा लिखा है कि पाणिनि अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ को बिना पूर्ण किये ही मर गये, और मरते समय अपने भानजे पूज्यपाद से अपना ग्रन्थ पूर्ण करने के लिये कह गये, जिसे उन्होंने बाद को पूर्ण कर दिया। कोठारी जी का मन्तव्य है कि इस चरित में कवि ने जो कुछ लिखा है वह सब प्रमाण है या नहीं यह तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसका बहुभाग प्रमाण है और पाणिनि के ग्रन्थ अष्टाध्यायी की पूर्ति करने का उल्लेख तो प्रमाण है ही।

इस प्रकार कन्नडभाषा के उक्त चरित में वर्णित घटनाक्रम को आधार मानकर कोठारी जी ने पाणिनि को पूज्यपाद का समकालीन अर्थात् ईसा की पांचवी शताब्दी का विद्वान् सिद्ध करने का प्रयास किया है। तथा जब पाणिनिव्याकरण के प्रणेता पूज्यपाद के समकालीन हैं, तब उस पर महाभाष्य की रचना करनेवाले पतञ्जलि महाराज तो उनके बाद के होने ही चाहिये। किन्तु कोठारी जी ने उन्हें भी पाणिनि का न केवल समकालीन अपि तु उनका पूर्ववर्ती बतलाया है। क्योंकि वे लिखते हैं—"वयं तु भाष्यकारः खिष्टाब्दीयायां चतुर्थ्यां पञ्चम्यां वा शताब्द्यां प्रादुरासेति मन्यामहे।" अर्थात्—'हमारा मत है कि भाष्यकार ईस्वी सन् की चौथी अथवा पांचवीं शताब्दी में हुए हैं। इसके पहले पाणिनि के विषय में उन्होंने लिखा है—"यद्यपि केषांचिद् विदुषां मतेन पाणिनिराचार्यः खिष्टकालात्पूर्वं स्वजनुषेमां भारतभूमिमलञ्चकार; तथाप्यस्मन्मतेन स खिष्टाब्दीयपञ्चमशताब्द्यां प्रादुर्बभूव।" अर्थात्—'यद्यपि किन्हीं विद्वानों के मत से आचार्य पाणिनि ने ईस्वी सन् से पहले इस भारतभूमि को अपने जन्म से सुशोभित किया था। किन्तु हमारे मत से वे ईसा की पांचवी शताब्दी में हुए हैं।' इस स्खलित लेखनी के बारे में क्या लिखा जाये। अस्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाणिनि और भाष्यकार पतञ्जलि के पूर्वोक्त समय-निर्धारण में कोठारी जी ने जो उपपत्तियाँ दी हैं, उनकी आलोचना करने से पहले पाणिनि और पतञ्जलि की समकालीनता के विरोध में ही कुछ लिखना उपयुक्त होगा। उस अवस्था में उनकी बहुत सी उपपत्तियाँ स्वतः बेकार हो जायेंगी।

संस्कृत के अभ्यासियों से यह बात छिपी हुई नहीं है कि पाणिनि-व्याकरण पर कात्यायन ने वार्तिक बनाई थीं और भाष्यकार ने अपने भाष्य में उनका व्याख्यान इत्यादि किया है। तथा महाभाष्य में कुछ ऐसी वार्तिक इत्यादि भी पायी जाती हैं, जिन्हें भाष्यकार ने कात्यायन की वार्तिकों के सम्बन्ध में उद्धृत किया है। इस प्रकार के वार्तिक आदि के रचयिता भारद्वाजीय और सौनाग आदि कहे जाते हैं। उदाहरण के लिये—

(१) २-२-१८ सूत्र पर कात्यायन की तीसरी वार्तिक "सिद्धं तु क्वाङ्स्वतिदुर्गतिवचनात्" और चौथी वार्तिक "प्रादयः क्तार्थे" है। इन दोनों वार्तिकों का व्याख्यान करके पतञ्जलि लिखते हैं—"एतदेव च सौनागैर्विस्तरतरकेण पठितम्।" इसका व्याख्यान करते हुए कैयट लिखता है—"एतदेवेति। कात्यायनाभिप्रायमेव प्रदर्शयितुं सौनागैरतिविस्तरेण पठितमित्यर्थः।"

(२) १-१-२० सूत्र पर कात्यायन की वार्तिक है—"घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।" इस पर पतञ्जलि लिखते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—घुसंज्ञायां प्रकृतिग्रहणं शिद्विकृतार्थम्।" यह वार्तिक कात्यायन के नियम में एक मौलिक परिवर्तन करती है।

(३) ३-१-८९ सूत्र में पाणिनि ने जो नियम बतलाया था, उसमें वृद्धि करते हुए कात्यायन लिखते हैं—"यक्चिणोः प्रतिषेधे हेतुमणिच्छ्रिब्रूञामुपसंख्यानम्।" इसकी व्याख्या करने के बाद पतञ्जलि लिखते हैं—"भारद्वाजीयाः पठन्ति—यक्चिणोः प्रतिषेधे णिश्रन्थिग्रन्थिब्रूञामात्मनेपदाकर्मकाणामुपसंख्यानम्।" यह कात्यायन के मत की एक तरह से आलोचना ही है जो भारद्वाजियों ने की है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। इनके सिवाय भाष्यकार ने 'अन्ये' 'केचित्' आदि लिख कर कुछ अन्य आचार्यों के भी मतों का उल्लेख किया है।

वार्तिकों के सिवाय महाभाष्य में बहुत सी कारिकाएं भी पाई जाती हैं। और जैसे सब वार्तिकों को एक लेखक की बतलाना भ्रामक है उसी तरह सब कारिकाओं को भी एक ही लेखक की बतलाना भ्रमपूर्ण है। ये कारिकाएं कात्यायन की भी नहीं कही जा सकतीं, क्योंकि उनमें से कुछ कारिकाएँ कात्यायन के नियमों का संग्रहरूप हैं, कुछ उनके विरुद्ध हैं और कुछ वार्तिकों की आलोचना करती हैं। एक बात और भी ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि पतञ्जलि ने कारिकाओं का कुछ भाग बिना व्याख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किये ही रहने दिया है जब कि कुछ भाग पर वार्तिकों के ढंग से ही व्याख्यान किया है। अव्याख्यात कारिकाएँ दो प्रकार की हैं—एक[१] तो वार्तिकोक्त बातों का केवल संग्रह के रूप में है और वे प्रायः उस सूत्र के व्याख्यान के अन्त में पाई जाती हैं, जिनसे वे सम्बन्ध रखती हैं। दूसरी[२] प्रकार की अव्याख्यात कारिकाएँ वार्तिकों का केवल संग्रहीत रूप नहीं हैं, किन्तु वे भाष्य के विवरण की आवश्यक अङ्गभूत हैं। पाणिनि-व्याकरण के विशिष्ट अभ्यासी पं० गोल्ड स्टूकर का मत है कि ये अव्याख्यात कारिकाएँ कात्यायन की वार्तिकों के बाद में रची गई हैं।

वार्तिक और कारिकाओं के सिवाय महाभाष्य में जो तीसरी वस्तु ध्यान देने योग्य है, वह है परिभाषाएँ। कुछ परिभाषाएँ कात्यायन से पहले की मानी जाती हैं; क्योंकि कात्यायन ने अपनी वार्तिकों[३] में उन्हें उद्धृत किया है।

महाभाष्य के इस विहंगावलोकन से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि पाणिनि-व्याकरण पर कात्यायन के वार्तिक रचे जाने के बाद, तथा उन वार्तिकों के ऊपर भी भारद्वाजीय वगैरह वैयाकरणों के प्रति-वार्तिकों तथा कारिकाओं की रचना होने के बाद पतञ्जलि ने अपना महाभाष्य बनाया था। कात्यायन ने पाणिनि के लगभग आधे सूत्रों पर वार्तिक रची हैं, जिनकी संख्या ४००० से भी अधिक है। इन वार्तिकों के द्वारा कात्यायन ने पाणिनि-व्याकरण की बहुत सी कमियों की पूर्ति की है, अनेक नियमों में परिवर्तन और परिवर्धन किया है। उनके देखने से पता चलता है कि पाणिनि के समय में जो प्रयोग

१ इस प्रकार की कारिकाओं के बारे में टीकाकार भी स्पष्ट उल्लेख करते हैं। यथा—२-१-६० सूत्र की व्याख्या में कैयट लिखते हैं—"पूर्व एवार्थः आर्यया संगृहीतः।" २-४-८५ में "एष एवार्थ आर्यया दर्शितः।" २-४-८५, कारिका २, ३, में—"पूर्वोक्त एवार्थः श्लोकेन संगृहीतः।" इत्यादि।

२ दूसरी प्रकार की कारिकाएँ ४-१-४४ सूत्र की चर्चा में पाई जाती हैं। यथा—'गुणवचनादित्युच्यते। को गुणो नाम ? सत्वे निवेशते……' इत्यादि। इसी के आगे "अपरः—आह" करके 'उपैत्यन्यद् जहात्यन्यद्' इत्यादि अव्याख्यात कारिका है। तथा ४-१-६३ में—"जातेरित्युच्यते। का जातिर्नाम ? आकृतिग्रहणा जातिः ……· इत्यादि। "इसी के आगे 'अपरः आह' करके 'प्रादुर्भावविनाशाभ्याम्" इत्यादि कारिका है जो दूसरा मत बतलाती है।

३ १-१-६५ पर एक वार्तिक इस प्रकार है—"अन्त्यविज्ञानात्सिद्धमिति चेन्नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे।" इसका 'नानर्थके' इत्यादि अंश परिभाषा है, जो भाष्य से स्पष्ट है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
078891

शुद्ध समझे जाते थे, कात्यायन के समय में वे या तो अशुद्ध समझे जाने लगे थे, या उनका प्रचार नहीं रहा था। यथा—"इन्धिभवतिभ्याञ्च" (१-२-६), पाणिनि का यह सूत्र इन्ध् और भू धातु से परे लिट् को कित् करता है, किन्तु कात्यायन उसका निषेध करते हुए कहते हैं—"इन्धेश्छन्दोविषयत्वाद् भुवो वुको नित्यत्वात्ताभ्यां किद्वचनानर्थक्यम्।"

कात्यायन की वार्तिकों से दूसरी बात यह मालूम होती है कि उस समय कुछ शब्दों का जो अर्थ प्रचलित था, पाणिनि उससे अनभिज्ञ थे। यथा—पाणिनि लिखते हैं—'अरण्यान्मनुष्ये' (४-२-१२९), इससे स्पष्ट है कि वह आरण्यक का अर्थ 'जंगल में रहनेवाला मनुष्य' करते हैं। किन्तु इस पर पतञ्जलि 'अत्यल्पमिदमुच्यते मनुष्य इति' लिख कर लिखते हैं—'पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति वक्तव्यम्'। यह कात्यायन को वार्तिक है जो आरण्यक का अर्थ जंगल का रास्ता, जंगली हाथी, आरण्यक[1] अध्याय आदि बतलाता है।

078891

पाणिनि के विशिष्ट अभ्यासियों ने कात्यायन और पाणिनि का पौर्वापर्य बतलाने के लिये इस तरह की बहुत सी बातें महाभाष्य से खोज निकाली हैं, उनके देने से लेख का व्यर्थ कलेवर बढ़ जायगा। हमारा इस चर्चा से केवल इतना ही बतलाने का अभिप्राय है कि पाणिनि और पतञ्जलि की समकालीनता तो असम्भव है ही किन्तु पाणिनि के सूत्रों पर वार्तिकों के रचयिता कात्यायन भी पतञ्जलि के समकालीन नहीं थे। इन तीनों ग्रन्थकारों की रचनाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जो निष्कर्ष निकलता है उस पर विचार करते हुए पाणिनि और पतञ्जलि के बीच में कम से कम २०० वर्ष का अन्तर मानना होगा, क्योंकि इतना अन्तराल माने बिना शब्दशास्त्र की वे समस्याएं हल नहीं हो सकतीं, जो उक्त तीनों रचनाओं के क्रमिक अध्ययन से ज्ञात होती हैं और जिनका आभास-मात्र ऊपर कराया गया है। अतः पाणिनि को ईसा की पांचवीं शताब्दी के मध्य या अन्त का विद्वान् मानने पर पतञ्जलि को सातवीं शताब्दी का विद्वान् मानना होगा। इसका मतलब यह हुआ कि भाष्यकार पतञ्जलि प्रसिद्ध वैयाकरण भर्तृहरि के समकालीन थे, जिनका मरण ई० ६५० में हुआ था। किन्तु भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय-नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ के द्वितीय काण्ड के अन्त में महाभाष्य का जो इतिहास दिया है, वह इस स्थिति पर अच्छा

१ इसीपर से विद्वानों का यह विचार है कि पाणिनि वैदिक शास्त्र आरण्यकों से अनभिज्ञ थे, क्योंकि उन्होंने आरण्यक शब्द का अर्थ 'आरण्यक अध्याय' नहीं किया, जैसा कि कात्यायन ने किया है। अतः वे आरण्यकों की रचना से पहले हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाश डालता है। भर्तृहरि लिखते हैं—

"प्रायेण[1] संक्षेपतश्च नव्यविद्यापरिग्रहान्।
संप्राप्य वैयाकरणान संग्रहे समुपागते॥
कृतेऽथ पातञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥
अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावस्थितनिश्चयः॥
वैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षेनिलाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुकैः॥
यः पातञ्जलिशिष्येभ्योऽभ्यष्टो व्याकरणागमः।
कालेन दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥
पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशास्त्रत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥
न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः॥"

अर्थात्— नव्य विद्या के पारगामी वैयाकरणों की तथा (व्याडि के) संग्रह की सहायता से पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में समस्त न्यायों का निबन्धन किया। जब लोगों को यह मालूम हुआ कि यह महाभाष्य बहुत गम्भीर है अतः इसकी गहनता का पता लगाना कठिन है, तथा अकृतबुद्धि जन उसमें दृढ़ निश्चय नहीं रह सकते। तब शुष्क तर्क के अनुसर्ता, वैजि, सौभव और हर्यक्ष नाम के वैयाकरणों ने, जो संग्रह के तरफ़दार थे, पतञ्जलि के भाष्य को छिन्न-भिन्न कर डाला। पतञ्जलि के शिष्यों से उसका ग्रन्थ पुनः प्राप्त हो सका और उसकी एक कापी कुछ समय तक दक्षिण में रही। चन्द्रादि आचार्यों ने पर्वत से इस ग्रन्थ को प्राप्त किया और उसको बहुत सी पुस्तकों में कर दिया (अर्थात् उसकी बहुत सी प्रतिलिपियाँ करा डालीं)। मेरे गुरु ने उन न्यायों का तथा अपने दर्शन का अभ्यास करके यह आगम संग्रह बनाया।

इस उल्लेख से कम से कम इतनी बात तो स्पष्ट है कि भर्तृहरि के जन्म से बहुत पहले महाभाष्य की रचना हो चुकी थी। चीनी यात्री इत्सिंग के उल्लेखानुसार भर्तृहरि[2] की मृत्यु ई० ६५० में हुई है। यदि उनकी मृत्यु से १५० वर्ष पहले भी पतञ्जलि का काल

१ ये श्लोक गोल्डस्टूकर के ग्रन्थ से लिये गये हैं।

२ इत्सिंग ने लिखा है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य पर एक वृत्ति रची थी। कुमारिल के तंत्रवार्तिक पृ० २२३ में भी भर्तृहरि की इस टीका का उल्लेख मिलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माना जावे तो पाणिनि का समय ईसा की पांचवीं शताब्दी नहीं हो सकता, क्योंकि हम ऊपर बतला आये हैं कि पाणिनि और पतञ्जलि कभी भी समकालीन नहीं हो सकते।

राजतरङ्गिणी में एक श्लोक निम्न प्रकार से मिलता है—

चन्द्राचार्यादिभिर्लब्धादेशं तस्मात्तदागमम्।
प्रवर्तितं महाभाष्यं स्वं[1] च व्याकरणं कृतम्॥१-१७६॥

अर्थात्—चन्द्र आदि आचार्यों ने उसकी (राजा अभिमन्यु की) आज्ञा प्राप्त करने के बाद महाभाष्य का उद्धार किया और अपना व्याकरण (चन्द्रव्याकरण) बनाया।

भर्तृहरि के 'पर्वतादागमं लब्ध्वा' आदि श्लोक के साथ इस श्लोक को पढ़ने से दोनों का आशय एक सा लगता है। यह चन्द्र चन्द्रव्याकरण का प्रणेता वैयाकरण चन्द्र ही प्रतीत होता है। यह चन्द्र[2] पूज्यपाद का पूर्ववर्ती माना जाता है। अतः इस उल्लेख के आधार पर न केवल पाणिनि, किन्तु भाष्यकार पतञ्जलि भी पूज्यपाद के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं।

इस प्रकार पाणिनि और पतञ्जलि के साहित्य तथा अन्य उल्लेखों के आधार पर न केवल पाणिनि अपि तु पतञ्जलि भी पूज्यपाद के समकालीन या बाद के सिद्ध नहीं होते ऐसी दशा में कोठारी जी ने उनको समकालीन सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण दिये हैं, उन पर विचार करना केवल लेख की कलेवर-वृद्धि का ही कारण होगा। तथापि पाठकों को यह बतलाने के लिये कि कोठारी जी ने इस गुरुतर ऐतिहासिक कार्य में कितने उतावलेपन से विना विचारे लेखनी चलाई है, उनके कुछ प्रमाणों पर विचार किया जाता है।

पाणिनि तथा जैनेन्द्रव्याकरण के बहुत से सूत्र परस्पर में मिलते हैं। इसके आधार पर पूज्यपाद-चरित की इस बात को प्रमाणित करना कि पूज्यपाद ने पाणिनिव्याकरण को पूर्ण किया था, केवल हास्यास्पद है। इसी तरह यदि भाष्यकार या काशिकाविवरणकार किसी मत को पूर्वाचार्य का बतलाते हैं और वह मत जैनेन्द्र-व्याकरण के रचयिता का भी है तो 'भाष्यकार और का० विवरणकार ने पूज्यपाद के मत का उल्लेख किया है' यह कल्पना तभी सत्य समझी जा सकती है जब उनसे पहले केवल पूज्यपाद ही ऐसे वैयाकरण सिद्ध हों, जिनका उक्त मत रहा हो। विना ऐसा किये यह तो असिद्ध को

१ मि० ट्रोयर ने अपने संस्करण में 'चन्द्रव्याकरणं कृतम्' पाठ दिया है। ऐसा गोल्ड-स्टूकर लिखते हैं।

२ देखो—'अन्नल्स आफ भण्डारकर पूना, जि० १३, पृ० २५ पर डा० पाठक का लेख।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असिद्ध से सिद्ध करने की चेष्टा के समान ही है। हम पहले बतला आये हैं कि भाष्यका ने 'केचित्' आदि लिखकर अनेक आचार्यों के मतों का निर्देश किया है। अतः इस प्रका के थोथे प्रमाणों से कोई निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता।

१ पतञ्जलि ने 'अपरः आह' करके जाति का एक लक्षण उद्धृत किया है। जिसक विचारधारा जैनसिद्धान्त से मेल खाती है। इस मामूली सी बात से कोठारीजी निष्कर्ष निकाला है कि भाष्यकार किसी जैनवैयाकरण से बाद में हुए हैं। वैयाकर व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में वैयाकरणों के ही मत उद्धृत करने की प्रतिज्ञा तो सम्भवत नहीं करते हैं। यदि ऐसा कोई नियम होता कि व्याकरण-विषयक ग्रन्थों में किस नैयायिक, दार्शनिक, सैद्धान्तिक या कवि का कोई मत या कोई विचार उद्धृत नहीं कर चाहिये तो हम कोठारी जी के उक्त निष्कर्ष से किसी तरह सहमत हो भी जाते। किन् इस बादरायण-सम्बन्ध से सहमत होने के लिये हमारी क्षुद्र बुद्धि तैयार नहीं होती क्योंकि जैन-विचारधारा तो अतिप्राचीन है, उसे भाष्यकार किसी अन्य स्रोत से जान क लिख सकता था। पूज्यपाद के साथ इस विचारधारा का, पता नहीं, कैसे अविना-भाव सम्बन्ध जोड़ लिया गया है।

२ 'वाहनमाहितात्' इस सूत्र पर भाष्यकार ने 'अपरः आह' करके 'वाहनबाह्यादिति वक्तव्यम्' ऐसा लिखा है। जैनेन्द्र में 'बाह्याद्वाहनम्' सूत्र है। इस शब्द-साम्य से, जे यथाक्रम भी नहीं है, कोठारी जी निष्कर्ष निकालते हैं कि 'अपर' पद से जैनेन्द्रकार क उल्लेख किया है। क्यों भई, यदि जैनेन्द्र का सूत्र ही भाष्यकार ने उद्धृत किया है तो उ उसने परिवर्तित क्यों कर दिया? क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि जैनेन्द्रकार ने भाष्य की इस वार्तिक को ही परिवर्तित करके अपना सूत्र बना लिया है जैनेन्द्रकार के सामने कात्यायन की वार्तिक थी, यह बात उनके सर्वार्थसिद्धि-विषयक उल्लेखों से स्पष्ट है।

३ तत्वार्थसूत्र के चतुर्थ अध्याय के 'पीतपद्मशुक्ललेश्याद्वित्रिशेषेषु' इस सूत्र क व्याख्यान करते हुए पूज्यपाद स्वामी ने एक वाक्य इस प्रकार लिखा है—"यथाहुः— द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानमिति।" पाणिनि के "तपरस्तत्कालस्य (१-१-७०) सूत्र के व्याख्यान में भाष्यकार ने एक वार्तिक इस प्रकार दी है—"यद्य द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यानं कालभेदात्।" आगे इसका व्याख्यान करते हुए भाष्यकार लिखते हैं—"द्रुतायां तपरकरणे मध्यमविलम्बितयोरुपसंख्यान कर्तव्यम्" इत्यादि। इसका भी कोठारी जी ने वही निष्कर्ष निकाला है। कोठारी जी की इस महती भूल को देख कर मेरी उनके विषय में जो धारणा थी, उसे बड़ी ठेस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुंची है। एक विद्वान् व्यक्ति लेखनी के द्वारा जानबूझ कर इतनी बड़ी भूल कर सकता है, यह मेरा आत्मा मानने के लिये तैयार नहीं है। सर्वार्थसिद्धि के जिस प्रकरण में उक्त वाक्य है, उसका आशय कोठारी जी ने क्या समझा है? यह तो वे ही बतला सकते हैं। किन्तु प्रकरण यह है कि टीकाकार पूज्यपाद ने "पीता च पद्मा च शुक्ला च ताः पीतपद्म-शुक्लाः" इस प्रकार सूत्रस्थ पद का समास किया। उस पर शिष्य ने पूछा—"कथं ह्रस्वत्वम्" अर्थात् पीता का पीत इत्यादि में ह्रस्वत्व कैसे हो गया? आचार्य ने उत्तर दिया—'औत्तरपदिकम्' अर्थात्—उत्तर पद परे रहते ह्रस्वत्व हो गया है। अपने इस उत्तर की पुष्टि में आचार्य ने 'यथाहुः' करके 'द्रुतायाम्' इत्यादि वाक्य प्रमाण-रूप में उद्धृत कर दिया। अर्थात्—जैसे 'मध्यमविलम्बितयोः' में (मध्यमा च विलम्बिता च मध्यमविलम्बिता) उत्तरपद 'विलम्बित' रहते हुए 'मध्यमा' पद को ह्रस्वत्व हो गया है, उसी प्रकार यहां पर भी जानना चाहिये। 'यथाहुः' का 'आहुः' पद ही यह बतलाता है कि ग्रन्थकार किसी अन्य पुरुष का प्रमाणवाक्य दे रहे हैं। सम्भवतः इसी से कोठारी जी ने इसे प्रमाणरूप में उपस्थित करते समय 'आहुः' पद को छोड़ कर केवल 'यथा' शब्द का उल्लेख किया है। महाभाष्य से स्पष्ट है कि अपने मत के समर्थन में पूज्यपाद ने जिस वाक्य को प्रमाणरूप से उपस्थित किया है, वह कात्यायन की वार्तिक है। अतः पाणिनि और उनके वार्तिककार कात्यायन, दोनों पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं, यह निर्विवाद है। और भी लीजिये—सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ७, सूत्र १६ की व्याख्या में 'मैथुन' शब्द का अर्थ बतलाते हुए पूज्यपाद स्वामी अपने अर्थ के समर्थन में शास्त्र का प्रमाण देते हुए लिखते हैं—"शास्त्रेऽपि 'अश्ववृषभयोर्मैथुनेच्छायाम्' इत्येवमादिषु तदेव गृह्यते'। इस वाक्य में उद्धृत 'अश्ववृष-भयोर्मैथुनेच्छायाम्' पद पाणिनि के ७-१-५१ सूत्र पर कात्यायन की प्रथम वार्तिक है। यहाँ पूज्यपाद ने कात्यायन की वार्तिक अथवा भाष्य का 'शास्त्र' शब्द से उल्लेख किया है। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि पूज्यपाद और पाणिनि समकालीन नहीं थे। अतः कन्नड के पूज्यपाद-चरित्र के आधार पर कोठारी जी ने जो कुछ हवाई महल खड़ा किया है, ऐतिहासिक जगत में उसका कोई मूल्य नहीं आँका जा सकता और न इस तरह की असत्कल्पनाओं से जैनसाहित्य और जैनाचार्यों का महत्त्व ही बढ़ सकता है।

पार्श्वनाथ-चरित का श्लोक

वादिराज के पार्श्वनाथचरित के प्रथम परिच्छेद में तीन श्लोक निम्न प्रकार से मुद्रित हैं।

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥ १७ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा ।
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः ॥१८॥
त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाक्षय्यसुखावहः ।
अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः ॥ १९ ॥

किसी लेखक आदि की भूल से किसी प्रति में यह श्लोक उक्त क्रम से लिखे गये हैं और उसी पर से इस तरह मुद्रित भी हो गये हैं। किन्तु वास्तव में १७ वां और १९ वां श्लोक एक साथ हो कर अट्ठारहवां उनके बाद में होना चाहिये। क्योंकि १७ वें श्लोक में समन्तभद्र का स्मरण करते हुए उनके देवागमस्तोत्र का उल्लेख किया है और १९ में उनके रत्नकरण्डनामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है। किन्तु १८ वें 'देव' शब्द से प्रसिद्ध वैयाकरण देवनन्दी का स्मरण किया है। आदिपुराण और हरिवंशपुराण[1] में भी इन्हें इसी संनि

१ हरिवंशपुराण का यह श्लोक निम्न प्रकार है—

इन्द्रचन्द्रार्कजैनेन्द्रव्याडिव्याकरणेक्षिणः ।
देवस्य देवसंघस्य न वन्द्यते गिरः कथम् ?

न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना (पृ० १००) में मैंने लिखा था कि इस श्लोक में देवनंदि का स्मरण किया है। और अपने इस विचार को कई युक्तियों से सिद्ध किया था। किन्तु 'अकलङ्क-ग्रन्थत्रय' की प्रस्तावना में पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने मेरे इस मत का निराकरण किया है। आप की मुख्य आपत्ति यह है कि पूज्यपाद जैनेन्द्रव्याकरण के रचयिता हैं अतः इन्द्र चन्द्र आदि व्याकरणों के साथ उन्हें अपने ही रचित व्याकरण का ईक्षिन्-द्रष्टा कहना ठीक नहीं है। किन्तु इस आपत्ति का परिहार यह हो सकता है कि हरिवंशपुराणकार की दृष्टि में पूज्यपाद इतर व्याकरणों के भी उतने ही विशिष्ट अभ्यासी थे जितने स्वरचित व्याकरण के। अर्थात् जिस तरह स्वरचित ग्रन्थ के प्रत्येक रहस्य से रचयिता अभिज्ञ रहता है उसी तरह वे पर-रचित व्याकरणों के भी प्रत्येक रहस्य से अभिज्ञ थे। श्रवणबेलगोल के शिलाले० नं० ५० के एक उल्लेख से भी इस बात का समर्थन होता है। उसमें मेघचन्द्र मुनि का गुणगान करते हुए उन्हें 'सर्वव्याकरणे विपश्चिदधिपः श्रीपूज्यपादः स्वयम्' लिखा है जो बतलाता है कि पूज्यपाद समस्त व्याकरणों के परगामी थे। यदि इस बात को स्वीकार न किया जाये और इस श्लोक के द्वारा अकलङ्कदेव का स्मरण किया जाना ही ठीक माना जाये, जैसा कि पण्डितजी का मत है, तो इस व्याकरण-शास्त्र के नियमों की विरोध-सम्बन्धी आपत्ति के सामने अनेक ऐतिहासिक आपत्तियां आ खड़ी होती हैं, जिन्हें दृष्टि से ओझल नहीं किया ज़ा सकता। तथा उसके विरुद्ध दूसरे मत के समर्थन में अनेक उपपत्तियां भी मिलती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाम से स्मरण किया हैं। अतः कोठारीजी ने इस श्लोक के आधार पर जो समन्तभद्र को वैयाकरण सिद्ध किया है वह भी भ्रमपूर्ण है।

दोनों बातें निम्न प्रकार हैं—

१ यदि उक्त श्लोक में अकलङ्क देव का ही स्मरण हुआ माना जाये तो कहना होगा कि हरिवंशपुराणकार ने पूज्यपाद का स्मरण ही नहीं किया। किन्तु यह बात किसी भी तरह नहीं जंचती कि हरिवंशपुराणकार अपनी रचना के प्रारम्भ में प्रमुख-प्रमुख शास्त्रकारों का स्मरण करते समय जैनेन्द्रव्याकरण के अध्येता अकलङ्क देव का तो वैयाकरण या व्याकरणशास्त्र-निष्णात के रूप में स्मरण करें और आद्य जैनव्याकरण जैनेन्द्र के रचयिता प्रसिद्ध शाब्दिक देवनन्दी को भूल ही जायें।

२ अब तक शास्त्रों तथा शिलालेखों में पूज्यपाद और अकलङ्क के सम्बन्ध के जो उल्लेख मेरी दृष्टि से गुजरे हैं, उनमें पूज्यपाद का वैयाकरण के रूप में और अकलङ्क का तार्किक के रूप में ही स्मरण किया गया है। जैनसाहित्य में सर्वत्र एक ही ध्वनि गूंजती सुनाई पड़ती है; और वह है—"प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।" वैयाकरण के रूप में अकलङ्क का जिसमें स्मरण किया गया हो ऐसा कोई उल्लेख कमसे कम मेरे देखने में तो नहीं आया।

३ हरिवंशपुराणकार जिनसेन और आदिपुराणकार जिनसेन, दोनों समकालीन थे, किन्तु हरिवंश पुराण की रचना पहले और आदिपुराण की रचना बाद को हुई है। हरिवंश-पुराण की तरह आदिपुराण के भी प्रारम्भ में व्यतिक्रम से सिद्धसेन और समन्तभद्र का स्मरण कर (बीच में कुछ अन्य अचार्यों का स्मरण करने के बाद) देव नाम के विद्वान् का स्मरण इस प्रकार किया है—

"कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥"

इसमें देव को 'कवियों का तीर्थङ्कर' बतलाया है और उनके वचोमय तीथ को विद्वानों के वाङ्मल का नाशक लिखा है। हरिवंशपुराण के पूर्वोक्त श्लोक को देखते हुए यह श्लोक भी अकलङ्क देव के पक्ष में सरलता से लगाया जा सकता है। क्योंकि व्याकरण-शास्त्र-निष्णात का वचोमय तीर्थ 'वाङ्मलध्वंसि' होना ही चाहिये। यदि आदिपुराणकार ने अकलङ्क का पृथक् स्मरण न किया होता तो पण्डितजी इसे भी अकलङ्क के पक्ष में लगाये विना न छोड़ते। किन्तु उसके बाद ही अकलङ्क का नाम स्मरण करके ग्रन्थकार ने यह स्पष्ट कर दिया कि शब्द-शास्त्र-निष्णात 'देव' भट्टाकलङ्क से पृथक् विद्वान् हैं और वे देवनन्दी के सिवाय दूसरे नहीं हो सकते।

४ आदिपुराणकार ने "भट्टाकलङ्कश्रीपालपात्रकेसरिणां गुणाः" आदि लिख कर भट्टाकलङ्क का केवल सामान्य उल्लेखमात्र कर दिया है, 'देव' की तरह पृथक् रूप से उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशा है कोठारी जी मेरे इस लेख को सद्भाव से ही अपनायेंगे और भविष्य में कु लिखते समय जल्दबाजी से काम न लेंगे। उनसे हमलोगों को बड़ी आशाएँ ❀ हैं।

किसी विशेष गुण का स्मरण नहीं किया। यदि हरिवंशपुराणकार अकलङ्क देव का स्वतं स्मरण करते तो यह संभव प्रतीत नहीं होता कि आदिपुराणकार उनका उल्लेखमात्र करके छोड़ देते। इससे भी सिद्ध होता है कि हरिवंशपुराणकार ने जिनका उल्लेख भी नहीं कि था, आदिपुराणकार ने उनका कम से कम सामान्य उल्लेख तो कर ही दिया।

५ हरिवंशपुराण में 'देव' के स्मरण के बाद ही वज्रसूरि का स्मरण किया गया है देवसेन के उल्लेख के अनुसार वज्रनन्दी देवनन्दी के शिष्य थे। इस पौर्वापर्य से भी यह सि होता है कि वज्रसूरि के पहले जिन 'देव' का स्मरण किया गया है, वह वज्रसूरि के गुरु देवन ही हैं। ग्रन्थकार ने दोनों के 'नन्दी' पद को छोड़ कर केवल 'देव' और 'वज्र' नाम उनका स्मरण किया है।

हरिवंश पुराण (मा० ग्र० मा०) में 'देवसंघस्य' पाठ मुद्रित है। किन्तु उसी के नी टिप्पण में लिखा है कि 'देववन्द्यस्य' और 'देवनन्दस्य' पाठ भी उपलब्ध हैं। 'देवनन्दस्य' प अशुद्ध है किन्तु उस पाठ से इतना संकेत अवश्य मिलता है कि इस श्लोक में 'देव' पद देवनन्दी का ग्रहण अभीष्ट था। अतः इसे क्लिष्ट कल्पना तो नहीं कहा जा सकता। 'देवसंघस पद अकलङ्कदेव के यद्यपि अनुकूल पड़ता है, क्योंकि उन्हें देवसंघ का आचार्य कहा जाता है किन्तु एक तो इस विषय का कोई स्पष्ट उल्लेख मेरे देखने में नहीं आया, दूसरे श्रवणबेलगो के शिलालेख नं० १०८ में लिखा है कि अकलङ्कदेव के स्वर्गगत हो जाने पर यह संघ भेद हु था। तीसरे उक्त श्लोक में अकलङ्कदेव का स्मरण हुआ मानने में पूर्वोक्त बाधाएँ उपस्थि होती हैं। अतः मेरा विचार है कि 'देवसंघस्य' के स्थान में दूसरी प्रतियों में उपल 'देववन्द्यस्य' पाठ ही ठीक है। श्रीयुत प्रेमीजी ने भी अपने देवनन्दि-विषयक लेख में य पाठ रक्खा है। पता नहीं, पण्डित जी प्रतियों में उपलब्ध इस पाठ को स्थान देने में कै 'कल्पना-गौरव' समझते हैं। कल्पना-गौरव तो तब कहा जा सकता था, जब यह पाठ कि प्रति में उपलब्ध नहीं होता और सङ्गति ठीक बैठाने के लिये अपनी ओर से उसकी कल्प की जाती। किन्तु ऐसा तो नहीं किया गया है। तथा शिलालेखों के पूज्यपाद-विषयक उल्ले से भी 'देववन्द्यस्य' पाठ का समर्थन होता है। यथा—श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १ में पूज्यपाद को 'सुराधीश्वरपूज्यपादः' लिखा है। शिलालेख नं० १०५ में 'यत्पूजितः पदयु वनदेवताभिः' लिखा है। शिलालेख नं० ४० में लिखा है—'देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीय

इस उक्त विवेचन से इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि हरिवंशपुराणकार ने प्रसि वैयाकरण देवनन्दी का ही स्मरण किया है, न कि व्याकरणशास्त्रनिष्णात अकलङ्कदेव का।

❀ इस लेख के लिखने में मुझे गोल्ड स्टूकर के 'पाणिनि' नामक ग्रन्थ से बहुत अधि सहायता मिली है। अतः उनका आभार कृतज्ञतापूर्वक स्वीकार किया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जैन ऐतिहासिक महापुरुषों मेंवीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय भी एक हैं। भारत का इतिहास इनका अमर नाम कभी भुला नहीं सकता। बल्कि इनके द्वारा निर्मापित श्रवणबेल्गोल की वह अद्भुत विशाल मूर्त्ति जब तक मौजूद रहेगी तबतक संसार में इनकी धवल कीर्त्ति अविच्छिन्न रूप से फैली रहेगी। एक बात हमें याद रखनी चाहिये कि जैसे वह मूर्त्ति अद्भुत, अनुपम एवं विशाल है इसी प्रकार वीरमार्त्तण्ड का व्यक्तित्व भी सचमुच अद्भुत, अनुपम तथा महान् हैं। यद्यपि चावुण्डराय की जीवन-घटनाओं का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त नहीं है; फिर भी यत्र-तत्र उपलब्ध कीर्त्ति-गाथाओं से इनके महान् व्यक्तित्व का पता अवश्य लग जाता है।

स्वरचित 'त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण' (पृष्ठ ५) एवं श्रवणबेल्गोल के विन्ध्यगिरिवाले शिलालेख (२८१) में चावुण्डराय ब्रह्मक्षत्रियवंशज बतलाये गये हैं। इससे अनुमान होता है कि मूल में इनका वंश ब्राह्मण था, बाद क्षत्रियकर्म—असिकर्म—को अपनाने से यह क्षत्रिय गिने जाने लगे। खेद की बात है कि दुर्भाग्य से इनके माता-पिता कौन थे और इनका जन्म कहाँ और किस तिथि को हुआ था आदि बातों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। यों तो 'भुजबलि चरित' में लिखा है कि इनकी माता का नाम कलाल देवी था। हाँ, चावुण्डराय दीर्घकाल तक जीते रहे, यह अनुमान करना आसान है। क्योंकि इन्हें एक-दो नहीं, तीन शासकों के शासन-काल में काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। साथ ही साथ यह जानना भी सुलभ है कि चावुण्डराय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग गंगों की राजधानी तलकाड में ही व्यतीत हुआ था।

अजितसेनाचार्य के परम शिष्य 'गंगकुलाब्धिचन्द्र' 'गंगकुलचूडामणि', 'जगदेकवीर' 'धर्मावतार' आदि अन्वर्थ उपाधियों से विभूषित राचमल्ल (चतुर्थ) इनके प्रकृत आश्रयदाता थे। जिस गंगवंश का सुदृढ राज्य मैसूर प्रान्त में लगभग ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक बना रहा, राचमल्ल उसी गंगवंश के सुशासक मारसिंह के उत्तराधिकारी थे। गंगराजाओं के शासनकाल में वर्तमान मैसूर का बहुभाग उन्हीं के राज्य के अन्तर्भुक्त था, जो उस समय 'गंगवाडि' कहलाता था। गंगराज्य उस समय अपनी सर्वोत्कृष्ट दशा पर पहुंच गया था और आदि से ही इस राज्य का जैनधर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। बल्कि श्रवणबेल्गोल के लेख नं ५४ (६७) एवं गंगवंश के अन्यान्य दानपत्रों से यह बात निर्विवाद सिद्ध होती है कि गंग-वंश की जड़ जमानेवाले जैनाचार्य सिंहनन्दी ही थे। इस कथन को 'गोम्मटसारवृत्ति' के रचयिता अभयचन्द्र त्रैविद्यचक्रवर्ती ने भी स्वीकार किया है। हेब्बूरु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताम्रशासन के आधार पर मे० राइस साहब का कहना है कि आचार्य पूज्यपाद इसी वंश के सातवें शासक दुर्विनीत (ई० स० ४७८ ५१३) के राजगुरु थे। जैनधर्म के उपासकों में राचमल्ल के पूर्वाधिकारी गंगनरेश मारसिंह का नाम भी विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने कई जैनमन्दिर तथा स्तम्भ आदि निर्माण करा कर अन्त में अजितसेन भट्टारक के निकट समाधि-मरण-पूर्वक बंकापुर में शरीर-त्याग किया था।

चावुण्डराय उपर्युक्त राचमल्ल चतुर्थ के सुयोग्य सेनापति और मन्त्री थे। इन राचमल्ल के निष्कण्टक शासन-काल में ही वीरमार्त्तण्ड ने श्रवणबेल्गोल की संसार-विख्यात श्रीगोम्मटेश्वर-मूर्त्ति को स्थापित किया था। बल्कि चावुण्डराय की 'राय' यह उपाधि भी इनके इस धार्मिक उदार कार्य से सन्तुष्ट होकर राचमल्ल के द्वारा ही दी गयी थी, जो कि धर्ममूर्त्ति चावुण्डराय के लिये सर्वथा समुपयुक्त है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड[१] तथा जीवकाण्ड से आचार्य अजितसेन जी चावुण्डराय के गुरु एवं उसकी टीका से व्रतगुरु स्पष्ट सिद्ध होते हैं। यद्यपि चावुण्डराय के विद्याध्ययन के सम्बन्ध में कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। फिर भी यह अनुमान लगाना आसान है कि इनका विद्याध्ययन किसी सुयोग्य गुरु के निकट ही हुआ है। इसी लिये यह शस्त्र-शास्त्र एवं शिल्प आदि सभी कलाओं में निष्णात थे। हाँ, पीछे आचार्य नेमिचन्द्र के निकट इन्होंने अपने आध्यात्मिक ज्ञान को और उन्नत बनाया था। नेमिचन्द्र जी ने स्वयं चावुण्डराय के गुणों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है[२]।

जिस प्रकार इनका बाल्यजीवन अन्धकाराच्छन्न है, उसी प्रकार गृहस्थ-जीवन भी। हाँ, इतना पता तो अवश्य लगता है कि इनकी सौभाग्यवती गृहिणी का नाम अजिता देवी और पुत्र का नाम जिनदेव था। गङ्गनरेशों का राजमन्त्री तथा सेनानायक जैसे उच्चपद पर चावुण्डराय का आसीन होना ही इनकी योग्यता का एक समुज्ज्वल निदर्शन है। वास्तव में चावुण्डराय अपने कुल के भी एक देदीप्यमान रत्न थे। इसीलिये विद्वानों ने इन्हें 'ब्रह्म-क्षत्र-कुल-भानु', 'ब्रह्म-क्षत्र-कुल-मणि' आदि विशेषणों से स्मरण किया है। शासनाधिकाररूपी उच्चतम पद पर आरूढ़ हो कर भी यह अपने नैतिक मार्ग से कभी तिल भर भी नहीं डिगे थे। तब न 'शौचाभरण' 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि गौरवपूर्ण शब्दों से यह उल्लेख किये गये हैं।

चावुण्डराय ने सेनापति जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पद को बहुत ही योग्यता के साथ निबाहा है। यही कारण है कि इन्होंने खेडग के युद्ध में वज्वलदेव को हरा कर 'समरधुरन्धर', गोनूर

१—"जम्हि गुणा विस्संता गणहरदेवादिइड्ढिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरू जयउ सो राओ ॥९६६॥
अज्जज्जसेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू।
भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु" ॥७३३॥

२—"सिद्धंतुदयतडुग्गयणिम्मलवरणेमिचंदकरकलिया।
गुणरयणभूसणंबुहिमइवेला भरउ भुवणयलं" ॥९६७॥ —कर्मकाण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के मैदान में नोलम्बों के समर में जगदेकवीर को पराजित कर 'वीरमार्त्तण्ड', उच्चंगि के किले को हस्तगत कर 'रणरंगसिंग', बागेयूर दुर्ग में त्रिभुवनवीर को मार कर गोविन्द को शासक बनाने के उपलक्ष में 'वैरिकुल-कालदण्ड', नृप काम के दुर्ग में राज, बास, सिवर एवं कूणाङ्क आदि शूरों पर विजय पाने के कारण 'भुज-विक्रम', अपने सहोदर नागवर्म को मारनेवाले 'चलदंकगंग', 'गंगरभट' मदुराचय को तलवार के घाट उतारने के हेतु 'समरपरशुराम' और अन्य वीरों को दमन करने के कारण 'प्रतिपक्षराक्षस' तथा करोड़ों वीर भटों का पराभव करने से 'भटमारि' जैसी प्रचण्ड वीरता-द्योतक उपाधियाँ प्राप्त की थीं।* बल्कि अति-प्रचण्ड-वीर-माण्डलिक-शिखण्ड मण्डन-मणि होने से 'सुभटचूडामणि' के विरुद से भी यह विख्यात थे। वास्तव में उपर्युक्त इन उपाधियों से चावुण्डराय उस युग के एक अद्वितीय वीरशिरोमणि सिद्ध होते हैं।

वीरमार्त्तण्ड जिस प्रकार एक सफल सेनापति थे उसी प्रकार एक कुशल राज-मन्त्री भी। इनके मन्त्रित्व में गंगराष्ट्र की अभूतपूर्व उन्नति हुई थी। तत्कालीन गङ्ग प्रजाओं की अभिवृद्धि ही चावुण्डराय के सुशासन का ज्वलन्त दृष्टान्त है। उस समय के उपलब्ध अनेक भव्य मन्दिर, कितनी ही मनोज्ञ मूर्त्तियाँ आदि गङ्गराष्ट्राभ्युदय के सुन्दर साक्षी हैं।

वीरमार्त्तण्ड कन्नड, संस्कृत एवं प्राकृत के अच्छे विद्वान् तथा कवि थे। इस समय इनके चारित्रसार (संस्कृत) और त्रिषष्टिलक्षणमहापुराण (कन्नड) नामक दो ही ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। बल्कि ये दोनों ग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। आचार्य नेमिचन्द्र जी के कथनानुसार इन्होंने गोम्मटसार पर एक कन्नड वृत्ति भी रची थी।† उपर्युक्त चारित्रसार एक संग्रह ग्रन्थ है‡। हाँ, इनका त्रिषष्टिलक्षण महापुराण एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और १०वीं शताब्दी के कन्नड गद्य का एक समुज्ज्वल निदर्शन है। बल्कि कन्नड साहित्य में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों का वर्णन करनेवाला यही एक सर्व-प्राचीन ग्रन्थ है। आजतक उपलब्ध कन्नड गद्यग्रन्थों में यह चावुण्डरायपुराण आदिम गद्य-ग्रन्थ माना जाता है। मालूम होता है इन्हें पद्य की अपेक्षा गद्य लिखने की अधिक सुविधा थी या अपने ग्रन्थों में निर्दिष्ट धर्मोपदेश को सर्वसाधारण तक सुगमता से पहुंचाने के लिये इन्होंने सरल गद्य में ग्रन्थ-रचना करना ही अपना प्रमुख ध्येय बना लिया था। श्रीयुत गोविन्द पै के शब्दों में इन्हें जनप्रिय लेखक होना इष्ट था, न कि अपने को कवि प्रकट करने की लालसा। कन्नड साहित्य में उपलब्ध चम्पू ग्रन्थों में इसकी रचना-शैली नितान्त विलक्षण है। इसका वर्णन-क्रम बिल्कुल स्पष्ट और हृदयग्राही होने के साथ-साथ एक जन्मजात वीर योद्धा के स्वभावानुसार ठीक अपने लक्ष्य को प्रकट करनेवाला है। इन्हें 'कविजनशेखर' उपाधि भी थी।

---

* देखें—श्र० बे० शिलालेख नं० १०९ एवं 'चावुण्डरायपुराण'।

† "गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण जा कया देसी।
सो राओ चिरं कालं णामेण य वीरमत्तंडी" ॥९७२॥ —कर्मकाण्ड

‡ देखे—भास्कर भाग २, किरण ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरमार्त्तण्ड कवियों के सच्चे आश्रयदाता थे। जिस समय महाकवि रन्न विद्याध्ययन-निमित्त अपने बन्धु-बान्धव एवं जन्मभूमि को त्याग कर गङ्गराजधानी में पहुंचे उस समय चावुण्डराय ने इनकी विद्यारुचि, मुख की तेजस्विता आदि गुणों का अनुभव कर इन्हें अपने पास रक्खा और इनके अध्ययन की पूरी-पूरी व्यवस्था कर दी। चावुण्डराय के हस्तावलम्बन से कुछ ही समय में रन्न एक अद्वितीय कवि निकले, जिनकी प्रशंसा आज भी सम्पूर्ण कर्णाटक मुक्तकण्ठ से सगर्व कर रहा है। यह कवि कन्नड कविरत्नत्रयों में अन्यतम हैं। इनकी कविता से मुग्ध होकर ही राजा तैलपने 'कविचक्रवर्त्ती' की बहुमूल्य उपाधि प्रदान की थी। अगर वीरमार्त्तण्ड असहाय रन्न को उस समय आश्रय नहीं देते तो आज कर्नाटक को इनकी सुधामयी कविता के रसा-स्वादन का सौभाग्य कभी प्राप्त नहीं होता। यों तो वीरमार्तण्ड चावुण्डराय के बहुमूल्य जीवन का अधिकांश भाग रण-क्षेत्र में ही व्यतीत हुआ है, फिर भी देवपूजा, गुरूपासना, स्वाध्याय, संयम एवं दान आदि गार्हस्थ्य दैनिक कर्म भी इनसे अलग नहीं हुए थे। वीरमार्त्तण्ड एक सच्चे दृढ श्रद्धालु नैष्ठिक श्रावक थे। इसीलिये कहा गया है कि निश्शङ्कादिगुणपरिरक्षणैककारण ही 'गुणवं कावं', 'सम्यक्त्वरत्नाकर' एवं 'गुण-रत्नभूषण' ये उपाधियाँ इन्हें प्राप्त थीं। बल्कि यह श्रावक के अहिंसादि अणुव्रतों के पूर्ण परिपालक थे। अत एव 'शौचाभरण', 'सत्ययुधिष्ठिर' आदि बिरुदों से भी अलंकृत रहे। साथ ही साथ चावुण्डराय एक जनप्रिय होने के हेतु 'अण्ण' जैसे बन्धुत्वसूचक सम्मानित नाम से भी पुकारे जाते थे।

इसमें शक़ नहीं है कि वीरमार्त्तण्ड का अन्तिम जीवन विशिष्ट धर्म-सेवन के साथ व्यतीत हुआ होगा। आचार्य नेमिचन्द्र जी जैसे महान् विद्वान् का सम्पर्क इसमें मुख्य कारण है। चावुण्डराय ने अपनी धवल कीर्त्ति को अमर बना रखने के लिये श्रवणबेलगोल जैसे प्रमुख सुप्राचीन पुण्यतीर्थ को जो चुना है, यह बड़ी ही बुद्धिमत्ता का काम है। वास्तव में इनके द्वारा स्थापित उपर्युक्त गोम्मट-मूर्त्ति से इस तीर्थ की महिमा और भी बढ़ गई है। इस दृष्टि से इन्हें इस पवित्र भूमि का उद्धारक कहना सर्वथा समुचित है। आजतक बराबर यह क्षेत्र जनता की नजरों से आकृष्ट रहने का एकमात्र कारण उल्लिखित गोम्मट-मूर्त्ति ही है। अन्यथा दक्षिण के कोपण आदि अन्यान्य प्राचीन क्षेत्रों के समान ऐतिहासिकदृष्टि से अन्वेषक विद्वानों के लिये ही यह स्थान एक अन्वेषणीय वस्तु मात्र रह जाता। इस पुनीत तीर्थ की अभिवृद्धि का सारा श्रेय वीरशिरोमणि चावुण्डराय को ही मिलना चाहिये। अब, सर्वप्रयत्न से उक्त इस मूर्ति की रक्षा के सम्बन्ध में पूर्ण सचेत रहना सम्पूर्ण जैन समाज का प्रधान एवं परम कर्त्तव्य है। जैनियों को यह याद रखना चाहिये कि जब तक श्रवणबेलगोल में यह गोम्मट-मूर्त्ति विराजमान रहेगी तभी तक इस क्षेत्र का बोलबाला रहेगा। जैनसमाज का मुख उज्ज्वल रखने के लिये यह मूर्त्ति वास्तव में एक बहुमूल्य रत्न है। देखें, जैनसमाज इस मस्तकाभिषेक के सुअवसर पर इस मूर्ति-रक्षा की ओर कहाँ तक ध्यान देता है। मैसूर सरकार को भी इस पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणबेल्गोल के शिलालेख

[लेखक—श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

"कोळविदु हालुगोळनोविदु अमुर्तगोळनोविदु, गङ्गे नदियो तुङ्गवद्रियो मङ्गलागौर्याविदु, रुन्दवनवोविदु श्रृङ्गारतोटवो। अयि अयिया अयि अयिये वले तीर्त्त वले तीर्त्त जया जया जया जय॥"

"यह दुग्धकुण्ड है या कि अमृतकुण्ड ? यह गङ्गा नदी है या तुङ्गभद्रा या मङ्गल गौरी ? यह वृन्दावन है कि विहारोपवन ? ओहो! यह तो क्या ही उत्तम तीर्थ है ?"

—शिलालेख नं० १२३

सोलहवीं शताब्दी के एक भक्त-हृदय से श्रवणबेल्गोल जैन-तीर्थ के दर्शन करने पर उपर्युक्त शब्द-लहरी झंकृत हुई थी! श्रवणबेल्गोल का श्वेत सरोवर ही मन को हरनेवाली वह चीज़ है जिस पर यात्री की आँख जाकर टकराती हैं। भक्त उसे देखकर अचरज में पड़ता है और पूछता है कि 'क्या वह दुग्धकुण्ड, अमृतकुण्ड, गङ्गा अथवा तुङ्गभद्रा है ?' फिर आगे जब वह अपनी दृष्टि पसारता है और सुन्दर-सघन वनस्पति एवं बहुमूल्य मंदिर-मूर्तियों से समलंकृत शैल-शिखिर देखता है तो बरबस मुग्ध होकर वह फिर विस्मय से पूछता है कि 'क्या यह वृन्दावन है या विहारोपवन ?' वह भूल जाता है कि वृन्दावन के पास कालिन्दी और गोवर्द्धन ज़रूर हैं, परंतु हरे-हरे सघन वृक्ष-समूह वहाँ न—कहीं हैं। यह विशेषता श्रवणबेल्गोल में है। भक्त-हृदय इन सब विशेषताओं को देखता है और अंत में कहता है—'अहा! कैसा अच्छा यह तीर्थ है!'

श्रवणबेल्गोल के दर्शन करके प्रत्येक यात्री के हृदय से ऐसे ही उद्गार निकलते हैं। दक्षिण भारत में यह एक अनूठा स्थान है, जहाँ प्राकृतिक सौन्दर्य, प्राचीन शिल्पकला और ऐतिहासिक धार्मिकता गलबाहियां डालकर नृत्य कर रही हैं।

यहाँ के प्राचीन स्मारकों और मूर्तियों पर और भी जो लेख अङ्कित हैं वह इतिहास के लिये बड़े महत्त्व के हैं। जैन इतिहास के लिये वह खास चीज़ हैं। उनसे न केवल जैन मान्यता का समर्थन होता है, बल्कि कितनी ही अनूठी बातें विदित होती हैं।

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों का प्रारंभ प्रायः निम्नलिखित रूप में हुआ मिलता है। विद्वानों का मत है कि प्राचीन जैनशिलालेखों का आरंभ "स्वस्ति" और 'सिद्ध' शब्द से होता है।[1]

१ डरजैनिस्मस (बर्लिन) पृ० १३५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन शिलालेखों में भी यह शब्द देखने के लिए मिलते हैं। यहां के प्रारंभिक नमूने यह हैं:—

(१) 'सिद्धम् स्वस्ति'[१]

(२) 'श्री'[२]

(३) 'स्वस्ति श्री'[३]

(४) 'श्री स्वस्ति'[४]

(५) 'सिद्धम्'[५]

(६) 'श्रीमत्परमगम्भीर-स्याद्वादामोघलाञ्छनं।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥'[६]

(७) 'श्रीमत्स्याद्वादमुद्राङ्कितममलमहोनेन्द्रचक्रेश्वरेज्यं जैनीयं शासनं विश्रुतमखिलहितं दोषदूरं गभीरं। इत्यादि'[७]

(८) 'भद्रं भूयाज्जिनेन्द्राणां शासनायाघनाशिने।
कुतीर्थ-ध्वान्तसंघातप्रभिन्नघनभानवे ॥ १ ॥'[८]

(९) 'श्रीजयत्यजय्यमाहात्म्यं विशासितकुशासनं।
शासनं जैनमुद्भासि मुक्तिलक्ष्म्यैकशासनं ॥'[९]

(१०) 'श्रीगणेशाय नमः'[१०]

उपर्युक्त नं० ६, ७ आदि श्लोकों के उपरांत 'नमः सिद्धेभ्यः'—'नमो वीतरागाय'—'नमो जिनाय'—'स्वस्ति' आदि वाक्य भी मिलते हैं। लेख नं० ४३६ में 'श्री श्री गोमटेशाय नमः' लिखा हुआ है। इनसे स्पष्ट है कि जैनशिलालेखों के आदि वाक्य उपर्युक्तरूपेण होते हैं।

यहाँ के कई शिलालेखों में भ० महावीर के निर्वाण का संवत् भी दिया हुआ है, जिससे उस संवत् का बहु प्राचीनकाल से प्रचलित होना स्पष्ट हैं। लेख नं० ४५५ में शालिवाहन शकाब्द १७८० और वीरनिर्वाणाब्द २५५१ दिया है। इसी तरह लेख नं० ४३५ (३५५) व ४३६ (३५६) में है। इस गणना का आधार प्रकट होना आवश्यक है।

१ लेख नं० १ (१)।
२ नं० ३ (१२), ६ (९), ७ (२४) आदि।
३ नं० ५ (१८), २१ (२९), २३ (३८) इत्यादि।
४ नं० ३८ (५९), १४० (३५२)।
५ नं० ३५ (७६)।
६ जै० शि० सं०, पृ० २१, ३३, ४२, ४९, ५२, ६६, ८१, ८५ आदि।
७ जै० शि० सं०, पृ० ३०।
८ जै० शि० सं०, पृ० ५५—५८।
९ जै० शि० सं०, पृ० २०९।
१० जै० शि० सं०, पृ० ३३५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिगम्बर जैनगुरु-परम्परा का इतिहास उनके आधार से संकलित किया जा सकता है और मौर्यकाल में जैनसंघ के दक्षिण को आने की वार्ता का वह पोषण करते हैं। यहाँ के लगभग शक सं० ५७२ के लेख नं० १७-१८ (३१) में कहा गया है कि 'जो जैनधर्म भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मुनीन्द्र के तेज से भारी समृद्धि को प्राप्त हुआ था उसके किञ्चित् क्षीण हो जाने पर शान्तिसेन मुनि ने उसे पुनरुत्थापित किया।' इसके अतिरिक्त और भी कई लेखों में ऐसा उल्लेख देखने को मिलता है। प्रो० हीरालाल जी ने इन लेखों का महत्त्व दरसाते हुए इनका संग्रह और सम्पादन "जैनशिलालेख-संग्रह" के नाम से बम्बई की प्रसिद्ध श्रीमाणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला में कर दिया है। फिर भी इन लेखों को हिन्दी अनुवाद और विशेष ऐतिहासिक टिप्पणियों सहित प्रकाशित करना आवश्यक है। प्रो० साहब ने अपने संग्रह में जिन बातों पर प्रकाश डाला हैं उनको यहाँ पर दुहराना व्यर्थ है। यहाँ तो शिलालेखों के आधार से नवीन ज्ञातव्य प्रकट करना ही अभीष्ट है। अतः आगे पाठक उसी को पढ़ें।

शिलालेख में सैद्धान्तिक उल्लेख

सब से पहले शिलालेखों में प्रयुक्त हुए जैनसिद्धान्त-विषयक वाक्यों को उपस्थित करके जैनसिद्धान्त के रूप-रंग को हम पुष्ट करेंगे, किन्तु उसके पहले पाठकगण देखें कि चन्द्रगिरि के शिलालेख नं० १ (लगभग शक सं० ५२२) ही ऐसा दि० जैन शिलालेख देखने में आया है जिसमें भ० महावीर और उनके शासन का सम्पर्क विशाला (वैशाली) नगरी से दरसाया है। श्वेताम्बर-आगम-ग्रंथों में भ० महावीर और वैशाली की घनिष्ठता का विशेष उल्लेख मिलता है। दिगम्बर जैन शास्त्र भी वैशाली को भ० महावीर की ननिहाल बताते हैं; परन्तु श्वेताम्बरीय शास्त्रकारों की तरह भ० महावीर का उल्लेख 'वैशालीय' नाम से करते हुए दिगम्बर-शास्त्रकार हमें नहीं मिलते हैं। उपर्युक्त शिलालेख में अवश्य वैसी ही कुछ ध्वनि प्रकट होती है। यह इस शिलालेख की विशेषता है। अब देखिये सैद्धान्तिक उल्लेखों को—

१ लेख नं० १ में भ० महावीर वर्द्धमान का उल्लेख करते हुए उनके केवलज्ञान का उल्लेख किया है और उसे लोकालोक-प्रकाशक तथा अर्हत्पद का विशेषण बताया है। आगे इसी लेख में तप और समाधि की आराधना करने का उल्लेख है।

२ लेख नं० ३ (शक सं० ६२२) में पाप, अज्ञान और मिथ्यात्व को हनन करने और इन्द्रियों को दमन करने का उल्लेख है। इससे प्रकट होता है कि तब सम्यक्त्व के लिये उपर्युक्त तीन बातों का मिटना आवश्यक समझा जाता था और सम्यक्चारित्र में इन्द्रिय-दमनमुख्य था।

३ लेख नं० ७-८ (शक सं० ६२२) में 'संन्यासव्रत'-द्वारा प्राणोत्सर्ग करने का उल्लेख है। 'तत्वार्थधिगम-सूत्र' में भगवन् उमास्वाति ने व्रतों के अन्त में मुनि और श्रावकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को पालने के लिये 'सल्लेखनाव्रत' का विधान किया है। यहाँ पर उसी का उल्लेख 'सन्यास नाम से हुआ है।

४ लेख नं० १७—१८ (शक सं० ५७२) में 'अशनादिका त्याग कर के पुनर्ज को जीतने' का उल्लेख है। जैनसिद्धान्त में संसारी जीव को भवभ्रमण करते माना गया और अशनादि का जिसमें त्याग किया जाता है उन तपों और व्रतों को पाल कर उसके अ करने का भी विधान मिलता है।

५ लेख नं० २० (शक० ६२२) 'सुरलोक-विभूति' को प्राप्त करने का उल्लेख है व्रतादि पालन का फल सुरलोक के वैभव को प्राप्त करना इससे स्पष्ट है। लेख नं० २८ (श ६२२) से स्पष्ट है कि स्त्रियाँ भी बारह प्रकार के तपों और व्रतों को पाल कर के सुरलो का सुख प्राप्त करती थीं। इस लोक से परे सुरलोक का होना वह मानते थे।

६ लेख नं० २२ (शक १०२२) से 'देवबन्दना' करना आवश्यक प्रमाणित होता है।

७ लेख नं० २४ (शक ७२२) से श्रावकों द्वारा 'मौनव्रत' पालने और 'दान' देने क उल्लेख हैं।

८ लेख नं० २६ (शक ६२२) में रूप-धन-वैभव की अनित्यता को दरसा कर 'अनित्य भावना' का चित्रण किया गया है। संवरतत्व में अनित्यादि बारह भावनाओं का चिन्त करने का विधान भी जैनसिद्धांत में है।

९ लेख नं० २७ (शक ६२२) में आर्यिकाओं के समाधिमरण करने का उल्लेख जिससे स्त्रियों की धार्मिकता का अनुभव होता है।

१० लेख नं० २८ (शक ६२२) में 'द्वादशतप' का उल्लेख है अर्थात् तब भी लो अनशनादि बारह प्रकार के तपों से विज्ञ थे।

११ लेख नं० २९ (शक ६२२) में 'उत्साह और आत्मसंयम-सहित समाधिव्र पालने का उल्लेख है। 'मूलाचार' में उत्साह-भावना का विधान मिलता है।*

१२ सल्लेखना के लिये मृत्यु का अवश्यम्भावी ज्ञान होना आवश्यक है। लेख नं ३२ (शक ६२२) व नं० ३३ (शक ६२२) इसी सिद्धांत के पोषक हैं। इनमें लिखा है 'मृत्यु का समय निकट जानकर' और 'अब मेरे लिए जीवन असंभव है' यह कह क मुमुक्षुओं ने सल्लेखना व्रत आराधा। लेख नं० ३८ (शक ८९६) में तीन दिन त सल्लेखना पालने का उल्लेख है और लेख नं० ४४ से स्पष्ट है कि सल्लेखनाव्रत में एक करव से लेटने और पंचनमस्कारपद का उच्चारण करना भी प्रचलित था।

१३ लेख नं० ३८ (शक सं० ८९६) में 'धर्म्ममङ्गल' को नमस्कार करने का उल्ले है। प्राचीन नमस्कार मंत्र में 'चत्तारि मंगलं' में 'धर्म्म-मङ्गल' भी एक बताया गया है (केवलिपएणत्तो धम्मो-मङ्गलं)।

* उच्छाह भावणासं पसंसं सेवा सुदंसणो सद्धा। इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४ अनादि पंचणमोकार मंत्र का उल्लेख 'पंचनमस्क्रिया'-रूप में लेख नं० ४१ (शक सं० १२३५) और लेख नं० ४४ (शक सं० १०४३) में 'पंचपद' रूप में है।

१५ लेख नं० ४१ (शक १२३५) में माया (शल्य), जैनमार्गप्रभाव (प्रभावना), कोपादि (कषाय), आर्त और रौद्र परिणामों का उल्लेख है।

१६ लेख नं० ४२ (शक १०९९) में 'सप्त महाऋद्धियों' और 'चारणऋद्धि' का उल्लेख है।

१७ उपर्युक्त लेख में आगे 'शल्यत्रय'—'गारवत्रय'—'दंडत्रय' का उल्लेख हैं। माया-मिथ्या-निदान तीन शल्य हैं। मनोदण्ड, वचनदण्ड, कायदण्ड, यह तीन दण्ड हैं। तीन गारव से क्या भाव है, यह गवेषणीय है।*

१८ लेख नं० ४३ (शक १०४५) में मुनियों की जीवदया वृत्ति, जैन सिद्धांत राद्धान्त) पारंगत और वात्सल्य गुण का उल्लेख है। इसी लेख में पंचेन्द्रियदमन का भी उल्लेख है।

१९ उपर्युक्त लेख में आगे विष्णुवर्द्धन नरेश की भावज जयकणव्वे की धार्मिकता का परिचय कराते हुए श्राविकाओं द्वारा जिनपूजा करने, सत्य व शीलव्रत पालने, गुरुभक्ति करने और विनय धर्म को पालने का उल्लेख है। उन्हें 'भव्यर्क' कहा है।

२० लेख नं० ४४ (शक १०४३) में श्रावक की दैनिक-चर्या का वर्णन श्रावक मार का चित्रण करते हुए किया गया है। जिनपूजा करना, जिनेन्द्र की वंदना करना, मुनिजनों की निकटता में मन लगाना, सारा समय जिनमहिमा के प्रसारित करने में खर्च करना और दान देना श्रावक का महान् कर्तव्य है। आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र इस प्रकार दान चार तरह का बताया है। इन दानों का अन्य लेखों में भी उल्लेख है। पूजा में अर्चन और अभिषेक दोनों सम्मिलित थे।

२१ लेख नं० ५६ (शक १०३७) में विनय, सत्य, शौच, वीर्य, शौर्य और सर्वसंग-परित्याग धर्मों का उल्लेख है।

२२ लेख नं० ४७ (शक १०३७) में परीषह, दशलक्षणोत्तम महाधर्म्म और आत्म-संवेदन गुण का उल्लेख है। इसी लेख में आगे शील, समिति, गुप्ति, दण्ड, शल्यादि का भी उल्लेख है। 'रत्नत्रय' धर्म संसारसागर से पार पहुंचने के लिए पोत बताया है। इसी में आचार्य के 'षट्त्रिंशद्गुणों' का उल्लेख है। और शब्दविद्या, तर्कविद्या एवं सिद्धांतविद्या के पारगामी को 'त्रैविद्य' घोषित किया है। इसी में पल्यङ्कासन' और 'उत्तमपात्रदान (मुनिदान) का उल्लेख है।

* 'गारव' इच्छार्थक'शब्द है। गारवत्रय ये हैं—(१) ऋद्धिगारव (२) रसगारव (३) सातगारव। (भगवती आराधना)
—के० बी० शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३ लेख नं० ५२ (शक १०४१) में पंच महाकल्याण, अष्ट महाप्रातिहार्य औ चतुस्त्रिंशद् |अतिशयों से |मण्डित अर्हद्भगवान् का उल्लेख है, जिनके मुख-कमल सदसन्निरूपक जिनवाणी निर्गत हुई थी।

२४ लेख नं० ५३ (शक १०५०) में 'पण्डितमरण' का उल्लेख है।

२५ लेख नं० ८० (शक १०८०) व नं० ८६ में अष्टविधार्चन और मुनि-आहार उउल्लेख है। इन धर्मकार्यों के लिये धर्मात्मा पुरुष दान किया करते थे।

२६ लेख नं० ८२ (शक १३४४) में पंच पापों से दूर रह कर देशव्रतों को पालने तथ सुपात्रों को दान और दीन-जनों को करुणादान देने का उल्लेख है। (हिंसानृतान्यवनिताव्यस सचौर्य्यं, मूर्च्छा च देशवशतोऽस्य बभूव दूरे॥ दानं चास्य सुपात्र एव करुणा दीनेषु, इत्याद)

२७ लेख नं० ९३ (शक ११९७) में पुष्पमालायें नित्य चढ़ाने का उल्लेख है। औ नं० ९४ में गोम्मट के अभिषेक के लिए दुग्धदान का उल्लेख है। नं० ९५ में गोम्मटदेव नित्याभिषेक के लिए दान देने का उल्लेख है।

२८ लेख नं० १०५ (शक १३२०) में अंग-पूर्वगत जिनवाणी का उल्लेख है। इस लेख में श्वेताम्बरादि विपरीत मतों का उल्लेख है। (सिताम्बरादौ विपरीतरूपे खिले विसं वितनोतु भेदं)

२९ लेख नं० ११३ (शक १०९९) में उभय-नय, त्रिदण्ड, त्रिशल्य, चतुःकषाय चतुर्विध उपसर्ग गिरिकंदरादिक आवास, पंद्रह प्रमाद, पंचाचार—वीर्याचार, षट्कर्म, सप्तनय अष्टाङ्गनिमित्तज्ञान, अष्टविधज्ञानाचार, नवविधब्रह्मचर्य, दशधर्म, एकादशश्रावकाचार- देशव्रताचार, द्वादशतप, द्वादशाङ्गश्रुत, त्रयोदशाचार, शीलगुण, जीव-भेद (विज्ञान), जीवदय और चतुःसंघ का उल्लेख है।

३० उपर्युक्त लेख में ही अनेक आचार्यों, कलियुग के गणधर, पचास मुनीन्द्रों आर्यिकाओं और अट्ठाइस संघों द्वारा एकत्रित होकर पञ्चकल्याणोत्सव मनाने का उल्लेख है।

३१ लेख नं० ४१३ व ४१४ में विजयधवल और जयधवल के नाम हैं; जो संभवत सिद्धांतग्रन्थों के द्योतक हैं।

उपर्युक्त सैद्धांतिक उल्लेखों का सामञ्जस्य प्रचलित जैनसिद्धांत से है और यह उसकी वैज्ञानिकता स्पष्ट करता है।

धार्मिक उदारता

अब आगे पाठकगण देखें कि उस समय जैनसिद्धांत को माननेवाले कितना उदार धार्मिक एवं सामाजिक दृष्टि रखते थे। वह लोक से मिथ्यात्व को मिटा कर सम्यक्त्व का आलोक फैलाने में दत्तचित्त थे—जीवमात्र के प्रति उनके हृदय में करुणा का भाव था। तत्कालीन जै

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ में चतुर्वर्ण के लोग सम्मिलित थे। लेख नं० ४२ (शक १०९९) में चतुर्वर्ण को दान देने का उल्लेख है। लेख नं० १०२ (शक १४५९) में चेन्नय्यमाली के दान देने का उल्लेख है। और तो और नृत्यकारिणी मंगायि को भी धर्माराधना का पूर्ण अवसर प्राप्त था। वह श्रीमद् अभिनव चारुकीर्त्ति पण्डिताचार्य की शिष्या और सम्यक्त्वाद्यनेक-गुण-गणाभरण-भूषित थी। उसने 'त्रिभुवनचूड़ामणि' नामक चैत्यालय निर्माण कराया था, जो आज भी बेल्गोल में एक दर्शनीय वस्तु है। (देखो लेख नं० १३२)। एक अन्य लेख से सुनार जातीय भक्त के सल्लेखनाव्रत धारने की वार्त्ता स्पष्ट होती है। स्त्रियों को तो धर्माराधना की पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त थी। सारांशतः प्रत्येक भव्य जीव को तब के जैनसंघ में धर्म की आराधना करने के लिये सुअवसर प्राप्त था। साथ ही साम्प्रदायिक विरोध भी कभी-कभी तो नहीं के बराबर देखने को मिलता हैं। सम्राट् विष्णुबर्द्धन वैष्णव हो जाते हैं, परन्तु उस पर भी वह जैन मंदिरों को दान देते हैं। उनकी पट्टरानो शान्तल देवी जीवनपर्य्यन्त जैनधर्मानुयायिनी रही थीं और अनेक जिनमंदिरों को दान देती रही थीं। होय्सल नरेश बल्लाल द्वितीय के मंत्री चन्द्रमौलि वेदानुयायी ब्राह्मण थे, परन्तु उनकी भार्या आचियक्क जिनधर्मावलम्बिनी क्षत्रियाणी थी। उन्होंने बेल्गोल में पार्श्वनाथबस्ति का निर्माण कराया था। लोगों में धार्मिकता यहाँ तक बढ़ी-चढ़ी थी कि अपने दानधर्म का पुण्यफल दूसरों के देने का संकल्प करते थे। लेख नं० १०० में चिक्कण्ण ने चौडिसेट्टि को एक 'धर्मसाधन' दिया था, क्योंकि उन्होंने उसे कष्टमुक्त किया था। यही बात लेख नं० १०१ से प्रकट होती है। किन्हीं लेखों के अन्त में दान की रक्षा के लिये काशी—रामेश्वर और कुरुक्षेत्र में कपिलादि गाय और ब्राह्मणों की हत्या का पाप लगने का उल्लेख धार्मिक-सहिष्णुता का द्योतक है।*

जैनों की वीरता

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में जहाँ एक ओर धार्मिक उदारता के दिग्दर्शन होते हैं, वहाँ दूसरी ओर जैनों की वीरता के अपूर्व दर्शन भी मिलते हैं। इस वीरता के दो अलग क्षेत्र वहाँ दिखाई पड़ते हैं। एक ओर कर्मवीर हैं तो दूसरी ओर धर्मवीर। कर्मवीर अन्ततः धर्मवीर बनते मिलते हैं। इन वीरों का पूर्ण परिचय लिखने के लिये इस अंक के पृष्ठ शायद ही पर्याप्त हों। सम्राट् मारसिंह, सम्राट् इन्द्र, सम्राट् राचमल्ल, वीरवर चामुण्डराय, दण्डाधिप गङ्गराज, मंत्रिप्रवर हुल्ल प्रभृति अगणित नरपुंगव ऐसे हैं जो कर्मवीर और धर्मवीर दोनों थे। उन्होंने रणक्षेत्र में तलवार के जौहर दिखाये तो धर्मक्षेत्र में जैनाचार्यों के चरण कमलों में धर्माराधना करके सल्लेखना-व्रत-द्वारा प्राणोत्सग किये! जैनवीरता के पोषक कतिपय उद्धरणों

* देखें—'जैनशिलालेख-संग्रह' पृष्ठ १६९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उपस्थित करना ही पर्याप्त है :—

१ "जब चालुक्य नरेश की सेना कन्नेगल को छावनी में पड़ाव डाले हुई थी उस स महान् मन्त्री और दंडनायक गङ्गराज यह कहते हुये कि 'चलने दो' घोड़े पर सवार हो ग बिना इस बात को परवाह किये कि रात में युद्ध करना होगा वह सरपट बढ़ चले गये अपनी तलवार से भयभीत शत्रु-सेना को आतुर बना दिया। मानो यह उनका खिलव था—उन्होंने सब ही राजाओं को परास्त किया और उनकी सारी युद्ध-सामग्री वाहनों को लाकर अपने प्रभु के सामने रख दिया। होय्सल-नरेश ने कहा—'मैं प्रस हूं—प्रसन्न हूं तुम्हारे भुज-विक्रम से। मांगो, जो वर चाहो!' इस महत कृपा पाकर भी गंगराज ने धन-सम्पत्ति की इच्छा नहीं की—उनका मन तो जिनेन्द्र की पूजा पगा हुआ था। उन्हों ने परमनामक ग्राम होय्सल-नरेश से प्राप्त करके जिन-पूजा के लि अपनी माता पाचाल देवी और पत्नी लक्ष्मी देवी-द्वारा निर्मित जिनालयों को दान क दिया!" (ले० नं० ४५)

२ वीरगल्लु (लेख) न० ६१ (शक ८७२) से प्रकट है कि पुरुष ही नहीं स्त्रियाँ भ रणाङ्गण में निज शौर्य प्रकट करके वीरगति प्राप्त करती थीं। इस वीरगल्लु में लोकविद्याध और उसकी पत्नी सावियव्वे का परिचय कराया गया है। कन्नड-भाषा के कुछ वाक्य देखिये-

"श्री युवतिगे निज-विजय-श्री-युवतिये सवति येनिसे ....
श्रावक-धर्मदोळ् दोरेयेनल् पेररिल्लेने सन्द रेवति-श्रावकि ताने सज्जनिकेयोळ् जनकात्म ताने रूपिनोळळ्-देवकि ताने पेम्पिनोळ्रुन्धति ताने जिनेन्द्र-भक्ति-सद्-भावदे सावियव जिन-शासन देवते ताने काणिरे॥ इत्यादि।"

सावियव्वे रेवती, देवकी, सीता, अरुन्धती आदि सदृश रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिय थी। वह पक्की श्राविका (जैनी) थी—जिनभगवान् में उसकी शासन देवता के सदृश भ थी। वह सती अपने पति के साथ 'बागेयूर' के युद्ध में गई और वहाँ लड़ते-लड़ते वीरग को प्राप्त हुई! लेख के ऊपर जो चित्र खुदा है उसमें वह स्त्री घोड़े पर सवार हुई हाथ तलवार लिए हुये एक हाथी पर सवार वीर का सामना करती हुई चित्रित की गई है। हाथ पर चढ़ा हुआ पुरुष इस वीराङ्गना पर वार कर रहा है! यह थी उस समय की जैन युवति की वीरता!

३ लेख नं० ६० भी एक 'वीरगल्लु' अर्थात् वीरगति को प्राप्त हुए वीर का स्मारक है उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणि के वीर योद्धा 'वद्देग' के शौर्य का बखान है। 'युद्ध में इसने ऐस वीरता दिखाई कि जिसकी प्रशंसा उसके विपक्षियों ने भी की थी।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-कला

श्रवणबेल्गोल के अधिकांश शिलालेख कन्नड और संस्कृत-भाषा में हैं। मारवाड़ी-हिन्दी में भी कुछ शिलालेख हैं। साहित्य में कला की दृष्टि से उनमें से कई उल्लेखनीय हैं। 'मल्लिषेणप्रशस्ति' आदि इतिहास और साहित्य दोनों के लिये उपयोगी है। कुछ नमूने देखिये:—

(१) "स्वस्ति समस्त-भुवन-स्तुत्य-नित्य-निरवद्य-विद्या विभव-प्रभाव-प्रह्वरुह्वरीपाल-मौलि-मणि-मयूख-शेखरीभूत-पूत-पद-नख-प्रकररुं। जितवृजिनजिनपतिमतपयपयोधिलीला-सुधाकररुं। ....शरदमलशशधरकरनिकरनीहारहाराकारानुवर्त्तिकीर्त्तिवल्लीवेल्लितदिगन्तरालरु मप्पश्रीमन्महामण्डलाचार्य्यरु श्रीमद्दे वकीर्त्तिपण्डितदेवरु।"

(लेख नं० ३९)

(२) "स्वस्तिनिस्तुषाति-जितवृजिन-भाग-भगवदर्हदर्हणीयचारुचणारविन्दद्वन्द्वानन्दवन्दन-वेलाविलोकनीयाक्ष्मायमाण-लक्ष्मीविलासेयुं। अपहसनीयस्वीयजीवितेशजीवितान्यजीवन-विनोदानारत-रतरतिविलासेयुं। कालेयकालराक्षसरक्षा-विकलसकलवाणिजत्राणाति-प्रचण्डचामुण्डातिश्रे ष्ठराजश्रे ष्ठिमानसराजमानराजहंसवनिताकल्पेयुं।" इत्यादि—

(लेख नं० ४९)

यह तो हुआ मनोहर गद्य; किन्तु ज़रा पद्यों को भी देखिये:—

(१) "विहितदुरितभङ्गा भिन्नवादीभश्रृङ्गा वितत-विविधमङ्गाः विश्वविद्याब्जभृङ्गाः।
विजितजगदनङ्गा वेशदूरोज्ज्वलाङ्गा विशदचरणतुङ्गा विश्रुतास्तेऽस्तसङ्गाः ॥३०॥"

(लेख नं० १०५)

(२) "उद्दीप्त-दुःख-शिखि-सङ्गतिमङ्ग्यष्टि
तीव्राजवाञ्जव-तपातप-ताप-तप्तां।
स्रक्-चन्दनादि-विषयामिष-तैल-सिक्तां
को वावलम्ब्य भुवि सञ्चरितप्रबुद्धः ॥६६॥

(लेख नं० १०८)

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों से धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र आदि के भी उल्लेखनीय नियमों की उपलब्धि होती है। रसिकजन उनका वहां से पाठ करें। सारांशतः भ० बाहुबली की विशाल-विभूति का धर्ममय प्रभाव वहां चहुंओर छिटक रहा है। धन्य हैं वे जो उनके दर्शन करके अपना जीवन सफल करते हैं। इति शम्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोम्मटस्वामीकी सम्पत्तिका गिरवी रक्खा जाना

[लेखक—श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख़्तार]

जो लोग भगवान्का पूजा करके आजीविका करते हैं—पूजनके उपलक्षमें वेतन ले अथवा दक्षिणा, चढ़ावा या उपहार ग्रहण करते हैं—उनमें प्रायः धर्मका भाव बहुत ही कम पाया जाता है। यही वजह है कि समय-समयपर उनके द्वारा तीर्थादिकों पर अने अत्याचार भी हुआ करते हैं। वे लोग ज़ाहिरमें अपने अंगोंको चटका-मटका कर बहु कुछ भक्तिका भाव दिखलाते हैं और यात्रियोंपर उस देव तथा तीर्थके गुणों का ज़रूरत अधिक बखान भी किया करते हैं; परन्तु वास्तवमें उनके हृदय देवभक्ति तथा तीर्थभक्तिके भाव प्रायः शून्य होते हैं। उनका असली देव और तीर्थ टका होता है। वे उसीकी उपासना औ प्राप्तिके लिये सब कुछ करते हैं। यदि उनको अवसर मिले तो वे उस देवतीर्थकी सम्पत्ति भी हड़प जानेमें आनाकानी नहीं करते! ऐसे लोगोंके हृदयके क्षुद्र भावों और दीनताभ याचनाओंको देखकर चित्तको बहुत ही दुःख होता है और समाजकी धार्मिक रुचिपर दे आँसू बहाये विना नहीं रहा जाता।

यह दशा केवल हिन्दू-तीर्थोंके पण्डे-पुजारियोंकी ही नहीं, बल्कि जैनियोंके बहुतसे तीर्थों पण्डे-पुजारियोंकी भी प्रायः ऐसी ही अवस्था देखनेमें आती है। श्रवणबेल्गोल-सम्बन्धी मे तीन महीनेकी यात्रामें मुझे इस विषयका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हुआ है। उस सम तारंगा तीर्थका पुजारी अपने फटेपुराने कपड़ोंको दिखलाकर यात्रियोंसे भीख माँगता था श्रवणबेल्गोलमें, जिसे जैनबद्री भी कहते हैं, छत्तीसघर पुजारियोंके हैं। परन्तु यदि वहाँ मन्दिरोंकी हालतको देखा जाय तो दाँतोंतले अंगुली दबानी पड़ती है। जगह-जगह कूड़ा कर्कटका ढेर लगा हुआ है। बहुतसे मन्दिरोंके गर्भ-गृहोंमेंसे इतना दुर्गन्धि आती है कि वह ठहरा नहीं जाता! नगरमें और पर्वतोंपर अधिकांश मन्दिर ऐसे हैं जिनमें नित्य क्या, महीनं और वर्षोंमें भी प्रतिमाओंका प्रक्षालन नहीं होता। आठ दिन ठहरने पर भी, पुजारियोंकी कृपासे नगरके दो तीन मन्दिर दर्शनोंके लिये खुल नहीं सके। इतने पर भी "पूजन क कराओगे, गोम्मटस्वामीका ख़ास पुजारी मैं हूं, दान या इनाम मुझे ही देना, हम आपकी आशा लगाये हुए हैं," इत्यादि दीन वचन पुजारियोंके मुखसे बराबर सुननेमें आते थे। इससे पण्डे-पुजारियोंकी धर्मनिष्ठाका बहुत कुछ अनुभव हो सकता है। यह धर्मनिष्ठा आजकलके पण्डे-पुजारियोंकी ही नहीं बल्कि आजसे कई शताब्दियों पहलेके पण्डे-पुजारियोंकी भी प्रायः ऐसी ही धर्मनिष्ठा पाई जाती है, जिसका अनुभव पाठकोंको सिर्फ़ इतने परसे ही हो जायगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इन पुजारियोंके पूर्वजोंने श्रवणबेलगोलके गोम्मटस्वामीकी सम्पत्तिको एक समय महाजनोंके पास गिरवी अर्थात् रहन (mortgage) रख दिया था! लगभग तीन सौ वर्ष हुए जब शक सम्वत् १५५६ आषाढ़ सुदी १३ शनिवारके दिन मैसूरपट्टनाधीश महाराज चामराज वोडेयर अय्यके सदुद्योगसे ये सब रहन छूटे हैं। श्रवणबेलगोलमें इस विषयके दो लेख हैं, एक नं० १४० जो ताम्रपत्रों पर लिखा हुआ मठमें मौजूद है और दूसरा नं० ८४ जो एक मण्डपमें शिलापर उत्कीर्ण है। वे दोनों लेख कन्नड भाषामें हैं। पाठकोंके ज्ञानार्थ उनका भावार्थ *नीचे प्रकाशित किया जाता है:—

लेख नं० १४०

श्रीस्वस्ति। शालिवाहन शक १५५६, भाव संवत्सरमें, आषाढ़ सुदी १३ को, शनिवारके दिन, ब्रह्मयोगमें—

श्रीमन्महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, अरिरायमस्तकशूल, शरणागतवज्रपंजर, परनारी-सहोदर, सत्त्यागपराक्रममुद्रामुद्रित, भुवनवल्लभ, सुवर्णकलशस्थापनाचार्य, धमचक्रेश्वर, मैसूर-पट्टनाधीश्वर चामराज वोडेयर अय्य—

पुजारियोंने, अपनी अनेक आपत्तियोंके कारण, बेल्गोलके गोम्मटनाथ स्वामीकी पूजाके लिये दिये हुए उपहारों (दान की हुई ग्रामादिक सम्पत्ति) को वणिग्गृहस्थोंके पास रहन (बंधक) कर दिया था, और रहनदार लोग (बंधकग्राही—mortgagees) उन्हें हस्तगत किये हुए बहुत कालसे उनका उपभोग करते आ रहे थे—

चामराज वोडेयर अय्यने, इस बातको मालूम करके, उन वणिग्गृहस्थोंको बुलाया जिनके पास रहन थे और जो सम्पत्तिका उपभोग कर रहे थे और कहा कि—"जो कर्ज़ेजात (ऋण) तुमने पुजारियोंको दिये हैं उन्हें हम दे देवेंगे और ऋणमुक्तता कर देवेंगे।"

इस पर उन वणिग्गृहस्थोंने ये शब्द कहे—"हम उन ऋणोंका, जो कि हमने पुजारियोंको दिये हैं, अपने पिताओं और माताओंके कल्याणार्थ, जलधारा डालते हुए दान करेंगे।"

उन सबके इस प्रकार कह चुकने पर,—वणिग्गृहस्थोंके हाथोंसे, गोम्मटनाथ स्वामीके सम्मुख, देव और गुरुका साक्षीपूर्वक, यह कहते हुए कि—"जब तक सूर्य और चन्द्रमा स्थित हैं तुम देवकी पूजा करो और सुख से रहो—" यह धर्मशासन पुजारियोंको, ऋणभुक्तता के तौर पर, दिया गया।

बेल्गोलके पुजारियोंमें आगामी जो कोई उपहारोंको रहन रक्खेगा, या जो कोई उनपर रहन करना स्वीकार करेगा वह धर्मबाह्य किया जायगा और उसका ज़मीन तथा जायदाद-पर कुछ अधिकार नहीं होगा।

*यह भावार्थ मिस्टर बी० लेविस राइस साहब के अंग्रेजी अनुवाद परसे लिखा गया है। कहीं-कहीं चामराज के विशेषणादि सम्बन्ध में मूल से भी सहायता ली गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि कोई मनुष्य इस विज्ञप्तिका उल्लंघन करके, रहन रक्खेगा या रहन स्वीकार करे तो वे राजा जो इस राष्ट्रपर राज्य करेंगे इस देवके स्वत्वोंको पूर्वरीत्यनुसार सुरक्षित रक्खेंगे।

जो कोई राजा इस कर्तव्यसे अनभिज्ञ रहकर उपेक्षा धारण करेगा उसे वाराणसीमें ए हज़ार गौओं और ब्राह्मणोंके बध करनेका पाप लगेगा।

इस प्रकार धर्मशासन लिखा गया और दिया गया। मंगलमहाश्री। श्री ॥ श्री ॥

लेख नं० ८४

श्रीशालिवाहन शक वर्ष १५५६, भाव संवत्सरमें, आषाढ़ सुदी १३ को, शनिवारके दि ब्रह्मयोगमें; श्रीमन्महाराजाधिराज, राजपरमेश्वर, मैसूरपट्टनाधीश्वर, षट्दर्शनधर्मस्थापनाचा चामराज वोडेयर अय्य,—बेल्गोलके मन्दिरकी ज़मीनें बहुत दिनोंसे रहन थीं,—उक्त चामरा वोडेयर अय्यने होसबोललु केम्पप्पके पुत्र चन्नण्ण बेल्गुल पायि सेट्टिके पुत्रों चिक्कण्ण और जि पायि सेट्टि नामके रहनदारों तथा दूसरे रहनदारोंको बुलाकर, कहा कि "मैं तुम्हारे रहन रुपया अदा कर दूंगा।"

इस पर चन्नण्ण, चिक्कण्ण, जिगपायि-सेट्टि मुद्दण्ण, अज्जण्णन पदुमप्पण्णका पुत्र पण्डेण पदुमरसय्य, दोड्डण्ण, पंचवाणकविका पुत्र बोम्मप्प, बोम्मणकवि, विजयण्ण, गुम्मण्ण, चा कीर्ति, नागप्प, बेडदय्य, बोम्मि सेट्टि, होसहळ्ळिय रायण्ण, परियण्ण गौड, वैर सेट्टि, बैरण वीरय्य, नामके इन सब वणिकों और क्षेत्रपतियोंने, अपने पिताओं और माताओंके कल्याण गोम्मटस्वामीकी मौजूदगीमें और अपने गुरु चारुकीर्ति पंडितदेवके सम्मुख, जलधारा डाल हुए बंधकग्राहियोंके (?) मंदिरनिरीक्षकोंको रहननामे (mortgage bonds) दे दिये और शिलाशासन रहनोंके छूटनेका लिख दिया। (शाप—काशी रामेश्वरमें एक हज़ार गौओं और ब्राह्मणोंके मारनेका पाप)। श्री श्री।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाबाहुर्बाहुबली

(रचयिता—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण)

आराध्यदेवसमभिवन्द्य बुधोत्तमानाम् ।
श्रीदोर्बलीशचरितं कथयामि भक्त्या ।
श्रुत्वा त्रिलोकविनुतं चरितं यदत्र ।
मुञ्चन्ति कर्मरजसो भुवि भव्यजीवाः ॥ १ ॥

अस्त्यत्र भारते वर्षे जम्बूद्वीपस्य भूषणे ।
कोशलाख्यो महादेशः सर्वसद्गुणमण्डितः ॥ २ ॥

आसीत्तत्र पुरे रम्ये नाभिराजो महामनुः ।
नृपसद्गुणसम्पन्नो नीतिशास्त्रविशारदः ॥ ३ ॥

नियुज्य वृषभं राज्ये वृषदं वृषनायकम् ।
स राजा विरतिं प्राप गुरुसाम्राज्यभारतः ॥ ४ ॥

आस्तां तस्य सुनाथस्य वृषभस्य महात्मनः ।
यशःस्वतीसुनन्दाख्ये पत्न्यौ शीलसुशोभने ॥ ५ ॥

सम्बभूवुर्यशस्वत्याः सूनवो भरतादयः ।
पुत्री ब्राह्मी च सञ्जाता रूपलावण्यमण्डिता ॥ ६ ॥

सुनन्दापि प्रलेभे हि वीरं बाहुबलं सुतम् ।
पुत्रीं च सुन्दरीमेवं सुशीलगुणभूषिताम् ॥ ७ ॥

मत्वा सकलसाम्राज्यमेकदा नश्वरं ध्रुवम् ।
स राजा चिन्तयामास सर्वं हेयं विवेकिनाम् ॥ ८ ॥

एवं विचिन्त्य तत्सर्वं त्यक्तराज्यो महीपतिः ।
बभार जिनदीक्षां तां लोकद्वयसुखावहाम् ॥ ९ ॥

दीक्षोन्मुखेन तातेन प्रदत्ता प्रमुखा मही ।
सुजेष्ठाय सुयोग्याय भरताय विवेकिने ॥ १० ॥

एवमन्यान्यपुत्रेभ्यो दत्तं राज्यं सुवेधसा ।
सुयोग्यसम्पदं प्राप्य सर्वेऽपि सुखिनोऽभवन् ॥ ११ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकदा भरतो राजा चिन्तयामास मानसे ।
जित्वा षट्खण्डपृथ्वीं तां मण्डलेशो भवाम्यहम् ॥ १२ ॥

इत्थं विचिन्त्य सन्नाहं विजयार्थं महीपतिः ।
कृतवान् सर्वयत्नेन मन्त्रिभिश्च नृपैः सह ॥ १३ ॥

विजित्य वसुधां सर्वां यदा प्रत्याययौ पुरीम् ।
तदा तस्य पुरीं चक्रं न प्रविष्टं तदाज्ञया ॥ १४ ॥

दृष्ट्वा भरतराजोऽयमचलं चक्रमद्भुतम् ।
आहूय पृष्टवांस्तस्य कारणं स्वपुरोधसम् ॥ १५ ॥

पुरोहितेन तेनोक्तो भरतः सुविचारिणा ।
स्वारब्धजयसिद्धिस्ते न प्राप्ता नृकुलोत्तम ! ॥ १६ ॥

तदा स भरतेनोक्तस्त्यक्त्वा मम सहोदरान् ।
निर्जिता निखिला भूपा राज्यादिमदगर्विताः ॥१७॥

ततो व्यापत्प्रतीकारः कोह्यस्ति सुपुरोहित ।
स्वानुजेभ्यस्तु तातेन दत्तं राज्यं पुरैव हि ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वाभिहितस्तेन भरतो भुवि विश्रुतः ।
उपायेन विजेतव्या विजेयास्तव सोदराः ॥ १९ ॥

श्रुत्वा विप्रवचो राजा प्रेषयामास तत्क्षणम् ।
दूतान्नीतिविदो राज्ये सोदराणां सुनीतिभाक् ॥ २० ॥

ज्ञात्वा भरतसन्देशं दूतेभ्यो भ्रातरो बुधाः।
चिन्तां प्रापुरिमे सर्वे यशस्वत्याः सुसूनवः ॥ २१ ॥

अवश्यं खलु नश्यन्ति भुक्त्वापि विषयाश्चिरम् ।
ततस्त्याज्या हि मोक्षाय राज्यादिविषयाः स्वयम् ॥ २२ ॥

इत्थं विचिन्त्य ते सर्वे सुदीक्षां प्रतिपेदिरे ।
सत्यं स्वाचलसौख्याय मोक्षाय स्पृहयेन्न कः ॥ २३ ॥

मत्वा दूतमुखाद् वृत्तमीदृशं भरतोऽग्रणीः ।
अधिकं विह्वलो जातो बन्धुप्रेमा हि तादृशः ॥ २४ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चादखिलनीतिज्ञः सोऽयं भरतभूपतिः ।
प्रेषयामास संचिन्त्य स्वदूतं पौदनं पुरम् ॥ २५ ॥
पौदनेशसभामेत्य स दूतो मर्मवेदकः ।
बोधयामास भूपंतं स्वेष्टसम्पादनेच्छया ॥ २६ ॥
स राजापि तदा मत्वा तन्त्रं भरतभूभुजः ।
प्रेरयामास क्रोधेन कथ्यतामिति भूपतिः ॥ २७ ॥
तवानुजस्तु न्यायेन संग्रामेणैव दास्याति ।
करं दुर्नीतिसम्पाद्यं नान्यथा दातुमर्हति ॥ २८ ॥
पुनरावृत्य दूतोऽयं भरतं भुवनेडितम् ।
प्रार्थयामास तत्सर्वं यदुक्तं पुरुसूनुना ॥ २९ ॥
तच्छ्रुत्वा भरतो राजा स्वानुजे स्वाभिमानिनि ।
क्रुध्यन् चक्रित्वलोभेन घोषयामास संगरम् ॥ ३० ॥
यथोचिते विशालेऽत्र प्रदेशे पूर्वनिश्चिते ।
सोभयी विपुला सेना सज्जिता विजयश्रियै ॥ ३१ ॥
तदोभयविपक्षास्ते मन्त्र्याादिहितकांक्षिणः ।
प्रार्थयामासुरेवं हि सोदरौ समरत्रये ॥ ३२ ॥
भुजबल्येव तं जित्वा मल्लादिसमरत्रये ।
प्रपेदे जयलक्ष्मीं तां देवमानवसम्मुखे ॥ ३३ ॥
तद्दृष्ट्वा भरतो राजा महामोहप्रणोदितः ।
चालयामास चक्रं तत् स्वानुजं हन्तुमिच्छया ॥ ३४ ॥
किन्तु तच्चालितं चक्रं पौदनेशस्य सन्निधौ ।
निर्वीर्य्यमभवल्लोके दुःखदं किं महात्मनाम् ॥ ३५ ॥
अग्रजस्येदृशं कृत्यं दृष्ट्वा बाहुबली तदा ।
प्रपेदे गुरुनिर्वेगं लोकद्वयसुखप्रदम् ॥ ३६ ॥
तदा तत्र स्थितास्सर्वे प्रार्थयामासुरुन्नतम् ।
सम्प्राप्तजयलक्ष्मीः सा भुज्यतामिति सादरम् ॥ ३७ ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नृपस्तावत्समीपस्थान् देशयामास संमुदा ।
भुक्तेयं पृथ्वी मान्याः ! असकृद्बहुजन्मसु ॥ ३८ ॥

तस्मादिदं निजं राज्यं ध्रुवमुच्छिष्टवन्मतम् ।
नातोऽहं प्रतिगृह्णामि दुःखदां राज्यसम्पदम् ॥ ३९ ॥

विनश्वरशरीरेण लभ्यते यदि शाश्वतम् ।
सौख्यं तत्प्राप्तये लोके यत्नं कुर्वीत सर्वदा ॥ ४० ॥

भुक्तपूर्वमिदं सर्वं यन्मया बहुयोनिषु ।
त्यज्यते मोक्षसौख्याय नश्वरं सौख्यमैन्द्रियम् ॥ ४१ ॥

इत्थं विबोध्य तत्रस्थान् प्राज्ञो बाहुबली मुदा ।
अग्रजं प्रार्थयामास क्षमस्वेति पुनःपुनः ॥ ४२ ॥

स्वयञ्च क्षमतामेत्य नैजं राज्यं स्वसूनवे ।
दत्त्वा सत्वरमापेदे दीक्षां तां जिनपोदिताम् ॥ ४३ ॥

सोऽयं बाहुबली स्वामी पुष्यान्मम समीहितम् ।
येन कर्मेन्धनं दग्धं शुक्लध्यानोग्रवह्निना ॥ ४४ ॥

अन्यत्र प्रकाशित ये संस्कृत पद्य जैनेतर संस्कृतज्ञ विद्वानों को श्रीबाहुबलीजी की पौराणिक जी… की रूप-रेखा का परिचय कराने के उद्देश से ही यहां पर दिये गये हैं। विद्वद्गण इन्हें आलङ्कारिक … से न देखें।

—रचयिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रवणबेल्गोलस्थ एक यक्षी की मूर्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दक्षिण भारत के जैन वीर

[लेखक—श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए०]

अहिंसा का सिद्धान्त जैनमत की सबसे बड़ी विशेषता है। वास्तव में इसी सिद्धान्त की नींव पर जैनमत स्थित है। लेकिन इस सिद्धान्त को विदेशी और कतिपय देशी इतिहास-कारों ने जो भारत की अधोगति का कारण माना है, वह मिथ्या है। अन्य मतावलम्बियों की बात तो दूर, स्वयं अहिंसाव्रतावलम्बी जैनों ने ही कर्मक्षेत्र में जिस कर्तव्यपरायणता का उदाहरण उपस्थित किया है, वह सर्वथा स्तुत्य है। जहाँ जैन साधुओं ने अहिंसाव्रत को तपस्या की सीढ़ी तक पहुंचा दिया है, वहाँ कर्म-क्षेत्र में निरत रहनेवाले जैनों ने उसे कर्मयोग की दृष्टि से देखा और समझा है। देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के समय उन्होंने अहिंसा को कभी अपने मार्ग की बाधा नहीं होने दिया है। जिन जैन वीरों के हाथ में प्रजापालन और देश-रक्षा का भार आया था, उन्होंने अहिंसा में कर्म को देखा और कर्म में अहिंसा को। कर्म के दर्शन में उन्होंने अहिंसा-दर्शन को घुला-मिला दिया और अहिंसा की आड़ में भीरुता को छिपानेवालों के आगे मार्ग-प्रदर्शक का काम किया। आज हम दक्षिण भारत के कुछ ऐसे ही जैन वीरों का इतिहास उपस्थित करते हैं।

चामुण्डराय

जैन-इतिहास में चामुण्डराय का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। वे केवल वीर ही नहीं बड़े भारी कवि भी थे। 'चामुण्डराय-पुराण' (जिसका समय ९७८ ई० माना जाता है) उन्हीं-की कृति है। ये कर्णाटक के रहनेवाले थे। ये गंगवंश के राजा मारसिंह और उनके पुत्र और उत्तराधिकारी राचमल्ल के दरबार में थे। चामुण्डराय ने अपनेको 'ब्रह्मक्षत्र' जाति का बतलाया है; इसीलिये उनकी एक उपाधि 'ब्रह्मक्षत्र-शिखामणि' भी है।

पता चलता है कि उनके गुरु प्रसिद्ध अजितसेन थे। लेकिन नेमिचन्द्र सिद्धान्त-चक्रवर्ती का भी उनपर काफी प्रभाव पड़ा था। नेमिचन्द्र ने अपनी रचना 'गोम्मटसार' में चामुण्ड-राय की बड़ी प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त कन्नड कवि चिदानन्द ने भी अपनी रचना 'मुनिवंशाभ्युदय' में नेमिचन्द्र को चामुण्डराय का गुरु बतलाया है।

जिस युग में चामुण्डराय हुए थे, वह गंगवंश के राजाओं के लिए बड़ी मुसीबत का था। वे चारो ओर से दुश्मनों से घिरे हुए थे। अपना अस्तित्व कायम रखने के लिये और अपनी उन्नति के लिए उन्हें निरन्तर युद्ध करना पड़ा, और इसमें सन्देह नहीं कि इन युद्धों के संचालक चामुण्डराय ही थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चामुण्डराय के समय में गङ्गराज मारसिंह पर 'नोलंबों' ने चढ़ाई की; लेकिन 'गोनूर' मैदान में चामुण्डराय ने उनकी सेना को छिन्नभिन्न कर दिया। 'चामुण्डराय-पुराण' से प चलता है कि इस वीरता के लिए चामुण्डराय 'वीरमार्त्तण्ड' की उपाधि से विभूषित किये गये ब्रह्मदेव के स्तम्भलेख से मालूम होता है कि इस विजय के अवसर पर स्वयं मारसिंह ने 'नोलं कुलान्तक' की उपाधि धारण की थी।

दूसरा संकट पश्चिमी चालुक्यों की ओर से था। मारसिंह के ही समय में पश्चि चालुक्यों ने उपद्रव मचाना आरम्भ किया था। मारसिंह के पुत्र राचमल्ल के समय चामुण्डराय ने राजादित्य को परास्त कर यह विपत्ति दूर की। कहा जाता है कि 'उच्चंगि' दुर्जय किले में राजादित्य ने आश्रय लिया था। इस दुर्ग को जीतना एक प्रकार से असम्भ ही माना जाता था। कुछ समय पहले 'काडुवेदी' ने इस किले का घेरा डाला था, पर बहु दिनों तक घेरा डालने पर भी वह इसे वश में नहीं ला सका था। लेकिन चामुण्डराय आगे इस दुर्ग की दुर्जयता न रह सकी। ब्रह्मदेव-स्तम्भ के लेख से (जो ९७४ ई० का और जो श्रवणबेल्गोल में पाया गया था) पता चलता है कि चामुण्डराय ने इस किले विध्वस्त कर संसार को आश्चर्य्य में डाल दिया। स्वयं चामुण्डराय की कृति, 'चामुण्डराय पुराण' से भी इस बात की पुष्टि होती है। वह लिखते हैं कि 'उच्चंगि' के किले को वीरत पूर्वक हस्तगत करने के कारण उन्हें 'रणरंगसिंग' की उपाधि मिली थी। त्यागद ब्रह्मदे स्तम्भ के लेख से मालूम होता है कि 'रणसिंग' राजादित्य की उपाधि थी। इस प्रक चामुण्डराय ने शत्रु को परास्त कर उसकी उपाधि धारण की थी। स्वयं राचमल्ल ने इ विजयोपलक्ष में 'जगदेकवीर' की उपाधि ग्रहण की थी।

तीसरी घटना, जिसकी वजह से चामुण्डराय ने 'समर-धुरंधर' की उपाधि पाई, 'खेड का युद्ध है। इस युद्ध में उन्होंने वजवलदेव (वज्जल) को परास्त किया था। इसका वृत्त 'चामुण्डराय-पुराण' में मिलता है। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख में भी इसका उल्लेख है।

उक्त पुराण के अनुसार चामुण्डराय ने 'बागयूर' दुर्ग के 'त्रिभुवनवीर' नामक ए सरदार को मारकर 'वैरिकुलकालदण्ड' की उपाधि पाई। इसके बाद राज, बास, सिव कुणांक आदि सरदारों को 'काम' नामक राजा के दुर्ग में मारकर 'भुजविक्रम' की उपाधि प्रा की। मदुराचय ने, जो 'चलदंक गंग' और 'गंगरभट्ट' के नाम से भी प्रसिद्ध है, चामुण्डरा के छोटे भाई, नागवर्मा को मार डाला था। चामुण्डराय ने उसे मारकर भाई की मृत्यु का बदला चुकाया। त्यागद ब्रह्मदेव-स्तम्भ-लेख से मालूम होता है कि चलदंक-गंग ने गङ्ग-राज सिंहासन पर अधिकार जमाना चाहा था। चामुण्डराय ने उसके प्रयास को निष्फल कर उसका नाश किया और इस तरह अपना बदला भी चुका लिया। इस सफलता पर उ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'समर-परशुराम' की उपाधि मिली। उक्त पुराण ही से यह भी पता चलता है कि अन्य कई-वीरों पर विजय पाने के कारण उन्हें 'प्रतिपक्षराक्षस' की उपाधि मिली थी। इन उपाधियों के अतिरिक्त वे 'भटमारि' और 'सुभटचूड़ामणि' की उपाधियों से भी भूषित किये गये थे।

चामुण्डराय केवल वीर और युद्धपरायण ही नहीं थे, उनमें वे सभी गुण थे, जो विशिष्ट और धर्मानुरागी व्यक्तियों में पाये जाते हैं। अपने सद्गुणों के कारण ही उन्हें 'सत्ययुधिष्ठिर', 'गुणरत्नभूषण' और 'कविजनशेखर' की उपाधियाँ मिली थीं। 'राय' भी एक उपाधि ही थी, जो राजा ने उनकी उपकारप्रियता और उदारता से प्रसन्न होकर उन्हें दी थी।

चामुण्डराय ने जैनधर्म के लिए क्या किया, यह बताने के लिये ११५९ ई० के एक लेख का उद्धरण देना उचित होगा। उक्त लेख में लिखा है—"यदि यह पूछा जाय कि शुरू में जैनमत की उन्नति में सहायता पहुंचानेवालों में कौन-कौन लोग हैं? तो इसका उत्तर होगा—केवल चामुण्डराय।" उनके धर्मोन्नति-संबंधी कार्यों का विशद वर्णन न कर हम सिर्फ इतना ही उल्लेख करेंगे कि श्रवणबेल्गोल में 'गोम्मटेश्वर' की विशाल मूर्त्ति चामुण्डराय की ही कीर्त्ति है। यह मूर्त्ति ५७ फीट ऊँची है और एक ही प्रस्तर-खण्ड की बनी है। 'गोम्मटेश्वर' की मूर्त्ति के समीप ही 'द्वारपालकों' की बाईं ओर प्राप्त एक लेख से, जो ११८० ई० का है, निम्नलिखित बातें इस मूर्त्ति के निर्माण के संबंध में मालूम होती हैं—

महात्मा बाहुबली पुरु के पुत्र थे। उनके बड़े भाई द्वन्द्व-युद्ध में उनसे हार गए, लेकिन महात्मा बाहुबली पृथ्वी का राज्य उन्हें ही सौंपकर तपस्या करने चले गए और उन्होंने 'कर्म' पर विजय प्राप्त की। पुरुदेव के पुत्र राजा भरत ने पौदनपुर में महात्मा बाहुबली केवली की ५२५ धनुष ऊँची एक मूर्त्ति बनवाई। कुछ कालोपरान्त, उस स्थान में, जहाँ बाहुबली की मूर्त्ति थी, असंख्य कुक्कुटसर्प (एक प्रकार के पक्षी, जिनका सिर तो सर्प के सिर के समान होता था और शरीर का बाकी भाग कुक्कुट के समान) उत्पन्न हुए। इसीलिए उस मूर्त्ति का नाम कुक्कुटेश्वर भी पड़ा। कुछ समय बाद यह स्थान साधारण मनुष्यों के लिए अगम्य हो गया। उस मूर्त्ति में अलौकिक शक्ति थी। उसके तेजःपूर्ण नखों को जो मनुष्य देख लेता था, वह अपने पूर्वजन्म की बातें जान जाता था। जब चामुण्डराय ने लोगों से इस जिन-मूर्त्ति के बारे में सुना, तो उन्हें उसके देखने की उत्कट अभिलाषा हुई। जब वे वहाँ जाने को तैयार हुए, तो उनके गुरुओं ने उनसे कहा कि वह स्थान बहुत दूर और अगम्य है। इसपर चामुण्डराय ने इस वर्तमान मूर्त्ति का निर्माण कराया।

चामुण्डराय का ही दूसरा नाम 'गोमट' था, इसलिए इस नवनिर्मित मूर्त्ति का नाम 'गोम्मटेश्वर' पड़ा।*

* इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। —के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शान्तिनाथ

शान्तिनाथ के विषय में १०६८ ई० के एक लेख से पता चलता है कि इनके पिता का नाम गोविन्दराज था। इनके गुरु का नाम वर्द्धमान व्रती था, जो मूलसंघ के और देशीय गण के थे। शान्तिनाथ पश्चिमी चालुक्य राजा सोमेश्वर द्वितीय के समय में बनवसेनाड प्रान्त के शासक रायदंड गोपाल लक्ष्म के मंत्री और सेनापति थे। १०६८ के उक्त लेख में उन्हें 'बनवसेनाड' राज्य का कोषाध्यक्ष और उसका उन्नायक कहा गया है। इसी लेख में उन्हें 'श्रेष्ठ जैनमत-रूपी कमल के लिए राजहंस' कहा गया है।

शान्तिनाथ केवल सेनानायक ही नहीं, निपुण कवि भी थे। उक्त लेख में उन्हें जन्मजात और निपुण कवि कहा गया है। उन्हें 'सरस्वती-मुख-मुखर' की उपाधि मिली थी।

जैनमत के लिए शान्तिनाथ ने जो कुछ किया है, वह चिरस्थायी है। कहा जाता है कि उनकी ही प्रेरणा से लक्ष्म ने पत्थर का एक जिनमन्दिर निर्मित कराया और उसने तथा उसके राजा सोमेश्वर द्वितीय ने भी उस मन्दिर को भारी जागीरें दीं। उस मन्दिर का नाम 'मल्लिकामोद शान्तिनाथ-बसदि' है।

गंगराज

होयूसल राजा विष्णुवर्द्धन बिट्टिगदेव के यहाँ गंगराज, बोप्प, पुणिष, बलदेव, मरियण्ण, भरत, एच और विष्णु—ये आठ जैन योद्धा थे। विष्णुवर्द्धन १२वीं शताब्दी में हुआ था, अतः इन वीरों का समय निश्चित है।

गंगराज कौण्डिन्य गोत्र के द्विज थे। उनके पिता का नाम एच, एचियांग या बुद्धमित्र था और माता का पूचिकव्वे। उनके पितामह का नाम मार और पितामही का माकण्व्वे था। इन बातों का पता १११८ और १११९ के शिलालेखों से लगता है। गंगराज माता-पिता की सब से छोटी संतान थे। उनकी स्त्री का नाम नागला देवी या लक्ष्मी और लड़के का नाम बोप्प या एच था।

श्रवणबेल्गोल के एक लेख से पता चलता है कि गंगराज के मातापिता कट्टर जैन थे। ११२० ई० के एक शिलालेख से पता चलता है कि गंगराज की माता ने इसी साल (११२० ई० में) सल्लेखना की विधि से प्राण-त्याग किया। चामुण्डराय-बसदि के एक शिला-लेख में गंगराज की प्रशंसा की गई है और उनकी उपाधियों का वर्णन किया गया है। इन्हीं शिलालेखों से यह भी पता चलता है कि गंगराज ने अपने अतुल पराक्रम से होयूसल-राज्य का काफी विस्तार किया था।

विष्णुवर्द्धन के समय में होयूसल-राज्य की उन्नति और रक्षा के लिए सबसे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम था तलंकाड से चोलों को मार भगाना। विष्णुवर्द्धन ने यह काम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगराज को सौंपा। यह काम अत्यन्त दुःशक्य था, क्योंकि तलकाड से चोलों को मार भगाने के लिए वहाँ के सामन्त को जीतने के अतिरिक्त तलकाड के पूर्वीय भाग में स्थित सामन्त दाम या दामोदर और पश्चिमी घाट के सामन्त नरसिंहवर्मा को परास्त करना आवश्यक था। इस समय चोलों के राजा राजेन्द्रदेव द्वितीय थे। गंगराज ने बड़ी वीरता और कुशलता से तलकाड से चोलशक्ति का समूल नाश कर दिया। ११३५ ई० के एक शिलालेख से इस बात की पुष्टि होती है। अंगडि के शिलालेख से यह भी मालूम होता है कि यह विजय १११७ में प्राप्त हुई थी। इसके बाद गंगराज ने पूर्वी तलकाड के सामंत दामोदर को युद्ध में परास्त किया। दामोदर प्राण-रक्षणार्थ जंगलों में भाग गया। श्रवणबेल्गोल में प्राप्त ११७५ के एक शिलालेख से यह बात विदित होती है।

अब सिर्फ एक सामंत—पश्चिमी घाट का शासक नरसिंह वर्मा—रह गया। श्रवणबेल्गोल के उक्त शिलालेख और अरेगल्लु बस्ती के शिलालेख से पता चलता है कि नरसिंहवर्मा और चोल राजा के दूसरे सामंत हारकर घाट की पहाड़ियों पर भाग गए और इस तरह समूचा 'नाडु' होयूसल राजा के अधीन हो गया। पीछे नरसिंह वर्मा मारा गया।

जब गंगराज ने इस प्रकार होयूसल राज्य का विस्तार किया, तो विष्णुवर्द्धन ने कृतज्ञता-प्रकाशन के निमित्त उनसे पुरस्कार माँगने को कहा। गंगराज ने केवल 'गंगवाडि' मांग लिया। जान पड़ता है कि 'गंगवाडि' में गोम्मटदेव तथा अन्य अनेक जिन-मन्दिर थे, जिनकी व्यवस्था ठीक नहीं हो रही थी। यह भी अनुमान होता है कि वहाँ जैनमत का काफी प्रचार हो गया था। अतः गङ्गराज का उद्देश्य वहाँ के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करके जैनमत की उन्नति करना था। यही कारण था कि अन्य दुर्लभ वस्तुओं और धन-धान्य की इच्छा न करके उन्होंने केवल गङ्गवाडि ही माँगा, जिसे राजा ने सहर्ष उन्हें समर्पित किया। धर्म के प्रति इस अनुराग से गङ्गराज को बहुत यश प्राप्त हुआ। जैन साधुओं ने मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की। वर्द्धमानाचारी ने १११८ के अपने शिलालेख में उन्हें चामुण्डराय से सौगुना सौभाग्यशाली बताया।

गङ्गराज का पुत्र बोप्प भी अपने पिता के ही मार्ग का अनुगामी था। वह भी वीर सेनानायक और कट्टर जैन था। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसने 'दोरसमुद्र' में एक जिनालय बनवाया। कहा जाता है कि ११३४ ई० में बोप्प ने कई शक्तिशाली शत्रुओं को परास्त किया और अपने बाहुबल से 'कोंग' लोगों को अधीन किया।

पुणिष

पुणिष या पुणिषमय्य के पूर्वज राजमंत्री थे। उनके पिता का नाम पुणिषराज दंडाधीश था और उनकी उपाधि 'सकलशासनवाचकचक्रवर्ती' थी। पुणिषमय्यं राजा विष्णुवर्द्धन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संधिविग्रहिक' मन्त्री थे। चामराज नगर में पार्श्वनाथ-बस्ती के पास पाये गये शिलालेख से यह बात विदित होती है। बेलूर में केशवमंदिर में पाये गए लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है।

इतिहासकारों का मत है कि पुणिष ने यद्यपि अपने पराक्रम से गङ्गराज की तरह कर्णाटक में एक नया युग नहीं उपस्थित किया, तो भी उनकी विजयों ने होयूसल राजाओं के लिए दक्षिण का द्वार खोल दिया, और उनकी विजयों के फलस्वरूप ही विष्णुवर्द्धन अपना साम्राज्य बढ़ाने में समर्थ हो सके। जिस समय गङ्गराज तलकाड में चोलों की शक्ति मर्दित कर रहे थे, उस समय पुणिष ने कोंगाल्व, कोडग, टोड और केरल-राजाओं को जीत-कर विष्णुवर्द्धन की विजय-वाहिनी के लिए नीलगिरि के दक्षिण का मार्ग खोल दिया। १११७ ई० के चामराज नगर बस्ती-लेख से उक्त कथन की पुष्टि होती है। गङ्गराज की ही तरह पुणिष भी उदारचेता और धर्मानुरागी थे। उन्होंने भी कई जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था। इस बात का भी प्रमाण मौजूद है कि स्वधर्मानुरागी होने पर भी पुणिष के हृदय में अन्य धर्मों के प्रति उदारता का भाव था।

बलदेव

बलदेव या बलदेवण्ण राजा आदित्य या अरसादित्य के तीसरे लड़के थे। उनकी माता का नाम 'आचाम्बिके' था। ११२० ई० में वे वर्तमान थे। ये भी राजा विष्णुवर्द्धन के आठ मंत्रियों में से थे। ये तीन भाई थे, और तीनों कर्णाटक का मुख उज्ज्वल करनेवाले थे। इनके सैनिक जीवन के संबंध में कोई विशेष बात मालूम नहीं।

विष्णुबिट्टिमय्य

विष्णुबिट्टिमय्य भी होयूसल राजा विष्णुवर्द्धन के ही समय में हुए थे। इन्हें इम्मडि दण्डनायक बिट्टिमय्य के नाम से भी पुकारा गया है। ये बड़े प्रतिभाशाली थे और बहुत थोड़ी ही उम्र में इन्होंने अपनी बुद्धि और वीरता प्रदर्शित की थी। बेलूर के सौम्यनाथ के मन्दिर के ११३६ के एक लेख से इनका वृत्तान्त विदित होता है। इनके पूर्वज बराबर से राजमन्त्री का पद सुशोभित करते आये थे। इनके पितामह का नाम उदयादित्य और पिता का नाम चेन्नराज दंडाधीश था। विष्णु चेन्नराज के द्वितीय और छोटे पुत्र थे। राजा विष्णुवर्द्धन ने बड़े समारोह से इनका उपनयन-संस्कार कराया था। ७ या ८ साल की उम्र में ही ये शस्त्रविद्या में निपुण हो गए थे। इसी उम्र में विष्णुवर्द्धन की प्रेरणा से उनके एक मन्त्री की कन्या से बिट्टिमय्य का विवाह हुआ। इस अवसर पर राजा ने स्वयं सुवर्ण-कलश उठाकर उनका अभिषेक किया था। दस या ग्यारह वर्ष की आयु में विष्णुबिट्टिमय्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रतिभा इतनी प्रखर हो चुकी थी कि राजा ने उन्हें 'महाप्रचंड दंडनायक' की उपाधि से विभूषित किया।

शीघ्र ही विट्टिमय्य के शौर्य्य की परीक्षा का अवसर आया। कोंगु ने राजा विष्णुवर्द्धन को कर देना बन्द कर दिया था। राजा ने उसे दंड देने का भार विट्टिमय्य पर ही सौंपा। एक सप्ताह के भीतर ही उन्होंने कोंगु पर चढ़ाई कर दी। इस समय चोल, चेर पाण्ड्य और पल्लव राजाओं ने मिलकर विष्णुबिट्टिमय्य के विरुद्ध सम्मिलित संगठन किया। समुद्र के किनारे इन राजाओं की सेना इकट्ठी हुई। किन्तु बिट्टिमय्य ने एक पक्ष के भीतर ही इस सम्मिलित विशाल सेना का ध्वंस कर दिया। उन्हें इस युद्ध में शत्रुओं के बहुत से हाथी हाथ लगे। रायराजपुर जला दिया गया। इस तरह कोंगु परास्त हुआ। बिट्टिमय्य ने अपनी विजय के स्मारक-स्वरूप दक्षिण में एक कीर्त्तिस्तम्भ भी बनवाया।

विष्णुबिट्टिमय्य परमधार्मिक जैन थे। उन्होंने दोरसमुद्र में एक जिनालय बनवाया था, जिसका नाम उन्होंने अपने राजा के नाम पर विष्णुवर्द्धन-जिनालय रक्खा। उनके गुरु का नाम श्रीपाल त्रैविद्यदेव था। उन्होंने जिन-मन्दिर की व्यवस्था और ऋषियों के भोजनादि के प्रबंध के लिये कई गाँव अपने गुरु को समर्पित किये थे। इन्हीं गाँवों में 'बीजबोल्ल' नामक गाँव भी था, जो उन्हें राजा की ओर से पुरस्कार में मिला था।

देवराज

विष्णुवर्द्धन के बाद उसका पुत्र नरसिंह प्रथम (११४:—११७३ ई०) सिंहासनारूढ़ हुआ। इसके समय में चार जैन वीर हुए। ये थे—देवराय (देवराज), हुल्ल, शान्तियण्ण और ईश्वर।

देवराज कौशिक गोत्र के थे। इनके गुरु का नाम मुनिचन्द्र भट्टारक था। इतिहास में देवराज को चामुण्डराय और गङ्गराज के तुल्य स्थान दिया गया है। राजा नरसिंह ने इन्हें 'सूरनहल्लि' नामक गाँव पुरस्कार में दिया था। देवराज ने इस गाँव में एक चैत्यालय बनवाया और अपने गुरु के नाम पर उसका उत्सर्ग कर दिया। राजा ने उस गाँव का नाम बदल कर 'पर्वपुर' रक्खा।

देवराज के सैनिक जीवन के संबंध में हमें विशेष रूप से कुछ मालूम नहीं।

हुल्ल

श्रवणबेलगोल के लेखों से, जो ११५९ से ११६३ ई० के बीच के भिन्न-भिन्न समय के हैं, पता चलता है कि हुल्ल के पिता का नाम यक्षराज या जक्कराज, माता का नाम लोकाम्बिके और स्त्री का नाम पद्मावती था। इन लेखों से मालूम होता है कि उनके दो भाई थे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्ष्मण और अमर। उनका कुल 'वाजिकुल' कहलाता था। किन्तु मदेश्वर मन्दिर शिलालेख से, जिसका समय ११६४ ई० है, पता चलता है कि उनके वंश का नाम 'वाजिकु था, पर उनके पिता का नाम मधुसूदन और माता का मुद्दियक्के था। उसी लेख के अनु सार उनके भाइयों का नाम कान्तिमय्य और हरियण्ण था। यह संभव है कि उन माता-पिता और भाइयों के दो-दो नाम रहे हों और इस शिलालेख में केवल प्रसिद्ध नामों ही उल्लेख हो। लेकिन पूर्व-कथित शिलालेख के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है जो कुछ हो, इस संबंध में कुछ निश्चय करना अत्यन्त कठिन है, जबतक कि इस संबंध अन्य प्रमाण उपलब्ध न हों।

हुल्ल ने विष्णुवर्द्धन, नरसिंह प्रथम और उसके उत्तराधिकारी बल्लाल द्वितीय—तीनों समय में राजमन्त्रित्व का कार्य किया था।

हुल्ल ने श्रवणबेल्गोल में प्रसिद्ध 'चतुर्विंशति जिनालय' का निर्माण कराया था। चौबी तीर्थंङ्करों का मन्दिर होने के कारण उसका उक्त नाम पड़ा था। यह जिनालय ११५९ ई० बनकर तैयार हुआ था। यह गोम्मटपुर का आभूषण माना जाता है। राजा नरसि द्वितीय अपनी विजय-यात्रा के अवसर पर स्वयं यहाँ आये थे और उन्होंने इस जिनालय व्यवस्था के लिये कई गाँवों का दान दिया था। राजा ने इसका नाम 'भव्यचूड़ामणि रक्खा। ११७५ ई० में हुल्ल को राजा बल्लाल द्वितीय ने सवनेरु तथा अन्य दो गाँव पुरस्कार में दिये, और हुल्ल ने ये गाँव भी इसी जिनालय को उत्सर्ग कर दिये। श्रवणबेल्गोल अतिरिक्त अन्य कई स्थानों में भी उन्होंने धर्मानुराग और उदारता प्रदर्शित की।

शान्तियराण

शांतियण्ण के पिता का नाम पारिषण्ण या पार्श्वदेव और माता का बम्मल देवी था शान्तियण्ण के पिता स्वयं एक पराक्रमी योद्धा थे। वे होयूसल राजा के कोषाध्यक्ष थे उन्होंने आहवमल्ल को परास्त किया था, किन्तु स्वयं उस लड़ाई में मारे गए थे। राजा नरसिं ने शांतियण्ण को, उनके पिता की मृत्यु के बाद, 'कारिगुंड' नामक ग्राम दिया था। इस बाद ही शांतियण्ण दंडनायक के पद से विभूषित किये गए। इन्होंने भी कई जिनालयों निर्माण कराया।

ईश्वर चमूपति

ईश्वर चमूपति के पिता का नाम एरेयंगमय्य था, जो 'सर्वाधिकारी' और 'सेनापति दंडनायक' के पद से विभूषित थे। कहा जाता है कि ईश्वर ने ही मन्दारगिरि पर स्थित जिनालय का जीर्णोद्धार कराया था। उसी बसदि के ११६० ई० के एक लेख से उनके संबं की बातें मालूम होती हैं। उनके सैनिक पराक्रम के संबंध में हमें कुछ मालूम नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य जैन वीर

कर्णाटक में अन्य अनेक जैन वीर हो गए हैं, जिनके संबंध में हमें अधिक बातें मालूम नहीं। इन वीरों में रेचिमय्य का नाम प्रसिद्ध है। इन्हें 'वसुधैकबान्धव' की उपाधि मिली थी। पहले ये कलचुरीय राजा के यहाँ थे, पीछे होयूसल राजा के यहाँ चले आए। ये होयूसल राजा बल्लाल द्वितीय थे। जैनमत की उन्नति के लिए इन्होंने जो कुछ किया, उसकी प्रशंसा कई लेखों में मिलती है।

बल्लाल द्वितीय के ही यहाँ 'बूचिराज' नाम के एक दूसरे जैन सेनापति थे। ये कन्नड और संस्कृत—दोनों भाषाओं के विद्वान् थे और दोनों में कविता करते थे। उन्होंने सिगेनाड में एक त्रिकूट जिनालय बनवाया था।

बल्लाल द्वितीय के राज्य-काल के अंतिम भाग में एक और प्रसिद्ध जैन सेनापति का आगमन होता है। इनका नाम अमृत था। कहा जाता है कि ये शूद्र-परिवार के थे। इनके पिता का नाम हरियम सेट्टि और माता का नाम सुग्गव्वे था। ये दंडनायक के पद पर थे। इन्होंने १२०३ में यक्कोटि जिनालय का निर्माण कर अपने धर्मानुराग का परिचय दिया। अन्य धर्मों के प्रति भी इन्होंने अपनी उदारता का परिचय दिया था।

अन्तिम होयूसल राजा वीर बल्लाल तृतीय के समय में कैतेय दंडनायक का पता मिलता है। ये एक प्रमुख जैन सेनापति थे। ये १३३२ ई० में वर्तमान थे, और 'सर्वाधिकारी' के पद पर थे, ऐसा लेखों से विदित होता है।

नोट—इस निबंध के तैयार करने में बी० ए० सालेतोरे-लिखित 'मेडिएवल जैनिज्म' नामक पुस्तक से सहायता ली गई है, अतः लेखक उक्त ग्रन्थकार का आभारी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ

[लेखक—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

महाकवि हरिचन्द्र के सुप्रसिद्ध महाकाव्य की रचना का समय अभी तक अनिर्णीत है। न तो उन्होंने स्वयं अपना समय बतलाया है और न उनके बाद के किसी ग्रन्थकर्ता ने उनका उल्लेख किया है जिससे कुछ अनुमान हो सके। उन्होंने अपने गुरु और उनके स गण-गच्छादि का भी कोई जिक्र नहीं किया। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने उच्च को के कवि की चर्चा तक कोई नहीं करता है जिसकी जोड़ का शायद एक भी कवि जैन कवियों नहीं है और जिसके विषय में काव्यमाला-सम्पादक महामहोपाध्याय पं० दुर्गा प्रसाद जी लिखा है कि धर्माशर्माभ्युदय के कर्त्ता अपनी कवित्व-प्रौढ़ता के कारण माघादि प्राचीन मह कवियों की कक्षा के हैं।

मुद्रित धर्मशर्माभ्युदय के अन्त में कवि ने अपना परिचय सिर्फ इतना ही दिया है कि कायस्थकुल के अलंकारभूत श्रीआर्द्र देव के पुत्र थे। उनकी माता का नाम रथ्या और भा का लक्ष्मण था। अपने वंशादि के विषय में उन्होंने जो विशेषण दिये हैं, उनसे मालूम होत है कि वे किसी बहुत बड़े प्रतिष्ठित राजमान्य कुल के रत्न थे। बस मुद्रित प्रशस्ति से इतन ही परिचय मिलता है। संभव है मुद्रित प्रशस्ति अधूरी हो और दूसरी हस्तलिखित प्रतियों वह पूरी मिल जाय, जिससे समयादि का निर्णय हो जाय।

पाटण (गुजरात) के संघवी पाड़ा के पुस्तक-भाण्डार में धर्मशर्माभ्युदय की जो हस्तलिखि प्रति है वह वि० संवत् १२८७ की लिखी हुई है और इसलिए उससे यह निश्चय हो जाता है कि महा कवि हरिचन्द्र उक्त संवत् से बाद के नहीं हैं, पूव के ही हैं। कितने पूर्व के हैं, यह दूसरे प्रमाण मिलने पर निश्चय किया जा सकेगा। इस ग्रन्थ-प्रतिका नं० ३६ है और इसकी पुष्पिका में लिखा है—"संवत् १२८७ वर्षे हरिचंद्रकविविरचितधर्मशर्माभ्युदयकाव्यपुस्तिका श्रीरत्नाकरसूरि (रे) आदेशेन कीर्तिचंद्रगणिना लिखितमिति भद्रम्॥"

इस प्रति में १२॥×११ साइज के १९५ पत्र हैं।

उक्त संघवी पाड़े के ही भाण्डार में इस ग्रन्थ की १७६ नम्बर की एक प्रति और भी है जिसमें २०×२३ साइज के १४८ पत्र हैं। इस प्रति में लिखने का समय तो नहीं दिया है परन्तु प्रति लिखा कर वितरण करनेवाले की एक विस्तृत प्रशस्ति दी है, जो यहाँ दे दी जाती है।

अथास्ति गुर्जरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
धर्मचक्रभृतां तीर्थैर्धनाढ्यैर्मानवैरपि ॥१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यापुरं पुरं तत्र विद्याविभवसंभवं।
पद्मः शर्करया ख्यातः कुले हुंबड़संज्ञके ॥२॥
तस्मिन्वंशे दादनामा प्रसिद्धो भ्राता जातो निर्मलाख्यस्तदीयः।
सर्वज्ञेभ्यो यो ददौ सुप्रतिष्ठां तं दातारं को भवेत्स्तोतुमीशः ॥३॥
दादस्य पत्नी भुवि मोषलाख्या शीलांबुराशेः शुचिचंद्ररेखा।
तन्नन्दनश्चाहणिदेविभर्त्ता देपालनामा महिमैकधाम ॥४॥
ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो रुंडाकनामा तनयो विनीतः।
श्रीजैनधर्मेण पवित्रदेहो दानेन लक्ष्मीं सफलां करोति ॥५॥
हानू-जासलसंज्ञकेऽस्य शुभगे भार्ये भवेतां द्वये,
मिथ्यात्वद्रुमदाहपावकशिखे सद्धर्ममार्गे रते।
सागारव्रतरक्षणैकनिपुणे रत्नत्रयोद्भासिके,
रुद्रस्येव नभोनदीगिरिसुते लावण्यलीलायुते ॥६॥
श्रीकुंदकुंदस्य बभूव वंशे श्रीरामचंदः(द्रः) प्रथितप्रभावः।
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोंगनावक्षसि हारभूतः ॥७॥
प्रद्योतते संप्रति तस्य पट्टे विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः।
शिष्यैरनेकैरुपसेव्यमान एकांतवादादिविनाशवज्रम् ॥८॥
जयति विजयसिंहः श्रीविशालस्य शिष्यो
जिनगुणमणिमाला यस्य कंठे सदैव।
अमितमहिमराशेर्धर्मनाथस्य काव्यं
निजसुकृतनिमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम् ॥९॥

अर्थात्—धर्मचक्रियों (तीर्थङ्करों) के तीर्थों और धनी मनुष्यों के कारण जो तीन भुवन में विख्यात है, उस गुर्जर (गुजरात) देश में विद्या और वैभव से सम्पन्न विद्यापुर (बीजापुर ?) नाम का नगर है। वहाँ हूमड़ कुल में एक पद्म नामक गृहस्थ विख्यात हुए जिनकी पत्नी का नाम शर्करा था। उसी वंश में दाद हुए जिनके भाई का नाम निर्मल था। जिसने सर्वज्ञों की भी प्रतिष्ठा दी अर्थात् जैनमंदिरों की प्रतिष्ठा कराई, उस दाता की भला कौन नहीं प्रशंसा कर सकता है ? दाद की पत्नी का नाम मोषला था जो शीलवती और चन्द्ररेखा के समान पवित्र थी। उसके पुत्र का नाम महिमाधाम देपाल (देवपाल) था जिसकी चाहणी देवी नामक भार्या से सुन्दर विनयशील रुंडाक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो दान कर करके अपनी लक्ष्मी को सफल करता है। उसकी हानू और जासल नाम की दो भार्यायें महादेव की गंगा और पार्वती के सदृश थीं, जो सद्धर्ममार्ग में रत, सागारव्रतों की रक्षा करनेवालीं और रत्नत्रय को प्रकाशित करनेवाली थीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीकुन्दकुन्द के वंश में प्रभावशाली रामचन्द्र के शिष्य शुभकीर्त्ति हुए जो बड़े तपस्वी इस समय उनके पद को अपनी विद्या के प्रभाव से विशालकीर्ति शोभित कर रहे हैं, जिनके अनेक शिष्य हैं और जो एकान्तवादियों को पराजित करनेवाले हैं।

विशालकीर्ति के शिष्य विजयसिंह हैं, जिनके कंठ में जिनगुणों की मणिमाला सदैव शोभा देती है।

उसने यह भगवान् धर्मनाथ का काव्य (धर्मशर्माभ्युदय) पुण्यवृद्धि के निमित्त उनके लिए वितरण किया।

पहले के पद्यों में रुंडाक तक जो वंशावली दी है, उससे आगे का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं होता। संभव है, छह नम्बर के बाद का कोई श्लोक छूट गया हो जो वितरणकर्त्ता का सम्बन्ध जोड़नेवाला हो। ऐसा मालूम होता है कि रुंडाक की दो पत्नियों में से किसी एक का कोई पुत्र होगा जिसने धर्मशर्माभ्युदय की उक्त प्रति का दान किया है।

इस १७६ नम्बर वाली प्रति में प्रति लिखने का समय नहीं दिया है; परन्तु रामचन्द्र शुभकीर्ति या विशालकीर्ति के समय का पता यदि अन्य साधनों से लगाया जा सके तो वह मालूम हो सकता है।

विद्यापुर गुजरात का बीजापुर ही मालूम होता है। वहाँ हूंबड़ जाति के जैनों की बस्ती अब भी है।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य की प्रतियाँ जहाँ जहाँ हों, वहाँ के विद्वानों को चाहिए कि वे उनकी प्रशस्तियों को देखें और उनमें यदि कोई विशेषता हो, तो उसे प्रकाशित करने की कृपा करें।

गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में प्रकाशित पाटणके भाण्डारों के सूचीपत्र में इन दो प्रतियों का जो विवरण दिया है, उसी के आधार से यह नोट लिखा गया है।

बम्बई,
२०-११-३९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गोम्मट-मूर्ति की प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल

[लेखक—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ]

श्रीयुत गोविन्द पै के मतानुसार 'श्रवणबेलगोल' के गोम्मट स्वामी की मूर्ति की स्थापना-तिथि १३ मार्च, सन् ९८१ है। बहुत कुछ संभव है कि यह तिथि ही मूर्त्ति की स्थापना-तिथि हो। क्योंकि भारतीय ज्योतिष के अनुसार 'बाहुबलि चरित्र' में गोम्मट-मूर्ति की स्थापना की जो तिथि, नक्षत्र, लग्न, संवत्सर आदि दिये गये हैं वे उस तिथि में अर्थात् १३ मार्च सन् ९८१ में ठीक घटित होते हैं। अत एव इस प्रस्तुत लेख में उसी तिथि और लग्न के अनुसार उस समय के ग्रह स्फुट करके लग्न-कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली दी जाती हैं और उस लग्न-कुण्डली का फल भी लिखा जाता है। उस समय का पञ्चांग-विवरण इस प्रकार है—

श्रीविक्रम सं० १०३८ शकाब्द ६०३ चैत्रशुक्ल पंचमी रविवार घटी ५६, पल ५८, रोहिणी नाम नक्षत्र, २२ घटी, १५ पल, तदुपरांत प्रतिष्ठा के समय मृगशिर नक्षत्र २५ घटी, ४८ पल, आयुष्मान् योग ३४ घटी, ४६ पल इसके बाद प्रतिष्ठा-समय में सौभाग्य योग २१ घटी, ४९ पल।

उस समय की लग्न स्पष्ट १० राशि, २६ अंश, ३९ कला और ५७ विकला रही होगी। उसकी षड्वर्ग-शुद्धि इस प्रकार है—

१०।२६।३९।५७ लग्न स्पष्ट—इस लग्न में गृह शनि का हुआ और नवांश स्थिर लग्न अर्थात् वृश्चिक का आठवाँ है, इसका स्वामी मंगल है। अत एव मंगल का नवांश हुआ। द्रेष्काण तृतीय तुलराशि का हुआ जिसका स्वामी शुक्र है। त्रिंशांश विषम राशि कुम्भ में चतुर्थ बुध का हुआ और द्वादशांश ग्यारहवां धनराशि का हुआ जिसका स्वामी गुरु है। इसलिये यह षड्वर्ग बना—

(१) गृह—शनि, (२) होरा—चन्द्र, (३) नवांश—मंगल, (४) त्रिंशांश—बुध, (५) द्रेष्काण—शुक्र, (६) द्वादशांश गुरु का हुआ। अब इस बात का विचार करना चाहिये कि षड्वर्ग कैसा है और प्रतिष्ठा में इसका क्या फल है? इस षड्वर्ग में चार शुभ ग्रह पदाधिकारी हैं और दो क्रूर ग्रह। परन्तु दोनों क्रूर ग्रह भी यहां नितान्त अशुभ नहीं कहे जा सकते हैं। क्योंकि शनि यहां पर उच्च राशि का है। अत एव यह सौम्य ग्रहों के ही समान फल देनेवाला है। इसलिये इस षड्वर्ग में सभी सौम्य ग्रह हैं, यह प्रतिष्ठा में शुभ है और लग्न भी बलवान् है; क्योंकि षड्वर्ग की शुद्धि का प्रयोजन केवल लग्न की सबलता अथवा निर्बलता देखने के लिये ही होता है, फलतः यह मानना पड़ेगा कि यह लग्न बहुत ही बलिष्ठ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसका कि फल आगे लिखा जावेगा। इस लग्न के अनुसार प्रतिष्ठा का समय सुबह ४ ब कर ३८ मिनट होना चाहिये। क्योंकि ये लग्न, नवांशादि ठीक ४ बजकर ३८ मिनट पर आते हैं। उस समय के ग्रह स्पष्ट इस प्रकार रहे होंगे।

नवग्रह-स्पष्ट-चक्र

रवि	चन्द्र	भौम	बुध	गुरु	शुक्र	शनि	राहु	केतु	ग्रह
११	१	२	१०	१	०	६	०	६	राशि
२४	२५	७	२	३	५	६	७	७	अंश
४३	४१	२६	५८	११	३६	१३	२१	२१	कला
१४	२५	४८	५१	३१	४२	५९	३७	३७	विकला
५८	७८२	४५	१०८	४	५६	२	३	३	गति
४५	५२	३७	५९	४१	५२	३१	११	११	विगति

यहाँ पर 'ग्रह-लाघव' के अनुसार अहर्गण ४७८ है तथा चक्र ४९ है, करणकुतूहलीय अहगण १२३५-९२ मकरन्दीय १६८८३२९ और सूर्यसिद्धान्तीय ७१४४०३९८४९५६ हैं परन्तु इस लेख में ग्रहलाघव के अहर्गण पर से ही ग्रह बनाये गये हैं और तिथि नक्षत्रादिक घट्यादि भी इसी के अनुसार हैं।

उस समय की लग्न-कुण्डली

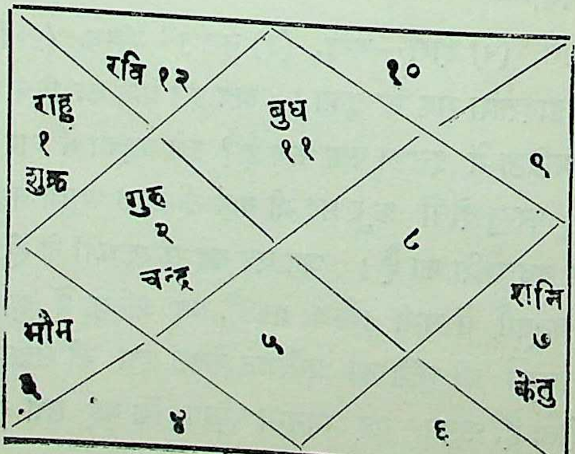

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय की चन्द्रकुण्डली

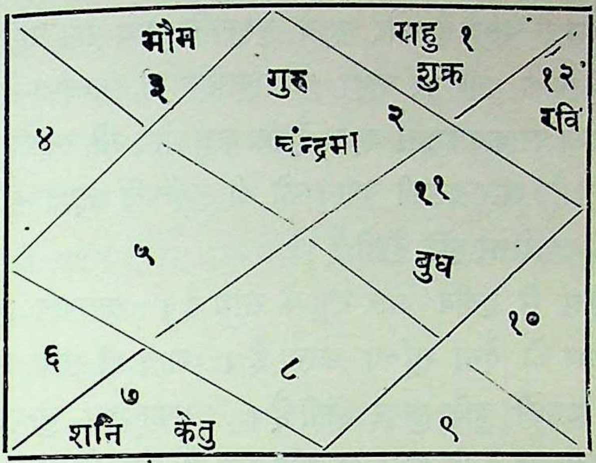

प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिये लग्नकुण्डली का फल

सूर्य्य—जिस प्रतिष्ठापक के प्रतिष्ठा-समय द्वितीय स्थान में सूर्य रहता है, वह पुरुष बड़ा भाग्यवान् होता है। गौ, घोड़ा और हाथी आदि चौपाये पशुओं का पूर्ण सुख उसे होता है। उसका धन उत्तम कार्यों में खर्च होता है। लाभ के लिये उसे अधिक चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। वायु और पित्त से उसके शरीर में पीड़ा होती है।

चन्द्रमा का फल—यह लग्न से चतुर्थ है इसलिये केन्द्र में है साथ ही साथ उच्च राशि का तथा शुक्लपक्षीय है। इसलिये इसका फल बहुत उत्तम है। प्रतिष्ठाकर्त्ता के लिये इसका फल इस प्रकार हुआ होगा।

चतुर्थ स्थान में चन्द्रमा रहने से पुरुष राजा के यहाँ सब से बड़ा अधिकारी रहता है। पुत्र और स्त्रियों का सुख उसे अपूर्व मिलता है। परन्तु यह फल वृद्धावस्था में बहुत ठीक घटता है। कहा है—

"यदा बन्धुगोबान्धवैरत्रिजन्मा नवद्वारि सर्वाधिकारी सदैव" इत्यादि—

भौम का फल—यह लग्न से पंचम है इसलिये त्रिकोण में है और पंचम मंगल होने से पेट की अग्नि बहुत तेज हो जाती है। उसका मन पाप से बिल्कुल हट जाता है और यात्रा करने में उसका मन प्रसन्न रहता है। परन्तु वह चिन्तित रहता है और बहुत समय तक पुण्य का फल भोग कर अमरकीर्त्ति संसार में फैलाता है।

बुधफल—यह लग्न में है। इसका फल प्रतिष्ठा-कारक को इस प्रकार रहा होगा—

लग्नस्थ बुध कुम्भ राशि का होकर अन्य ग्रहों के अरिष्टों को नाश करता है और बुद्धि को श्रेष्ठ बनाता है, उसका शरीर सुवर्ण के समान दिव्य होता है और उस पुरुष को वैद्य, शिल्प आदि विद्याओं में दक्ष बनाता है। प्रतिष्ठा के ८वें वर्ष में शनि और केतु से रोग आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो पीड़ायें होती हैं उनको विनाश करता है।*

गुरुफल—यह लग्न से चतुर्थ है और चतुर्थ बृहस्पति अन्य पाप ग्रहों के अरिष्टों को करता है तथा उस पुरुष के द्वार पर घोड़ों का हिनहिनाना, वन्दीजनों से स्तुति का हो आदि बातें हैं। उसका पराक्रम इतना बढ़ता है कि शत्रु लोग भी उसकी सेवा करते हैं; उस कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाती है और उसकी आयु को भी बृहस्पति बढ़ाता है। शूरता, सौजन धीरता आदि गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है।†

शुक्रफल—यह लग्न से तृतीय और राहु के साथ है। अत एव इसका फल प्रतिष्ठा ५वें वर्ष में सन्तान-सुख को देना सूचित करता है। साथ ही साथ उसके मुख से सुन्द वाणी निकलती है। उसकी बुद्धि सुन्दर होती है। उसका मुख सुन्दर होता है और व सुन्दर होते हैं। मतलब यह है कि इस प्रकार के शुक्र के होने से उस पूजक के सभी का सुन्दर होते हैं।‡

शनिफल—यह लग्न से नवम है और इसके साथ केतु भी है, परन्तु यह तुलाराशि का है इसलिये उच्च का शनि हुआ अत एव यह धर्म की वृद्धि करनेवाला और शत्रुओं को वश में करत है। क्षत्रियों में मान्य होता है और कवित्व शक्ति, धार्मिक कार्यों में रुचि, ज्ञान की वृ आदि शुभ चिह्न धर्मस्थ उच्च शनि के हैं।

---

* "बुधो मूर्तिगो मार्जयेदन्यरिष्टं गरिष्ठा धियो वैखरीवृत्तिभाजः।
जना दिव्यचामीकरीभूतदेहाश्चिकित्साविदो दुश्चिकित्स्या भवन्ति॥"
"लग्ने स्थिताः जीवेन्दुभार्गवबुधाः सुखकान्तिदाः स्युः।"

† गृहद्वारतः श्रूयते वाजिहेषा द्विजोच्चारितो वेदघोषोऽपि तद्वत्।
प्रतिस्पर्धितः कुर्वते पारिचर्यं चतुर्थे गुरौ तस्मन्तर्गतञ्च॥
—चमत्कारचिन्तामणि

सुखे जीवे सुखी लोकः सुभगो राजपूजितः। विजातारिः कुलाध्यक्षो गुरुभक्तश्च जायते॥
लग्नचन्द्रिका

अर्थ—सुख अर्थात् लग्न से चतुर्थ स्थान में बृहस्पति हो वे तो पूजक (प्रतिष्ठाकारक) सुखी, राजा मान्य, शत्रुओं को जीतने वाला, कुलशिरोमणि तथा गुरु का भक्त होता है। विशेष के लिये बृहज्जात १९ वां अध्याय देखो।

‡ मुखं चारुभाषं मनीषापि चार्वी मुखं चारु चारूणि वासांसि तस्य।
वाराही संहिता

भार्गवे सहजे जातो धनधान्यसुतान्वितः। नीरोगी राजमान्यश्च प्रतापी चापि जायते॥
लग्नचन्द्रिका

अर्थ—शुक्र के तीसरे स्थान में रहने से पूजक धन-धान्य, सन्तान आदि सुखों से युक्त होता है तथा निरोगी, राजा से मान्य और प्रतापी होता है। बृहज्जातक में भी इसी आशय के कई श्लोक हैं जिनका तात्पर्य यही है जो ऊपर लिखा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राहु फल—यह लग्न से तृतीय है अत एव शुभग्रह के समान शुभ फल का देनेवाला है। प्रतिष्ठासमय राहु तृतीय स्थान में होने से, हाथी या सिंह पराक्रम में उसकी बराबरी नहीं कर सकते; जगत् उस पुरुष का सहोदर भाई के समान हो जाता है। तत्काल ही उसका भाग्योदय होता है। भाग्योदय के लिये उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।*

केतु का फल—यह लग्न से नवम में है अर्थात् धर्म-भाव में है। इसके होने से क्लेश का नाश होना, पुत्र की प्राप्ति होना, दान देना, इमारत बनाना प्रशंसनीय कार्य करना आदि बातें होती हैं। अन्यत्र भी कहा है—†

"शिखी धर्मभावे यदा क्लेशनाशः
सुतार्थी भवेन्म्लेच्छतो भाग्यवृद्धिः।" इत्यादि

मूर्ति और दर्शकों के लिये तत्कालीन ग्रहों का फल—मूर्त्ति के लिये फल तत्कालीन चन्द्र-कुण्डली से कहा जाता है। दूसरा प्रकार यह भी है कि चरस्थिरादि लग्न नवांश और त्रिंशांश से भी मूर्ति का फल कहा गया है।

लग्न, नवांशादि का फल

लग्न स्थिर है और नवांश भी स्थिर राशि का है तथा त्रिंशांशादिक भी षड् वर्ग के अनुसार शुभ ग्रहों के हैं। अत एव मूर्ति का स्थिर रहना और भूकम्प, बिजली आदि महान् उत्पातों से मूर्ति को रक्षित रखना सूचित करते हैं। चोर, डाकू आदि का भय नहीं हो सकता। दिन प्रतिदिन मनोज्ञता बढ़ती है और चामत्कारिक शक्ति अधिक आती है। बहुत काल तक सब विघ्न-बाधाओं से रहित हो कर उस स्थान की प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। विधर्मियों का आक्रमण नहीं हो सकता और राजा, महाराजा सभी उस मूर्ति का पूजन करते हैं। सब ही जन-समुदाय उस पुण्य-शाली मूर्ति को मानता है और उसकी कीर्त्ति सब दिशाओं में फैल जाती है आदि शुभ बातें नवांश और लग्न से जानी जाती हैं।

---

* न नागोऽथ सिंहो भुजो विक्रमेण प्रयातीह सिंहीसुते तत्समत्वम्।
विद्याधर्मधनैर्युक्तो बहुभाषी च भाग्यवान्॥ इत्यादि

अर्थ—जिस प्रतिष्ठाकारक के तृतीय स्थान में राहु होने से उसके विद्या, धर्म, धन और भाग्य उसी समय से वृद्धि को प्राप्त होते हैं। वह उत्तम वक्ता होता है।

† एकोऽपि जीवो बलवांस्तनुस्थः सितोऽपि सौम्योऽप्यथवा बली चेत्।
दोषानशेषान्विनिहंति सद्यः स्कंदो यथा तारकदैत्यवर्गम्॥
गुणाधिकतरे लग्ने दोषेऽत्यल्पतरे यदि। सुराणां स्थापनं तत्र कर्त्तुरिष्टार्थसिद्धिदम्॥

भावार्थ—इस लग्न में गुण अधिक हैं और दोष बहुत कम हैं अर्थात नहीं के बराबर हैं। अत एव यह लग्न सम्पूर्ण अरिष्टों को नाश करने वाला और श्रीचामुण्डराय के लिये सम्पूर्ण अभीष्ट अर्थों को देने वाला सिद्ध हुआ होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रकुण्डली के अनुसार फल

वृष राशि का चन्द्रमा है और यह उच्च का है तथा चन्द्रराशीश चन्द्रमा से बारहवां है और गुरु चन्द्र के साथ में है, तथा चन्द्रमा से द्वितीय मंगल और दसवें बुध तथा बारहवें शुक्र हैं। अत एव गृहाध्याय के अनुसार गृह 'चिरंजीवी' योग होता है। इसका फल मूर्ति को चिरकाल तक स्थायी रहना है। कोई भी उत्पात मूर्ति को हानि नहीं पहुंचा सकता है। परन्तु ग्रह स्पष्ट के अनुसार तात्कालिक लग्न से जब आयु बनाते हैं तो परमायु तीन हजार सात सौ उन्नीस वर्ष, ग्यारह महीने और १९ दिन आते हैं।

मूर्ति के लिये कुण्डली तथा चन्द्रकुण्डली का फल उत्तम है और अनेक चमत्कार वहाँ पर हमेशा होते रहेंगे। भयभीत मनुष्य भी उस स्थान में पहुंच कर निर्भय हो जायगा।

इस चन्द्रकुण्डली में 'डिम्भाख्य' योग है। उसका फल भी अनेक उपद्रवों से रक्षा करना तथा प्रतिष्ठा को बढ़ाना है। कई अन्य योग भी हैं किन्तु विशेष महत्त्वपूर्ण न होने से नाम नहीं दिये हैं।

प्रतिष्ठा के समय उपस्थित लोगों के लिये भी इसका उत्तम फल रहा होगा। इस मुहूर्त में बाण पंचक अर्थात् रोग, चोर, अग्नि, राज, मृत्यु इनमें से कोई भी बाण नहीं हैं। अतः उपस्थित सज्जनों को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं हुआ होगा। सब को अपार सुख एवं शान्ति मिली होगी।

इन लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक में ज्योतिष-शास्त्र की दृष्टि से कोई भी दोष नहीं है प्रत्युत अनेक महत्त्वपूर्ण गुण मौजूद हैं। इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में लोग मुहूर्त, लग्नादिक के शुभाशुभ का बहुत विचार करते थे। परन्तु आजकल की प्रतिष्ठाओं में मनचाहा लग्न तथा मुहूर्त ले लेते हैं जिससे अनेक उपद्रवों का सामना करना पड़ता है। ज्योतिष-शास्त्र का फल असत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि काल का प्रभाव प्रत्येक वस्तु पर पड़ता है और काल की निष्पत्ति ज्योतिष-देवों से ही होती है। इसलिये ज्योतिष-शास्त्र का फल गणितागत बिल्कुल सत्य है। अत एव प्रत्येक प्रतिष्ठा में पञ्चाङ्ग-शुद्धि के अतिरिक्त लग्न, नवांश, षड्वर्गादिक का भी सूक्ष्म विचार करना अत्यन्त जरूरी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार "जैन एन्टीक्वेरी"

(भाग ५, अङ्क ३)

पृ० ६७-७४—प्रो० चक्रवर्ती ने तामिल साहित्य के अन्य लघु-काव्यों का परिचय कराया है। वे (१) यशोधरकाव्य (२) चूड़ामणि (३) उदयनन् कथै (४) नागकुमार काव्यम् (५) और नीलकेसी हैं। यह सब काव्य जैन कवियों की रचनायें हैं। यशोधरकाव्य के रचयिता के नाम-धाम का पता नहीं है।

पृ० ७५—७९ प्रो० घोषाल ने जैनसिद्धांत और जैनेतर साहित्य में 'मन' का परिचय कराया है। अथर्ववेद (कांड २१, अनुवक १-९-५) में पांच इन्द्रियों के अतिरिक्त मन को गिनाया है। इसका भाव यह नहीं हैं कि मन भी इन्द्रिय है। यद्यपि उपरांत के वैदिक साहित्य में मन भी इन्द्रिय माना गया है। 'वेदान्तपरिभाषा' में मन को इन्द्रिय नहीं कहा हैं। कठोपनिषद् (३।१०) में अर्थों को इन्द्रियों के परे और मन को भी इन्द्रियों के परे बताया है। 'वेदांतसूत्र' (२।४।२७) भाष्य में कहा हैं कि मन यद्यपि इन्द्रियों से पृथक् बताया है, परन्तु स्मृतियों के आधार से वह भी इन्द्रिय हैं। जैन न्याय में मन को अनिन्द्रिय अथवा नो-इन्द्रिय कहा है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि जैनी मन को इन्द्रिय नहीं मानते। शेष इन्द्रियों से वह भिन्न है।

पृ० ८१—८८ अशोक विषयक हमारी लेखमाला में आगे अशोक के लेखों से बताया है कि वह बौद्ध नहीं हुआ था। अशोक की स्टेटपॉलिसी जैनों की अहिंसा से बहुत सादृश्य रखती है। अशोक के लेखों के आधार से उसका जैनश्रद्धान बताया गया है। उसने जो स्तंभादि बनवाए वह जैनी चिह्नों सहित कई जैन स्थानों जैसे वैशाली, गिरिनार आदि में हैं।

पृ० ८९—९५ प्रो० शास्त्री ने प्रकट किया है कि भास्कर की किरण २ में प्रतिपादित वादीभसिंह को ११ वीं शताब्दी से कुछ पहले के विद्वान् होना चाहिये।

पृ० ९७—९९ प्रो० उपाध्ये ने कई जिनमूर्तियों के लेख छपाए हैं। उनमें से कई यापनाय संघ के हैं। यह मूर्तियाँ दिगम्बर जैन मंदिरों में विराजमान हैं।

—का० प्र०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-समालोचना

(१)

अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें

(१) जैनधर्म पर लोकमान्य तिलक का भाषण और प्रसिद्ध विद्वानों का अभिमत; पृष्ठ
(२) स्याद्वाद-परिचय ; पृष्ठ २८। (३) कर्मसिद्धान्त-परिचय ; पृष्ठ ४१।

इन तीनों पुस्तकों के लेखक श्रीयुत पं० अजितकुमार जी शास्त्री, मुलतान हैं। पुस्तकों विषय नाम से ही स्पष्ट है। विद्वान् लेखक ने अपने अभीष्ट विषयों पर संक्षेप में अच्छा प्रकाश डाला हैं। पुस्तकों का चाक-चिक्य, मुद्रण एवं कागज आदि भी सुन्दर हैं। ख कर इन पुस्तकों को अधिक संख्या में विना मूल्य जैनेतर विद्वानों में वितरण करने की ज़रूरत हैं। मैं जहाँ तक समझता हूं उक्त ग्रन्थमाला का भी यही ध्येय होगा। मैं आ करता हूं कि प्रस्तुत ग्रंथमाला में क्रमशः दशधर्म, द्वादश भावना, गृहस्थधर्म, निर्वाण, आवागम जैनियों की पूजा, आत्मज्ञान, ॐ की एकीकरण शक्ति आदि अन्यान्य विषयों की भी पुस्त प्रकाशित होती रहेंगी।

—के० भुजबली शास्त्री

(२)

कथा-कुसुमावली

लेखक—जयकुमार शर्मा ; पृष्ठसंख्या १३९ ; मूल्य—आठ आने। प्रकाशक—राव सखाराम दोशी, कल्याण पावर प्रेस, शोलापुर।

यह एक हाई इङ्गलिश स्कूल में पढ़ायी जानेवाली संस्कृत पाठ्यपुस्तक हैं। प्रणेता ने स्वरचित पद्य-द्वारा इसके प्रकाशक महोदय को ही समर्पित किया है। इसमें गद्य-पद्य दो हैं। गद्य लेखक का ही ज्ञात होता हैं, पर पद्य महापुराण, यशस्तिलकचम्पू, वर्द्धमानच आदि जैनपुराण एवं काव्य से उद्धृत किये गये हैं। इसमें "अकुतोभयो हि महावीरः" आ इक्कीस पाठ हैं। इनके अतिरिक्त वाक्यरचना की विशेषता और शब्दरत्नाकर (कठिन अर्थ सरल संस्कृत शब्दों का मराठी और हिन्दी में अर्थ) भी अङ्कित है। प्रारंभ में कई कृतवि प्रख्यात प्रोफेसर तथा संस्कृत पाठशालाध्यापकों के प्रशंसापत्र भी सन्निबद्ध हैं; जिनमें प्रस्तु पुस्तक की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है। उत्साही लेखक संस्कृत लिखने में सिद्धहस्त मालू पड़ते हैं। यों तो अंग्रेजी स्कूलों में पढ़ाई जानेवाली बहुतेरी संस्कृत-रीडरें मेरी नज़रों गुजरी हैं पर जैनपण्डितों में जैनशास्त्रानुसार संस्कृत-रीडर लिखने का आपका ही यह प्रथ प्रयास है। आशा है आपकी लेखनी से और भी उत्तरोत्तर विकसित रूप में संस्कृत पाठ्य पुस्तकें रचित होती रहेंगी। यों तो अशुद्धियाँ बहुत हैं, पर अन्त में अशुद्धि-पत्र लगा दिये गये हैं।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-ती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ६—वि० सं० १९९६, वीर सं० २४६६ एवं ई० सन् १९४०

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४)   विदेश में ४॥)   एक प्रति का १।)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

हिन्दी-विभाग—

१ अपभ्रंश साहित्य और जैनी !—['साहित्य-भ्रमर' ... ...

२ अणुव्रत-रत्न-प्रदीप—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एलएल० बी० ...

३ आचार्य नेमिचन्द्र और ज्योतिष-शास्त्र—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ

४ आचार्य वादिराज और उनकी रचनाएँ—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ...

५ कोपण—कोप्पल—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...

६ क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है ?—[श्रीयुत पं० जुगलकिशोर मुख्तार ...

७ क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं ?—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... ...

८ क्या पावागढ़ दिगम्बर तीर्थ है ?—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ...

९ गोम्मट स्वामीकी सम्पत्तिका गिरवी रक्खा जाना—[श्रीयुत पं० जुगल किशोर मुख्तार

१० गोम्मट-मूर्ति को प्रतिष्ठाकालीन कुण्डली का फल—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ... ...

११ जैन रामायण का रावण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...

१२ जैनसिद्धान्त-भवन, आरा का वार्षिक-विवरण ... ...

१३ जैनबिद्री अर्थात् श्रवणबेल्गोल—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल.बी.

१४ दक्षिण भारत के जैन वीर—[श्रीयुत त्रिवेणी प्रसाद, बी० ए० ... ...

१५ दाक्षिणात्य जैनधर्म—[श्रीयुत स्व० आर० ताताचार्य, एम० ए०, एल० टी० ...

१६ द्रौपदी के पञ्चपतित्व पर विचार—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...

१७ धम्मपद और श्वेताम्बर-जैनागम—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, बीकानेर ...

१८ धर्मशर्माभ्युदय की दो प्राचीन प्रतियाँ – [श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ...

१९ 'नय-विवरण' का कर्ता कौन है ?—[श्रीयुत पं० सुमेरुचन्द्र जैन, दिवाकर न्यायतीर्थ शास्त्री, बी० ए०, एल-एल० बी० ... ...

२० पाणिनि, पतञ्जलि और पूज्यपाद—[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ...

२१ भारतवर्ष के पतन का मुख्य कारण—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

२२ महाबाहुर्बाहुबली (पद्य)—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ...

२३ वीरनन्दी और उनका आचारसार—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४ वीरमार्त्तण्ड चावुण्डराय—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... २२९
२५ श्रावण कृष्णा प्रतिपदा की स्मरणीय तिथि और वीरशासन-जयन्ती—[श्रीयुत पं० परमानन्द जैन, शास्त्री ५५
२६ श्रवणबेलगोल एवं यहां की श्रीगोम्मट-मूर्ति—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... २०५
२७ श्रवणबेलगोल (पद्य)—[श्रीयुत कल्याणकुमार जैन, 'शशि' २१३
२८ श्रवणबेल्गोल के शिलालेख—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एम. आर. ए. एस. २३३
२९ श्रीनिर्वाणक्षेत्र गिरिनार—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० १७८
३० सम्राट् खारवेल का हाथीगुफावाला शिलालेख—[श्रीयुत प्रो० बेनीमाधव बारुआ, एम० ए०, डी० लिट् २५
३१ सार 'जैन एण्टीक्वेरी' (भाग ५, न० १)— श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ... १९७
३२ सार 'जैन ऐन्टोक्वेरी' (भाग ५, न० ३)—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन २६७

३३ विविध विषय— १ अपनी बात—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... १३३
२ उपदेश-तरंगिणी का गिरिनार-प्रकरण – [श्रीयुत कामता प्रसाद जैन ६०
३ 'जैन एण्टीक्वेरी' का सार (भा० ४, कि० ४) ,, ,, ... १३२
४ तेरापुर और कलिकुंड—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ६२
५ द्राविड़-संघ—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन ... ५९
६ नयविवरण के सम्बन्ध में—[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री १२३
७ शहर मुड़ासा कहाँ था ? - [,, बा० कामता प्रसाद जैन ... १२९
८ श्रीमाल नगर का एक शिलालेख— ,, ,, ... १३०
९ हिन्दी के दो हरिवंश पुराण— ,, ,, ... १२४

३४ साहित्य-समालोचना—१ अकलंक-ग्रन्थमाला की तीन पुस्तकें –[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री २६८
२ आत्मचिन्तन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ६६
३ कथा-कुसुमावली—[श्रीयुत पं० हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ २६८
४ ग्रन्थराज श्रीधवलसिद्धान्त का प्रकाशन—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण २००
५ जम्बूस्वामी चरित्र—[श्रीयुत कैलाशचन्द्र शास्त्री ... ६५
६ जैनधर्म का ह्रास क्यों—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ६७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७ जैनइतिहास (३रा भाग)—[पं० के० भुजबली शास्त्री
८ तत्त्वसार टीका (भाषा)—[पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री
९ दादा श्रीजिनकुशल सूरि—[पं० के० भुजबली शास्त्री
१० परमप्पपयासु (परमात्मप्रकाश) और जोगसार (योगसार) —पं० के० भुजबली शास्त्री ... ...
११ पंचकल्याण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ...
१२ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार [श्रीयुत पण्डित महेन्द्रकुमार जैन, काव्यतीर्थ ... ...
१३ सरल जैनधम (चारो भाग)—[पं० के० भुजबलो शास्त्री
१४ समाधितंत्र—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०,
१५ सर्वार्थसिद्धि—[श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ...

ग्रन्थमाला-विभाग—

१ तिलोयपण्णत्ती [श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ८१ से १०४ त
२ प्रशस्ति-संग्रह [श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १३७ से १६० त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. V MAR. 1940 No. IV.

Edited by

Dr. B. A. SALETORE, M. A., Ph. D.
Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CONTENTS.

Page

1. The Mastakābhishēka of Gommaṭēśvara at Śravaṇa Beḷgoḷa—*by* Dr. M. H. Krishna, M.A., D. Lit. (Lond) Director of Archaeology Mysore State 101
2. The Date of the Consecration of the Image of Gommaṭeśvara—*by* S. Śrīkaṇṭha Sastri, M.A. 107
3. Śravaṇa Beḷgoḷa—Its Secular Importance—*by* Dr. B.A., Saletore M. A. Ph. D. (Lond.) 115
4. Monastic Life in Sravaṇa Beḷgoḷa—*by* R. N. Saletore, M.A, Ph. D. 123
5. Date of Malayagiri Sūri—*by* P. K. Gode, M.A. 133
6. Beḷgoḷa and Bāhubali—*by* Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt ... 137
7. Sravaṇa Beḷgoḷa—*by* Prof. S. R. Sharma, M.A. 141
8. Bāhubaḷi Story in Kannaḍa Literature—*by* Prof. K. G. Kundangar, M.A. 144
9. New Studies in South Indian Jainism—*by* Prof. B. Seshagiri Rao. 147

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भास्कर

श्रवणबेलगोलस्थ श्रीबाहुबली की मूर्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. V, No. IV | ARRAH (INDIA) | March. 1940.

THE MASTAKĀBHISHĒKA OF GOMMAṬĒŚVARA AT ŚRAVAṆA BEḶGOḶA.

BY

Dr. M. H. Krishna, M A., D. Lit. (Lond) Director of Archaeology Mysore State.

Śravaṇa Beḷgoḷa is situated in 12°51′ north latitude and 76°29′ east longitude, about 8 miles to the south of Chennarāyapaṭṇa in the Chennarāyapaṭṇa Taluk of the Hāssan District of the Mysore State. Buses run daily to Śravaṇa-Beḷgoḷa from Hāssan and Mysore. The distance from Hāssan is 31 miles and the distance from Mysore is 62 miles. Both these roads to Śravaṇa Beḷgoḷa run through Chennarāyapaṭṇa and as the traveller passes this place, he observes a conspicuous hill, a few miles to the south, bearing on its summit what appears at first sight to be a column, but which on drawing nearer proves to be a colossal statue in the human form. This striking and unusual object, the image of Gommāṭēsvara, which is visible for miles around marks the site of Śravaṇa-Beḷgoḷa, the chief seat of the Jainas in South India from very early times The village lies picturesquely between two rocky hills one larger than the other which stand up boldly from the plain and are covered with huge boulders. "In the whole beautiful State of Mysore, it would be hard to find a spot, where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

If tradition is to be believed the history of Śravaṇa-Bel begins from the third century B.C. Chandragupta Maurya is to have taken a vow of renunciation in his old age and migr from his capital Pāṭaliputra in the north to Śravaṇa-Beḷgoḷa settled there with his guru Bhadrabāhu. Five hundred insc tions collected in and near Śravaṇa-Beḷgoḷa, which range in from 600 A. D. until recent times tell us that the place successively ruled by the Gaṅga, Rāshṭrakūṭa, Chālukya, Hoys Vijayanagara and Mysore rulers.

The great statue of Gommaṭēśvara, the object of Mastakābhishēka was erected in 983 A. D. by Chāmuṇḍarāya, minister of the Gaṅga king Rāchamalla IV. According to tradi Gommaṭa or Bāhubali was the second son of the first Tīrthank Purudēva. Even though he defeated his elder brother Bharata the war of succession, yet he generously handed over the kingd of the earth to him, retired from this world and attained emine as a great ascetic. Bharata set up a statue in honour of this sa in North India. But as this statue came to be surrounded by snal and as the place where it was situated was difficult to rea Chāmuṇḍarya set up a statue of Gommaṭa at Śravaṇa Beḷgoḷa.

The image is nude and stands erect facing north. The f is a remarkable one, with a serene expression ; the hair is cur in short spiral ringlets all over the head, while the ears are lo and large. The figure is treated conventionally, the shoulders bei very broad, the arms hanging straight down the sides, with t thumbs turned outwaras The waist is small. From the kn downwards the legs are somewhat dwarfed. Though not eleg the image is not wanting in majestic and impressive grandeur T figure has no support above the thighs. Up to that point i represented as surrounded by ant-hills, from which emerge serpen and a climbing plant twines itself round both legs and both ar terminating at the upper part of the arms in a cluster of berries flowers. The pedestal is designed to represent an open lot It is probable that Gommaṭa was cut out of a boulder which rest on the spot, as it would have been a work of great difficulty

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

transport a granite mass of this size up the oval hill side. It is larger than any of the statues of Rameses in Egypt.

The figure is standing with shoulders squared and arms hanging straight. Its upper half projects above the surrounding ramparts. It is carved in a fine-grained light-grey granite, has not been injured by weather or violence, and looks as bright and clean as if just from the chisel of the artist.

The face is its strong point. Considering the size of the head, which from the crown to the bottom of the ear measures six feet six inches, the artist was skilful indeed to draw from the blank rock the wondrous contemplative expression touched with a faint smile, with which Gommaṭa gazes out on the struggling world.

Gommaṭēśvara has watched over India for only 1000 years, whilst the statues of Rameses have gazad upon the Nile for more than 4000. The monolithic Indian saint is thousands of years younger than the prostrate Rameses or the guardians of Abu Simbal, but he is more impressive, both on account of his commanding position on the brow of the hill overlooking the wide stretch of plain and of his size. It is the biggest monolithic statue in the world. The height of the image is 57 feet:

The labour bestowed on this image is really astonishing and the image is on the whole a very successful piece of sculpture. The best part of the image is its face with its wonderful contemplative expression touched with a faint smile. The spirit of Jaina renunciation is fully brought out in this statue. The nudity of the image indicates absolute renunciation while its stiff and erect posture stands for perfect self-control. The benign smile on the face shows inward bliss and sympathy for the struggling world. In spite of its slight anatomical defects, the image looks majestic and impressive. Fergusson says "Nothing grander or more imposing exists anywhere out of Egypt and even there no known statue surpasses it in height."

The Mastakābhishēka or the head-anointing ceremony is performed only at intervals of several years and at great cost. The

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

earliest one on record took place in 1398 and the latest in 1925. The following account of the ceremony held in 1887 is quoted from Epigraphia Carnatica, Vol. 2 Śravaṇa Beḷgoḷa, pages 18—19.

"The 14th March last was the day of anointing for the statue of Gommaṭēśvara. It was a great day, in anticipation of which 20,000 pilgrims gathered there from all parts of India. There were Bengalis there, Gujaratis also, and Tamil people in great numbers. Some arrived a full month before the time and the stream continued to flow until the afternoon of the day of the great festival. For a whole month there was daily worship in all the temples, and pāda pūja or worship of the feet of the great idol besides. On the great day, the 14th, the people began to ascend the hill even before dawn in the hope of securing good places from which to see everything. Among them were large numbers of women and girls in very bright attire, carrying with them brass or earthen pots. By 10 o'clock all available space in the temple enclosure was filled. Opposite the idol an area of 40 square feet was strewed with bright yellow paddy on which were placed 1,000 gaily painted earthenware pots, filled with sacred water, covered with cocoanuts and adorned with mango leaves. Above the image was scaffolding, on which stood several priests, each having at hand pots filled with ghee, milk and such like things. At a signal from the Kolhāpur Svāmi, the master of the ceremonies, the contents of these vessels were poured simultaneously over the head of the idol. This was a sort of preliminary bath, but the grand bath took place at 2 o'clock. Amid the horrible dissonance of many instruments the thousand pots already mentioned were lifted as if by magic from the reserved area to the scaffolding and all their contents poured over the image, the priests meanwhile chanting texts from the sacred books. Evidently the people were much impressed. There were mingled cries of 'Jai Jai Mahārāja,' and 'Ahaha, ahaha,' the distinctive exclamations of Northern and Southern Indians to mark their wonder and approval. In the final anointing fifteen different substances were used, namely, water, cocoanut meal, plantains, jaggery, ghee, sugar, almonds, dates, poppy seeds, milk, curds, sandal, gold flowers, silver flowers and silver coin. With the gold and silver flowers there were mixed nine varieties of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

precious gems; and silver coin to the amount of Rs. 500 completed the offering."

The Gommaṭēśvara image is on the top of the hill called Vindhyagiri. On the way to the image, the following objects all ascribed by tradition to Chāmuṇḍarāya, arrest our attention. They are the Tyāgada Bramhadēva Pillar, which contains excellently carved work, Akhaṇḍa Bāgilu, a rock-cut doorway and the image of Guḷḷakāyajji, a lady who is said to have helped Chāmuṇḍarāya in the performance of the anointment of Gommaṭa

Opposite Vindhyagiri is the smaller hill known as Chandragiri which contains among other antiquities, the cave of Bhadrabāhu-svāmi, the guru of Chandragupta Maurya and numerous inscriptions relating to Bhadrabāhu, Chandragupta and other Jaina saints, the Chandragupta Basti, which contains interesting sculptures of Jaina mythological subjects, and the Chāmuṇḍarāya Basti, the largest and the most handsome temple on this hill.

The village which is situated between the hills Vindhyagiri and Chandragiri contains the Bhaṇḍāri Basti, the largest temple in the village enshrining the twenty-four Tīrthankaras, Akkana Basti, a fine temple in the Hoysaḷa style of architecture, the Jaina Maṭha, the residence of the Jaina Gurus, and a beautiful large pond or kalyāni which has given its name to the place. The neighbouring villages of Jinanāthapura (2 miles) and Kambadahaḷḷi (7 miles) contain Jain antiquities of much architectural and sculptural value.

The Government of His Highness the Mahārāja of Mysore have spared no pains either in the excellent upkeep of the glorious Jaina antiquities at Śravaṇa Beḷgoḷa or in providing all facilities to the lakhs of pilgrims who throng to the place at the time of important ceremonies. The intimate relations between Jainism and Mysore have been beautifully expressed by His Highness the Mahārāja of Mysore in his speech at the All-India Jaina Conference held at Śravaṇa Beḷgoḷa on 14th March 1925 at the time of the last Mastakābhishēka. "In welcoming this all-India gathering of Jainas to the land of Mysore, I cannot forget that this land is to them a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

land of pilgrimage, consecrated by some of the holiest traditions and tenderest memories of their faith. This is the holy spot sacred to the Muniśvara Gommaṭa whom tradition represents to have been the younger brother of Bharata, the eponymous Emperor of Bhārata-varsha. The land of Mysore therefore symbolises Gommaṭa's spiritual Empire as Bhāratavarsha stands for the Empire of his brother Bharata. But Jainism not only found a second birthplace and home n Mysore, Jainism repaid the debt. For Jainism if it did not create our Kannaḍa literature, inspired some of the noblest master-pieces of that literature in its early history ; and Jaina learned men have ever since continued to render signal service to it."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE DATE OF THE CONSECRATION OF THE IMAGE OF GOMMAṬĒŚVARA

BY

S Śrīkaṇṭha Sastri, M.A.

भद्रं भवत्वखिलधार्मिकपुण्डरीक-
षण्डावबोधनसुमित्रदिवाकराय ।
संसारसागरविचित्रनिमग्नजन्तो
र्हस्तावलम्बनकृते जिनशासनाय ॥

(*S. I. I.* IX *pt* I *no.* 387.)

The exact date of the consecration of the image of Śri Gommaṭēśvara has been discussed by several scholars, Dr. R. Shāma Śastrī in the *Mysore Archaeological Report* for 1923 made use of the date given in the *Bāhubali Carita* to substantiate his theory of the commencement of the Gupta era in C. 199-200 A. C. On the basis of the following verse :—

कल्यब्दे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे ।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार ।
श्रीमच्चामुण्डराजो बेलुगुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ॥

(*Bāhubali Carita* v. 64.)

Assuming that *Kalyabda* should have been a mistake for *Kalkyabda*, he calculated that the date would tally with Sunday, 3rd March, 1028 A. C. The defect in this calculation was pointed out by Dr. A. Venkata Subhayya. Some think that the date implied was probably 21st April, Sunday 980 A. C. when Mṛga śirā nakṣatra and kumbha lagna were current.[1] The *Ajitanāthapurāṇa* of Ranna was completed in Śaka 915, Vijaya, Kārtika, Nandīśvara day (26th October 993 A. C.), and it says that Attimabbe visited the image

1. If one reading is really Kalki, it is intrepreted as in the sixth century after Kalki and in the 8th year Vibhaba. But 980 A. D. is Vikrama according to southern and Vsha according to northern cycles.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of Gommaṭeśvara. Therefore it is clear that the image existed lo before that date. How far earlier has to be determined.

It is assumed that because Chāvuṇḍarāya in his *Adipura* does not refer to the installation of Gommaṭa, it must have tak place after the completion of the work. The date of the work given as follows :—

Nava Śata Saṁkhye yāge Śakakāla samam negald-Iśva-
rābdmu-

-tsavakaramāge Phalguṇa sitāṣṭami Rohiṇi
Somavāramem-

bivu śubhadangalāge paramōtṣavadim guṇa-
ratna bhūshaṇam

kavijana śēkharam baṛedu pustakakērisidam
purāṇaman ||

Dr. A Venkaṭa subbayya calculates that according to th southern reckoning the date would fall on Monday, February 18 978 A. C. when Rohinī was current. According to the northen cycle A. C 976 was Iśavara. Therefore the image of Gommaṭ may have been established between 976 and 993 A. D. Th nearest Vibhava occurs in 968 A. C. and Śukla panchmi falls o March 7th Saturday but the actual festival might have occured o the next day Sunday. Still we cannot attach much importance t this, nor to the absence of the mention of Gommateśvara imag in the Çāvunda Rāya purāna. In the previous Vibhava (908 A C Caitra Suddha panchmi falls on March 10 Thursday. In 907 A. C (Prabhava) the tithi occurs on a Sunday, March 10th. Dr. R Shama Sastri's date is really impossible for there is no evidenc that Cāmuṇḍa Rāya lived up to 1028 A D.

I wish to point out the existence of another clear referenc to the Gommaṭa image. In the *Mysore Archaeological Report* fo 1913-14 p. 28, an inscription at Chikka Hanasōge is given. I belongs to the time of the Ganga Eṛeya.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Ereya samudra vēṣṭitāvanige dharātalamam pratipāli
-suttamit-

-tereya mahārimaṇḍilakarin besegeyye vilāsa ëlge-
-yim

mereva karūran(?)endenisal āliporī stita samdhya
rindu van

derega samantu Kalneleya dēvara pāda payoruhan-
gaḷōḷ ||

Sthāvara jangama tirtham
bhāvisi peḷdāgaḷ orade Gommāṭa devar
sthāvara tirthan, Kalnele
Dēvar bhūvalaya dolagaṇa tirtham ||

Here Gommaṭa dēva is described as the fixed sacred place and Kalnela dēva as the moving sacred place in the Universe. This Kalnela dēva was the disciple of Ēḷacārya. He was called *āṣṭōpavasi* and set up the *nisidige* of his guru Eḷācarya and must have been the contemporary of Ereya. This inscription is assigned by R. Narasimhāchar to c. 910 A C. Another inscription in the same report at the same place (p. 38) refers to Nēmicandra (*c* 900 A. C) the disciple of Śrīdhara of Hanasōge vali, Dēsi gaṇa, Pustaka gaccha. E. C IV No 28 refers to Ēḷācārya of the same gaṇa and gachha as the disciple of Śrīdhara. Referring to Śrīdhara of Pustaka gachha of the Dēśi gaṇa are the following :—

Pūrṇa candra.
Dāmanandi.

Ēḷācārya.

Śrīdharācarya — Śrīdhara dēva [Kelnele dēva.]
Maladhāri dēva ... Divākara
Candrakirti. 1099 A. D. ... Jayakirti

Tamil tradition says that one Elāchārya was the guru of Tiruvalluvar to whom Kural is attributed, Hırālāl (*Cat, Skt. Pkt.* in C. P. and Berar) says' that Hēlacārya is the propagator of Jvālāmalini worship. *M.E.R.* 416 of 1929 says that Elacārya was a native of Hēma grāma near Nilagiri. (Ponūr in North Arcot.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In the Sūrastha (?) gaṇa (E. C. IV No. 19) we have

Anantavīrya
Bālacandra
Prabhācandra
Kalnele dēva
aṣṭōpavāsi
Hemanandi
Vinayanandi

Ēkavīra — Pallapandita (Pālyakirti 1118 A. C Abhimānadāni)

In I. A. XIV, one Ananta vīrya is said to have been the discip of Guṇa sēna who was the disciple of Vira sena. Ananta Vīrya is t contemporary of Rakkasa Ganga in Ś. 899 (977 A. C.) T Humcha inscription refers to Mārasimha Noḷamba Kulānta Guttiya ganga as the younger brother of Marula, his younger broth Rācamalla and his younger brother Govinda Nītimārga. Th his *kiriya* (younger ?) is mentioned as Satya Vākya Govindara who titles were Rakkasa Ganga, Vīramāratāṇḍa etc. Rakkasa Gang brought up the daughters of his younger brother Arumoḷidē and married one of them to Kāḍu veṭṭi. Ananta Virya may ha been the same as the author of *Parīkshāmukha Sūtra vṛtti*, in 975 A Therefore this Kelnele dēva must have been different from Kelne dēva the disciple of Ēḷacarya and the contemporary of Erega c. 910 A.D. If this Eṛega is the same as Eṛeyappa, Mahēndrāntal he must be placed between 907 and 913 A. D.

If, as indicated above, the consecration took place in a ye Vibhava, since 908 A. D. is a Vibhava and the details seem to re to 907 A. C. 10th March Sunday, this is most probably the d of installation as it falls in the reign of Eṛega.

But it should be investigated whether such an early date is conformity with the known facts about Cāmuṇḍa Rāya who w

Ec. VII *Sr.* 37 mentions one Anantavirya as the colleague of Maladh Śrīpāla dēva in Ś1069 (1147 A.C.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

responsible for the installation. Apart from a consideration of the existence of several Cāvuṇda rayas, it is usually assumed that Cāvinḍa rāya whose inscription is found near the image is the same as the author of *Cāvuṇda Rayapuraṇa.* The exploits of Cāvuṇda mentioned in the Kannada work seem to tally with those described in the incomplete inscription at Sravaṇa Beḷagoḷa (No. 281). The inscription says that on the orders of Indra, he defeated Vajjvala the younger brother of Pātāḷamalla and also took part in the wars with Noḷamba Rāja at Virōttamsapura. He frustrated the ambition of Chaladanka Ganga (?) In the Purāṇa he refers to victories over Rājāyta, Rācha, Gōvindarasa and Rāchaya who coveted the country. Further he mentions the places of battle, enemies and the titles obtained by time, in the him of Jagadēkavīra (Marasimha.)

Battle.	Enemy.	Title.
1. Khēḍaga ...	Vajjvala	Samara dhurandhara.
2. Gōnūr bayal ...	Nolambas	Viramārtāṇḍa.
3. Ucchangi Kōṭe ...	Rājāyta	Raṇa ranga Singa
4. Bāgeyūr Kōṭa ...	Tribhuvana Vira (the rival of Govindara) ...	Vairikula Kāla daṇḍa.
5. Fort of Nṛpa Kāma	Bāsa, Sivara, Kuṇanka ..	Bhuja Vikrama.
6.	Enemy who killed cāvunḍarāya's younger brother Nagavarma ...	Chaladanka Ganga.
7.	Gangara Bhaṭa Mudu Rāchayya.	Samara Parasu Rāma.
8	Jaṭṭigas	Pratipakṣa Rākkṣasa.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

His master was Jaga dēva Vira Nolamba Kulāntaka and his gu[ru] was Ajita Sēṇa of Śena gana, whose parampara is thus mentioned:

1. Vira Ṣēna I
2. Jina sena II (837 A.C.)
3. Guṇabhadra (897 „)
4. Sarvasādhu Bhaṭṭāraka.
5. Dharmasēna of Candrikāvāṭavāsa (*E.C. II*, No. 24 ?)
6. Kumara sēna of Mulgunda and Kopaṇa
   - Kanakasēna 903 A. C. (*J.B.B.O.R.A.S.X.* (*E.C. III* Mal 30 a[nd] sg. pt 1[4]
7. Nāgasēna (E. C. II no. 34 ?)
8. Vira Sēna II ... ... | Guna sēna
   - Guna sēna → Ananta virya 977 A. C. (con. Rakkasa Ganga, E. C. I. Cg. 4.)
9. Candra Sēna
10. Aryanandi (E. I. IV no. 15 ?)
11. Nayasēna (E. I. XVI. ?)
12. Ajita sēna (c. 974 A. C.)
    - Permādi (Chāvuṇḍa Rāya)
    - Anna
    - Kanaka sēna
      - Jinsēna III. → Mallishēṇa (1046 A.C.)
      - Narēndra Sēna, 1053 A.C. → Nayasēna sena)

In the *Cāritra* Sāra, Raṇaranga sinha calls himself the discip[le] of Jinasena.

In the *Gommaṭasāra* of Nemi candra Gommaṭa Rāya is sa[id] to have been the disciple of Ajita sēna, whose guru was Ajja (Ary[a]) Sēna. In the Karma Kāṇḍa, Ajita sēna Nemi Candra, Indranand[i] (c 975) Kanakanandi Abhayanandi, Viranandi, Śimmala gur[u] Indranandi (V. 16) are mentioned. And there is the specif[ic] reference to Dakkhiṇa Kakkuṭa Jina, established by Gomma[ṭa] Raya.

गोम्मटसंगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणोय ।
गोम्मटरायविणिम्मय दक्खिणकुक्कुडजिणो जयउ ।
गोम्मटसुत्तल्लिहणे गोम्मटरायेण या कयादेसी ।
सो राओ चिरं कालं णामेण य वीरमत्तण्डी ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

As regards Vajjvaḷa dēva (who is said to have been defeated by Mārasimha Noḷamba Kuḷantaka), one was the centemporary of Kṛshṇa III and Iṛiva Nolamba. *M.E.R.* 219 of 1932 mentions Vajjara dēva ruling Pulinādu under Kaṇṇadēva, where one Pṛthvirāma seṭṭi died at Mangala. *M.E.R.* 236 and 237 of 1932 also refer to Vajjara dēva ruling Pulināḍu, *M.E.R.* 580 of 1906 refers to Vajjala dēva of Embāḍi as a subordinate of Ballaha in Ś. 887 (965 A. D.). Therefore Vajjvaḷa dēva is not a Silāhāra as assumed by Fleet. (*E I. V* p 170 f. n. 5). But Cavuṇḍa defeated Vajjvaḷa on the orders of Indra Rāja. Mārasimha alo is said to have enabled Indra Rāja to enter his capital Mānyakhēta. Fleet assumed that Indra mentioned in the Sravaṇa Belagoḷa inscription was placed on the Rāṣṭrākuṭa throne by Mārasimha. But there is no evidence that Indra (IV) was ever crowned, because Cālukya Tailapa had successfully usurped the power. Therefore it is suggested that Mārasimha enabled Nityavarsha Indra III (915—917 A. C.), to became king (*Indian Historical Quarterly, June, 1930*). Therefore the Chief Vājjvala conquered by the order of Indra *IV* must have been a person of northern India, since Indra conquered Kanuj and Mahōdaya. This Vajjvala dēva may be Vajra Simha (Vairi Simha) Paramāra of Malwa, also called Vajraṭa (*E.I.* p. 237). He was deposed by the Prātihara Manipāla and fled to the Rāṣṭrakūta country. Mahīpāla invaded Kuntāḷa also but according to the evidence of the drama *Caṇḍa Kauśikam* the Karnātakas defeated him and occupied his country, According to Pampa's *Vikarmarjuna vijaya*, the Cālukya Chief Narasimha defeats Mahīpāla as a subordinate of India III. Therefore there is nothing improbable in Mārasimha and Cāvuṇḍa rāya being already active from 907 A. D.

If Eṛeyappa is Mahēndrāntaka Eṛeyappa, then the Chikka Hanasoge inscription referring to Kalnela dēva should also be placed in C 910 A.D. In Ś 829 Prabhava (907 A. D.) one Nāgavarma died fighting for Eṛeyappa and Ajavarma on the orders of Ganga fought with Noḷamba and died (*Jl.* 19 E.C.XI) Sk. 284, *E. C.* VII. mentions Vikramādityā Sāntarasa and Eṛeya Permāḍiya Sānta (?) in Ś. 825 (903 A. D.) as the subordinates of Kṛshṇa II. *Sr.* 147 *E. C.* III refers

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

to Permānaḍi Eṛayappa and to Kumāra sēna Bhaṭāra of Kalbappu tirtha. Fleet assigned Ereyappa to 901—938 A C. (*E.I. VI* p. 59 *Cd*. 74, *E. C.* XI. says that in Ś 890 Prabhava (968 A.D.) Jakki Sundari, the wife of Sūdraka, built a basadi in Kākambāḷe and the inscription mentions. Rāmacandra the disciple of Aṣṭōpavāsi Baḷacandra bhaḷāra, Khehara Sakti, Guṇacandra Kīrti, Nāganandi and Kumāra Kirti dēva. This *astopavāsi* was probably the same as Kelnele dēva the disciple of Ēlācārya. Since Indranandin's Jvālāmalini kalpa was written after Ēlācarya, and in the times of Rāṣṭrakūṭa Kṛshṇa III (939—966 A. D.), there is nothing to prevent Ēlācarya and Kaḷnele dēva being assigned to c. 900 A. C. and Nemicandra himself may have to be assigned to c. 925 A. C. Therefore it is highly probable that the image of Srī Gommaṭēśvara was installed in c. 907-8 A. C.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ŚRAVAṆA BELGOḶA—ITS SECULAR IMPORTANCE

BY

Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D. (Lond.)

As is well known Śravaṇa Belgoḷa has been considered by the Jainas all over India as one of their most sacred spots in this country. Indeed, its religious importance has been so great that few have ever cared to enquire of its secular position in the civic life of the people. It is the object of this paper to show how for centuries this sacred place of Jaina pilgrimage was also noted for its material wealth. The remarks that follow are based on some of the many inscriptions that have been discovered in and around Śravaṇa Belgoḷa.

"In the whole beautiful State of Mysore it would be hard to find a spot, where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here."[1] This opinion of a modern foreign traveller is certainly justified. For the Jainas, much more than the Hindus, had a rare conception of scenic beauty and a gift of selecting delightful spots which were suited for religous meditation as well as for furthering the cause of material existence. Śravaṇa Belgoḷa was essentially one such spot.

That even in the earliest times the Jainas were aware of this double-sided importance of their centres is evident from one of the oldest stone inscriptions on Candragiri or Cikkabeṭṭa at Śravaṇa Belgoḷa. This epigraph, which has been rightly assigned to about A. D. 600, informs us that the great Bhadrabāhu-svāmi, having learned from an omen and foretold in Ujjain a calamity lasting for a period of twelve years, led the entire *sangha* (or community) to the south. "and reached by degrees a country counting many hundreds of villages and filled with happy people, wealth,

1. Workman, W. H. and W. J., *Through Town and Jungle*, p. 80 (London, 1904) ; Narasimhacharya, *Epigraphia Carntica, II*, Intr. p. 2.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

gold, grain, and herds of cows, buffaloes, goats, and sheep." [2] In other words, when that celebrated Śrutakevali selected this southern centre for his *sangha*, he made it clear to the world that the Jainas were going to a region that was economically—as we would put it in our own days – self-sufficient and prosperous.

This economic importance Sravaṇa Belgōḷa maintained almost till own days, and lost it, as many hundreds of centres have lost because of the altered nature of the times and the onrush of the forces of the modern world.

An examination of the epigraphs ranging from the twelfth to the sixteenth centuries A. D will reveal that the commercial life of the people of Śravaṇa Belgoḷa was marked by some special features. The most noticeable of these was their intense devoutness and patriotism. In early and mediaeval times in the South, we note that patriotism went hand in hand with religion. The merchants of Śravaṇa Belgoḷa were no exception to this rule. We shall prove this from examples relating to all the merchants of that place and not to particular individuals. In about A. D. 1175, for example, all the merchants of Śravaṇa Belgoḷa, as is related in two stone

2. *Epigraphia Carnatica, ibid*, 1, p. 1. My assertion that this great Śrutakevali was the first Gaṇadhara (*Mediaeval Jainism.*, p. 3) has been called one of my 'conspicuous errors of facts' by a critic in the *New Indian Antiquary* for *May, 1939*, p. 132. I relied for this detail concerning the great Bhadrabāhu on Dr. R. Shama Sastry's *Mysore Archaological Report for 1923*, p. 26, para 67. It is a great pity that I did not cite this reference which, from the point of view of the above critic, may also have been a "conspicuous error of fact." On reading the review of my work sent in advance to me for insertion in the NIA, I wrote atonce to Dr. R. Shama Satry and received from him the following note in his letter dated 9th February 1939 :—" Bhadrabāhu was not really a Gaṇadhara, but out of respect he was spoken of as a Gaṇadhara in some Jaina manuscripts and I copied it, I do not now remember the no. of the manuscript……..." It will be evident to the reader, therefore, that in committing "a conspicuous error of fact," I have sinned in excellent company. As regards the other "conspicuous errors of facts" noted by the critic, I have dealt with them elsewhere, "in the interest of Jaina studies." B. A. S,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

inscriptions assigned to that date, pledged themselves to pay annually for as long as the sun, moon, and stars endure, certain specified dues, to provide for flowers for Gommaṭadeva and Pārśvadeva. These merchants, we may observe, were "endowed with all good qualities", and are said in the two inscriptions to have been "of the holy place Beḷuguḷa" It is interesting to observe in this connection that it was not only men who thus gave evidence of their devoutness, but women as well. One of the two records expressly relates that "To provide for flowers for Gummaṭadeva, all the merchants of the holy place Beḷuguḷa, including Gummi Seṭṭ's Dasaiya, Lokeya-Sahani's daughter Somavve and all the citizens (*samsta-nakharangaḷu*), having purchased certain lands (specified with their location) from the assembly, made over the same to the garland-maker as a perpetual gift.[3]

The merchants Mosaḷe, which seems to have been perhaps a neighbouring place, too, showed their devotion in a like manner. For in about A. D. 1185 the merchants of Mosaḷe pledged themselves to give annually, as a perpetual gift, certain specified amounts, for the eight kinds of worship of the Tîrthakaras set up by that large-hearted Jaina merchant leader of Śravaṇa Belgoḷa, Basavi Seṭṭi.[4]

The fact that Basavi Seṭṭi is called in one of the records the *vaḍḍa-vyavahāri* or Senior-most Merchant,[5] suggests that the merchants of Mosaḷe had gradations of honour amongst them. We can see this better when we examine a record which specifically mentions the highest civic official of Śravaṇa Belgoḷa. This inscription has been assigned to about A. D. 1179. It relates that Malli Seṭṭi, the *Paṭṭaṇasvāmi* (or Lord Mayor) of Gommaṭapura, along with Gaṇḍanārāyaṇa Seṭṭi and the group of chief merchants (*mukhyavāda nakhara-samūha*), having assembled made an agreement which is registered in the record. The broad-mindedness of the Śravaṇa Belgoḷa merchants is seen from the concluding lines of this epigraph

3. *Ibid*, 241, 242, pp. 103, 104.
4. " 236, p. 101.
5. " 235, p. 101.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

which run thus:—"May those persons who maintain this wi affection enjoy long life and great prosperity! The wicked ma who, without maintaining, violates this, shall incur the infamy having slaughtered on the site of Kurukṣetra and in Vārāṇāsi seve crores of eminent sages, tawny cows, and men learned in th Vedas."[6] Evidently to the generous Jainas of the middle ages the was no distinction between Kurukṣetra and Śravaṇa Belgoḷa, an the Vedas and the Jaina Sidhānta.

That the Jainas of Śravaṇa Belgoḷa were organized in commerci guilds is evident not only from the above records but also from th one following in which we have clear evidence of the corporate li of the merchants of that holy place. The inscription in questio has been assigned to about A. D. 1206. In this record the Jain *guru* Nayakīrti-deva, who is to be distinguished from his famou namesake, who is rightly called in the same inscription "the kin of asectics," is said to have given to all the merchants of the hol place Belgoḷa, in the presence of the *Senior Māṇikya-bhaṇḍāri* Rāma deva Nāyaka, the minister of the Hoysala king Someśvara Deva, charter which ran as follows :—

"For house-tax at Gommaṭapura, beginning from the yea Akṣaya and for as long as the moon, sun, and stars endure, the residents shall pay eight *haṇas* (once for all) as the capital on whic one *haṇa* can be realized (as interest), and live in peace. This includes the mills of oilmen. In case the imposts (named in detail) of the palace came to be levied, the *Acārya* of the place shall himsel pay and settle the matter; it is no concern of the residents. Those who violate the terms of this charter are destroyers of Dharma sthaḷa (which is evidently Śravaṇa Belgoḷa). If among the merchants of this holy place one or two, posing as leaders, teach the Ācārya deceit, and, causing confusion by taking one thing for another encourage him to covet a *hāga* and a *beḷe* and ask for more, they are traitors to the creed, traitors to the king, enemies of the Baṇanjigas gamblers (*nettagayaru*), perpetrators of murder and plunder. If knowing this the merchants are indifferent, they alone are the

6. *Ibid* 397, p. 169.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

destroyers of this charity and not the Ācārya and the wicked. If without the consent of the merchants one or two leaders enter into the Ācārya's house or the palace, they shall be traitors to the creed. With regard to privileges, former usage shall be followed. Those who destroy this usage shall incur the sin of having slaughtered tawny cows and Brahmans on the banks of the Ganges."[7]

From the above charter the following conclusions may be drawn;—Firstly, Śravaṇa Belgoḷa was a sort of a Free City, the house and mill taxes of which were collected not under orders from the Palace (*i.e.*, the king, or the State) but from the Ācārya of the place (*i.e.*, the Pontiff). Secondly, it was the Ācārya who was responsible to the State for the imposts of Government, and who leased the right of collecting taxes to the merchants-guilds. Thirdly, this was done in the presence of the highest official of the State – the minister—in order to make the agreement legal. Fourthly, the Ācārya, like his disciples, was intensely patriotic, as is evident from the clause relating to the treason to the king. Fifthly, there seems to have been evil persons in Śravaṇa Belgoḷa who, then as now, posing themselves as leaders looked to their own profit at the expense of both the holy place and the State. And, finally, the Jainas considered the Brahmans and Benares with the same reverence as they considered their *gurus* and Śravaṇa Belgoḷa.

How famous the merchants of this holy place were is evident from an inscription dated A. D. 1195 which informs us that they were "born in the eminent line of Khaṇḍali and Mūḷabhadra, devoted to truth and purity, possessed of the lion's valour, skilled in conducting various kinds of trade with many sea-ports, adorned with the famous three jewels, the merchants residing at the holy place Beḷuguḷa acquired celebrity on earth."

From the same inscription date A. D. 1195 we learn about another special feature of the commercial life of the merchants of Śravaṇa Belgoḷa. This is related to the very high place they occupied in the civic life of the people. The merchants of Śravaṇa Belgoḷa

7. *Ibid*, 333, pp. 140—141.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

were in charge of the religious endowments of that city. T same record informs us that the merchants of that centre "w the protectors of that Jinālaya" (*i.e.*, the famous Nagara Jinālaya Śravaṇa Belgola.[8]

Even in later ages the merchants of Śravaṇa Belgoḷa were charge of the public charities of that centre. Thus in about A. 1274 the jewel merchants and the *eḷavi* (?), it was agreed upo were to look after the charity which was made by some one who name is not mentioned in the record. But we are informed that perpetual endowment of four *gadyāṇas* was made as an act reverence to the memory of Medhāvi Seṭṭi of Bārakanūr, the l disciple of Prabhācandra Bhaṭṭāraka, with the condition that thre *maṇas* of milk should be supplied every day as long as the sun an the moon last.[9] In about the same year another endowment three *gadyāṇas* made by Keti Seṭṭi (descent stated), for the dai anointment of the god Gommaṭadeva, was also entrusted to t charge of the jewel merchants of Śravaṇa Belgoḷa.[10]

The extreme care with which they looked after the publ charities entrusted to their charge is proved by an inscriptio dated A. D. 1288. This inscription relates the following:—Tha all the jewel merehants of the holy place Beḷuguḷa and Jinanātha pura (Mosaḷe ?), agreeing among themselves, gave a deed a follows:—"For the repairs (of the temple) of the god Ādi of th Nagara-Jinālaya, temple vessele, etc., and services, all the mer chants of those two cities granted, with pouring of water, t continue for as long as the sun, the moon, and the stars endure *davaṇa* (?) at the rate of one *gadyāna* for every hundred *gadyāṇa* of *davana* received from either local men or foreigners, for the god Ādi." The concluding lines of this deed clearly prove the solidarity of the merchants, their intense patriotism, and thei honesty of purpose. "If any one denies or conceals (his income

8 *Ibid*, 335, p. 143.

9. „ 244, p. 104.

10. *Ibid*, 245, p. 104. *Cf* No. 246, dated also in about the same year for a similar example. Page 104—105.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

in this matter, his race shall be childless; he shall be a traitor to the god, a traitor to the king, and a traitor to the creed. The signature of all the merchants—Śrī Gommaṭa." [11]

That the merchants of Śravaṇa Belgoḷa asserted their rights when injustice prevailed is evident from another record dated A. D. 1296. In this inscription we have the interesting information of the assemblies of Jaina *gurus* and leaders remitting certain taxes, and the merchants utilizing the same for a benevolent purpose It relates that in A. D. 1296 the assemblies of the Mūla-saṅgha, consisting of *mahāmaṇḍalācāryas* and *rājagurus*, having remitted certain taxes, saying "We will not take any of these (five taxes, named), or any others, is respect of the *devadāna* wet and dry lands of the gods Gommaṭadeva, Kamaṭha-Pārśvadeva, and Devaravallabhadeva of Bhaṇḍārayayya's *basadi*, or (of the gods) of other *basadis*," all the jewel merchants of the holy place Beḷuguḷa, the *gauḍa-prajegaḷ* (citizen- representatives) of Kabbāhunātha-Aruvana, and others granted, for the enjoyment of Devaravallabhadeva, five *gadyāṇas* which a certain official named Śambhudeva had unjustly levied as *maḷabhraya* (a kind of tax) from that god's village of Hāḍuvarahaḷḷi. [12]

The existence of jewel merchants and their guilds for centuries at Śravaṇa Belgoḷa bespeaks great wealth and influence in that centre. But wealth brought with it pleasure and enjoyment, and this makes us refer to one more feature of Śravaṇa Belgoḷa. It is that referring to the existence of dancing girls in that city. These were in no way behind other citizens in their piety and large heartedness. An example of one such generous and devout dancing girl was that of Mangāyi. Two inscriptions, both of which are dated in about A. D. 1325, relate that she was the disciple of Abhinava Cārukīrti Paṇḍitācārya. She was "a crest-jewel of firm faith (in Jainism), and a crest-jewel of royal dancing girls." This devout dancing girl caused a famous *caityā'lya* named Tribhuvanacuḍāmaṇi

11. *Ibid*, 336 p. 144.
12. *Ibid*, 347, p. 150.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

to be built at Śravaṇa Belgoḷa.[13] For nearly two centuries the wonderful structure received public donations and charities. In about A. D. 1412 a citizen named Gummaṭaṇṇa of Gerasoppe repaired this basadi, along with four others, making gifts of food to one group of ascetics.[14] And in about A. D. 1500 the gauḍas (citizens) including Nāgagoṇḍa of Belguḷanāḍu and Kalagoṇḍa of Muttaga Honnenahaḷḷi, granted to the same Tribhuvanacuḍāmaṇi *basadi* the wet and dry lands of Doḍanakaṭṭe.[15]

13. *Ibid*, 339, 341, p. 145.
14. *Ibid*, 342, p. 145.
15. *Ibid*, 340, p. 145.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

MONASTIC LIFE IN SRAVAṆA BEḶGOḶA.

BY

R. N. Saletore, M.A. Ph. D.

Some light may be thrown on some features of monastic life of the Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa from the earliest times till the beginning of the 19th century, chiefly from inscriptions. Broadly their life may be divided into two spheres: religious and economic, the former, of course, depending on the latter in the sense that no monastic life or activity could either exist or survive without support from outside and this assistance was offered purely with the sole object of promoting the Jaina *Dharma*.

The Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa appear to have paid considerable attention to scholarship. *Muni* Pujyapāda, for instance, was incomparable in grammar, skilfull in *Siddhnta*, poetry, and prosody. Another Jaina *guru* Prabhacandra was a celebrated author in logic.[1] Kaḷadhantu Srīdhara Deva, was skilled in *mantras* and medicine,[2] while Meghacandra of the *śrī* Mūla Saṅgha, was in Siddhānta equal to Jinavriasena, in the six systems of logic like Akalanka and in all Grammar, Pūjyapāda.[3] Grammar, Poetry, Prosody, *Siddhānta*, Medicine and Logic appear, therefore to have been the principal subjects in which the monks of Sravaṇa Belgoḷa strove to achieve distinction and for which they devoted their quiet lives.[4]

These monks apparently lived in communities called *saṅghās*, of which, at least in Sravaṇa Belgoḷa, there were three if not four separate divisions. They were known as the Kelaṭūr[5], Mayūra,

1. *E. C.*, II; *Inscriptions* at *Sravaṇa Belgoḷa*, 40, p. 121. The references henceforth given are to the inscriptions given in this work.
2. 42, p. 123.
3. 47, p. 127.
4. *Cf.* Studies in the Nālanda Monastery, Shamans Hwui Li and Yen-Tsung. *The Life of Hiuen-Tsiang*, p. 112. (Beal).
5. 33, p. 119.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(which was probably the same as the Navilūra)[1] and the most important of all and perhaps the orignal, the śrī Mūla.[2] Little is known about the Kelatūra *Saṅgha* but of that of Navilūra mention is made of the great Anantamatī Guruva Nandi and his disciple Nandi *Munīsa*, who belonged to this congregation at various times. It is interesting to note that the Mayūra *Saṅgha* is called a *Grāma Saṅgha*, probably indicating its origin. But the most prominent of all these was evidently the śri Mūla, the leaders of which have traced their leadership to Mahāvīra and Bhadrabāhu. It was customary for them when addressed to be given their spiritual designation especially in contemporary inscriptions. Kukkuṭāsana Maladhāri Deva, for example, is said to have belonged to the Arhata Samaya, (which was from the beginning the Mūla *Saṅgha*) the Koṇḍakundānvaya, of the Desīya Gaṇa and the Pustakagachha. They had spiritual as well as lay disciples. The spīrtual disciple of this monk was the famous Subhācandra Siddānta Deva, while his lay follwer was Ganga Camūpati as is recorded in an epigraph dated A. D. 1117.[3]

One of the most important aspects of Jaina monasticism was the nature of their corporate of life, for it must be remembered that the Jaina monks lived in spiritual brotherhoods in select places. Bhadrabāhu is recorded to have arrived at "a country counting many hundreds of villages, completely filled with the increase of people, money, gold, grain, cows, buffaloes and goats."[4] In such places the Jaina monks lived, especially on the bounty of the pious rich as well the poor Grants of land were generally made at the request of the Jaina monks, although voluntary contributions were not unknown. A record of A. D. 670 reveals how a plot of land was granted at the request of one Arasi, obviously a Jaina monk and the details of the plot are also specified.[5] It is interesting to know how

1. 28, p. 118, 29. p. 119.
2. 27, 29, p. 118.
3. 45, p. 126.
4. 1, p. 115.
5. 24, p. 118.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

such grants were made from time to time. So early as A. D. 1131, one Siriya Devi, the daughter of Bala Deva *Daṇṇāyaka*, in order to provide in the Svati Gandha Vārṇa Jina temple at Belgoḷa, for the divine worship, gifts of food to the assembly of *rishis*, and for repairs, presented the village of Maṭṭa-Navile in Kalkaṇi-nāḍ and an irrigation garden of fifty *Koḷagas* in the middle plain of Gangasamudra. Deposting 40 *gadyaṇas* of gold and asking permission of the reigning king Viṣṇuvardhana Deva Hoysala, and washing the feet of her *guru* Prabhācandra Siddhānta Deva of the Śri Mūla *Saṅgha*, she made over this gift, free of all dues [1] From this record it may be inferred that such an award was made with a threefold object; the maintenance of divine worship, the livelihood of the Jaina monks, and the repairs of the *basadis* is which they lived. Not only arable, but also productive land was given, and if, as in this case, it was State property, (for all land in Karṇataka, at least, was not State property) it was granted after obtaining the formal sanction of the reigning king, and what is more important, free of all imposts. Some times such plots of land, with floral crowns (*hūvina paḍige*), were given over to the "hand" of the *Mahānāyakācārya.*[2] Land was actually purchased before a gift was made. Even so late as A. D. 1409, it is related how a *dānasāle* paddy field of one *khanḍuga* under the Gangasamudra tank of Belgoḷa was purchased (*kramavāgi koṇḍu koṭṭu*) by one Gummaṭa Deva "in the regular manner" in the presence of the chief citizens of Belgoḷa, and, after performing worship at the feet of the god, was given as a gift.[3] When such a grant of land was made to the Jaina monks of Sravaṇa Belgoḷa, its boundaries were clearly specified. In A. D. 1196, for instance, the limits of a plot were thus specified: "the *modaleri* garden, in the *voḷagere* to the left of the Nagara Jinālaya; six *saḷage* of pady field; below the pond before Udaka's house 10

1. 53, pp. 133-34.
2. 56, pp. 143-44. 89 p. 156. The date of this record is not verifiable.
3. 107 pp. 165-66; *Note*: This custom of bestowing endowments was in great vogue among the Buddhist monastries. The Nalānda monastery was very prosperous owing to such grants. *Cf.* Shamans Hwui Li and Yen-Tsung. op. cit. pp. 112-13.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

koḷagas of dry land, to the south of Keṭṭi Seṭṭ's street north of the Jinālaya, two houses, and in the row of shops...for two oil mills and a house 5 *haṇa.* for a wholesale store in the town, 3 *haṇa.* From this record it may be concluded first, that plots of land well-demacrated were given as grants, with their productive qualities clearly defined and secondly, that a graded levy was recovered from shops, oil-mills and houses. The inevitable consequence was two-fold: the Jinālaya received two steady types of income in kind as well as in cash.

It is possible to ascertain some more details of this cash recovery. For the eight kinds of worship, as a grant of A. D 1182 states the following dues were given by all the *Deśigas Nāḍigas* and *Nagartas*:—

For a load of grain	... ...	one *balla.*
„ „ pepper (chillies)	...	one *hāga.*
„ „ arecanut	... ...	one quarter.
„ „ turmeric	... ...	one *hāga.*
„ bundle of cotton	... ..	one *hāga*
„ „ women's clothes	...	one *hāga.*
„ load of betel leaves	...	one *hāga vīsa.*[2]

These charges reveal that the Jaina monks recovered for their monasteries two kinds of revenue: in cash and in kind, and both of these were charged on necessities, which means that the sources of income could not possibly fail and the charges most probably remained light. The dues were charged on specified loads, the sizes of which probably depended on circumstances and places. Sometimes for repairs, for instance, of the Adi Deva of the Nagara Jinālaya and other temple purposes, all the citizens of the Jinanāthapura at the Belgoḷa tirtha as in A. D. 128… all the citizens of both these towns, with pouring of water, decided to give at the rate of one *gadyaṇa* for every hundred *gadyaṇa* of profit obtained either from their own people or from foreigners. This implied that at times the people of the locality, not to mention

1. 130, p. 178.
2. 124, p. 172.
3. 131 (*b*) p. 178.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the outsiders who came to visit the place as well, had to pay *one per cent of their profit*, not of their income, and consequently the the charge could not have been heavy, especially as profit in commercial transactions may be characterised as rather an elastic type of income. Hence the revenue from this source could not possibly have been either steady or appreciably large.

Gifts of donations were also made by the pious followers. We are told that donations were made in the cloisters of the holy Belgoḷa. A record of A. D. 1196 states that in such a place the citizens of Mosaḷe bound themselves to give every year amounts ranging from one *pāga* to five *pāgas*.[1] Sometimes the jewellers of Belgoḷa, as is revelaed in an epigraph ascribed to the year A. D. 1181, promised to pay an annual contribution of one *tā* per *tola* for the coral and one *vīsa* for the sapphires sold.[2] This practice of voluntary contributions became an established custom through the centuries. In the eventful year A. D. 1368 when Bukka I of Vijayanagara reconciled the Jainas with the Śri Vaiṣṇavas, it is recorded that throughout the whole of the kingdom (probably Belgoḷa) "according to their doors," house by house, the citizens gave one *faṇam* for the personal protection of Gomaṭesvara at the holy *tīrtha* of Belgola.[3] As the Kanarese expression reveals (*bāgilu daṭṭaṇeyāgi mane manege varṣakke 1 haṇa koṭṭu*),[4] such a charge may be called a door-levy, which should not be confused with the house-tax (*mane-dere*) which will be referred to later.

The Jaina congregation took every care to see that these gifts in cash and kind were properly administered, for these were invariably given as though in perpetual trust to the Jaina god-head. A record of A. D. 1180 shows how, having constructed a tank called Nāgasamudra and planted a garden, some disciples of the mortgagers, who are named, gave up the garden and the land to one

1. 99, p. 160.
2. 86, p. 156, text, p. 70.
3. 91, pp. 159 : this date is not verifiable.
4. 136, p. 181.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Nāgadeva Heggaḍe, who presented it to Śri Gomaṭa Deva.[1] In order to keep in tact the award so made, sometimes formal agreements were made between the Jaina monks on the one hand and the donors on the other. Such a pact can best be illustrated by an example. In A. D. 1280 the officiating priests (*pūjakārigaḷuoḍambaṭṭu*) of the Nakhara Jinālaya, made the following agreement with all the citizens of the Beḷgoḷa *tīrtha*. The wet and dry lands of this temple were to be cultivated and "devoting the produce to the eight kinks of worship of the god (we) will make without fail the offerings appointed by the citizens. *Whoso of our family shall sell, mortgage or give on contract the wet and dry lands bestowed upon the god, is a traitor to the king and a traitor to the congregation.* Thus have we agreed and written."[2] Therefore such a pact implied that it was binding on the priests to observe unfailingly the appointed rites and not to either sell, mortgage or give on contract any of the gifted lands. The income and expenditure of such properties must have been watched as can be inferred from an inscription, dated A. D. 129?. In this year the assembly of the Śrī Mūla *Saṅgha* decided first, that whatever they had been obtained as income from the paddy-lands and dry-fields, together with the waste land, the fire-wood, leave decay of the *basadi* house and so forth, was to continue in tact. Secondly, all the jewel-citizens (jewellers) of Beḷgoḷa, the farmers and subjects, ordained that five *gadyaṇa*, which a certain Śambhu Deva had *unlawfully* disposed of to Srī Vallabha Deva's Hāḍuvarahaḷḷi, should be expended on the festivals of those gods and that the eight rights of possession, with the petty taxes (*kirkuḷa*), whatever they might be of that village, should be expended on the festivals of those gods and Vallabhadeva. Such a decision implied that wrongful appropriation from one head to another head of account was not tolerated and was branded as "*unlawful*" (*anyāyavāgi maḷabrayavāgi*).[3] Moreover it meant that income from one specified plot of land was to be

1. 122, p. 172.

2. 134, p, 178, texi p. 99 : ātu mādipadam rāja d(r)ohi samay d(r) Drohigalendu ...... Italics mine.

3 137, (c), p. 183.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

expended on that plot alone and to no where else, thus bringing into common use the vital principle of self-sufficiency, which was so essential in maintaining the corporate life of the Jaina *Saṅgha.*

Some further details of such an agreement can be made out from a grant of A. D. 1266 when a settlement was made between the Jaina *Saṅgha* of Sṛavaṇa Belgoḷa and the local merchant devotees. In this year Nayakīrti Deva set down, for all the Nagartās of Gomaṭapura, in the presence of the senior treasurer (*hiriyamāṇikya bhanḍāri*) Rāma Deva Nāyaka, Minister of Someśvara Deva, son of Vīra Ballāḷa II, the following decree :—

(*a*) For (each ?) house in Gomaṭapura the *monied* were to pay 8 *haṇa* on their stock (or capital) and remain in peace.

(*b*) Among the mills of oil-mongers, *whatever justice or injustice of the palace*, (whatever) loss or expense may come, the *Ācārī* of that place must himself stipulate and recover the dues : there was to be no charge on families.[1]

From this order it may be concluded that, in the thirteenth century, the monks of Sravaṇa Belgoḷa charged and recovered the house-tax (*mane dere*) and the oil-mongers dues (*teligāra-gāṇa.*) As the house-tax was recovered only from the wealthy, it could not have affected the poor. But, on the other hand, despite the dues of the king, whether legitimate or not, whether they made a profit or suffered a loss, the oil-mongers were obliged to pay the stipulated dues which, unfortunately, appear to have been left to the discretion of the local *ācārī*, who perhaps was expected to know the local conditions better than the monastery officials entrusted with the recovery of the other dues. When such a charge was imposed the tax on families as units was exempt, which shows that the Jaina monks did not dare to stretch the weapon of taxation too far.

1. 128, p. 176 : Āgi haṇa-vondara modalinge……haṇa vondara modalinge enṭu-haṇavau sukhav ipparu-teligāra gāṇa voḷagāgi aramaneya nyāyav anyāyam oḷa-braya ēnuṁ bandaḍam *ā sthaḷadācāryyaru tāve tettu nirṇṇasivaru ;okkala kāraṇa kathey illa.*—*Note* : I have changed the translation of the lines underlined, as I nsider my interpretation to be clearer.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

It is interesting to note how the Jaina monks took stringent steps to see that none of these measures was transgressed with impunity. This decree further laid down that "if, transgressing the regulations of this order, one or two among citizens of this *tīrtha*, becoming leaders, give bad advice to the *ācāri* to ask for a reduction in the rate, they are traitors to the congregation and traitors to the king. The guild of merchants will not cast lots, nor demolish the long established customary fees. If knowing this, the Nagartas discard it, the Nagartas themselves are the destroyers of the charity: moreover, the *ācāri* and the wicked are not its destroyers. If one or two head men, without the consent of the Nagartas, enter into the house of the *ācāri* or into the palace, they are traitors to the congregation. For free grants and remissions they will follow the old customs."[1] Consequently transgression of the established regulation was declared illegal No reduction in the rate once fixed after agreement was allowed and if any one dared to make such an attempt it was met with the highest punishment which the congregation could possibly give: excommunication from the *Saṅgha*, as such an action was condemned as treason. Again, if any of those who had bound themselves, well knowing it, dared to do such an action they, and not either the *ācāri* or the really guilty, were to be considered traitors to the trust. These *Nagartas* were not even allowed to go either into the house of the *ācāri* or the royal palace, evidently to exert any influence in making any alteration in the charges once fixed and if they did so they were branded as traitors to the congregation. This however, did not mean that no reduction or remission would be granted, for in this as well as in others, established usage was not forgotten and precedent not lost sight of, as such precedents must have formed a code of case-law.

1. 128, p. 176, text. p. 96: I tīrtha nakharaṅgaḷoḷage vobbar-ibbaru grāmaṇigaḷāgi ācāryarige Kauṭilya—buddhiyaṁkalisi vondak onda nenadu toḷasāṭavam māḍi hāga beḷeyam aḷihi beḍikoḷḷiy endu ācāryyarige manam gottaḍe avaru samaya droharu rājadroharu baṇajiga pageyaru nettagayaru kole-kavartteg oḍeyaru. idam aridu nakharaṅgaḷu upeksisi dar ādaḍe ī-dharmmar nakharaṅgaḷe keḍisidavar allade ācāryyara durjanarum keḍisidavar alla lokkaḍe samaya droharu manya mannaṇeya pūrvva maryyāde naḍasuvaru,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Despite all these regulations and the great care which the Jaina priests administered to preserve their endowments, the monks themselves sometimes went against their own interests and laws and in the bargain brought stark bankruptcy on their heads. In such a crisis they appealed to the king, who invariably succeeded in bringing their dilapdiated finances into some order. So late as A. D. 1634 the priests of Sravaṇa Belgoḷa were actually faced with such a crisis. The priests, says the record, "on account of their various troubles mortgaged to the merchant-householders the endowments made for the worship of Gummaṭanātha swāmi of Belgoḷa of of the gods" and the mortgage-holders enjoyed possession of these properties for a considerable time. Then came the crisis when Cāma Rāja Voḍeyar Ayya of Mysore, inquired into the matter, sent for the merchant house-holders and said: "*The loans which you have made to the priests we will pay and discharge.*" On hearing this they said, that merit might acrue to their parents, they would make a gift of those loans, with the "pouring of water." Then in the presence of all the priests and the merchant-house-holders, the god and *guru* being witness, this release from a long-standing public debt was proclaimed and sanctified. But in order that history might not repeat itself, it was decreed that in future, whosoever of the priests mortgaged the endowments or granted a mortgage thereon, would be excommunicated from their religion and would have no claim to place and property.[1]

Such security and management of finances would not have been possible without the maintenance of proper accounts and adequate financial administration. The Jaina monks must have had some officials in charge of their treasury and their accounts. A grant of A. D. 1117 refers to the head of the treasury of Narasinha II who was styled as the *Bhanḍārādhikṛta* Huḷḷa while mention is made of the head of the accountants called *Karaṇotsāhi* Nila.[2] Under the latter officer, it may rightly be supposed that there must have been

1. 140, p 185, text p. 111.
2. 42, p. 123. On the activities of this great general, See Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 140-45

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

several assistants and the accounts section must have formed the main department of finance in the Jaina monastry at Sravana Belgoḷa. Of course, there were some other officials as well; mention is made of the writers (*lekhaka*) and the engravers (*āc...*) who were entrusted with the publication of the *basadi* inscriptions.[1]

Here, within the sacred precints of the *basadi* the Jaina priests lived and passed away. Their practice of *sallekhana* must have been an extremly trying and difficult feat to men as well as women who perished in this way. In A. D. 1131 one Māciyabbe "with eyes half closed, repeating the five words (or phrases),[2] glorious with meditating on Jinendra, magnanimous in parting from relatives, absorbed in the vow of a *sanyāsi*", perished.[3] Those who were so resolved starved from three days to one month,[4] at the end of which they must have succumbed. Great was their faith for they always cried out: "Māy the honourable supreme profound *syād-vāda*, a fruit-bearing token. the doctrine of the lords of the three worlds, the Jaina doctrine, prevail."

1. 44, p. 125.

2. *Note*: they are: *Namo Arahantāṇam*: Namoh *sidhāṇam*: *Namoh āyuy...ṇam*: *Namoh ovaj-jhāyāṇam*: *Namoh lō sabba sāhuṇam.*

3. 53, p. 132.

4. 54, p. 140; 55. p: 144; 13. p. 117; 5, 8, p. 116. *Note*:—This religious death is described by Āyita Varmma in his *Ratna Karanḍaka*. It seems to have prevailed in the Roman Empire and among the Albigenses it was called *Endura Cf.* Lecky, *History of Morals in Europe*. I, p. 231, II, p. 52.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

DATE OF MALAYAGIRI SŪRI

BY

P. K. Gode, M. A.

Winternitz[1] in his *History of Indian Literature* states that a MS of Malayagiri's Commentary on *Karmaprakṛti* is dated *1395 A. D.*, a MS of the Commentary on the Nandi Sūtra is dated *1235 A D.*, a MS of the Commentary on the Vyavahāra Sūtra is dated 1253 A.D. Peterson [2] refers to the several works of Malayagiri and states that this writer's *Śabdānuśāsana* was written in the reign of Kumārapāla. Kielhorn [3] states that one of Malayagiri's works was composed in Kumārapāla's reign between 1143 and 1174 A.D. I wonder why Winternitz has not recorded the above date for Malayagiri as given by Kielhorn and referred to by Peterson. In case he had any doubts in accepting the date given by Kielhorn we shall have to see if these doubts are justified on the strength of other evidence in support or against Kielhorn's date for Malayagiri.[4]

In the *Catalogue of Manuscripts* in the Jain Bhandars at Patan there are certain dated MSS. of works, the author of which is stated to be Malayagiri. These MSS. may be recorded as follows with their dates :—

Page.	Work.	Saṁvat.	A. D.	Place of Deposit.
22	षडशीति (सटीक) मू० जिनवल्लभ टीका of मलयगिरि ।	1332	1276	Saṅghavi Pāḍā Bhāṇḍār.
43	षडशीति वृत्ति by मलयगिरि ।	1258	**1192**	Do.
94	संग्रहणी वृत्ति by मलयगिरि ।	1290	1234	Do.
98	सप्ततिका टीका by मलयगिरि ।	1221	**1165**	Do.
201	चंद्रप्रज्ञप्ति टीका	1480	1424	Do.

1. *His. of Ind. Lit.*, Vol. II, 1933 (Calcutta Univ.) p. 592 fn. 2.
2. *Fourth Report*, 1894, Index of Authors p. lxxxviii.
Works of Malayagiri mentioned by Peterson are :—
(1) व्यवहारसूत्रटीका, । (2) पञ्चसंग्रहटीका । (3) नन्द्यध्ययनटीका । (4) कर्मप्रकृतिटीका । (5) सप्ततिकाटीका । (6) प्रज्ञापनासूत्रटीका । (7) चन्द्रप्रज्ञप्तिसूत्रटीका । (8) सूर्यप्रज्ञप्ति टीका । (9) शब्दानुशासन ।
3. *Report on Palm-leaf MSS* (1880-81), p. 45—Kielhorn observes :—" The instance अदहदरातीन्कुमारपालः on folio 255(b) proves that the work was composed in the reign of Kumārapālā *between 1143 and 1174 A. D.*"
4. Compiled by Dalal and Gandhi, Baroda, Vol. I, 1937..

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Page.	Work.	Samvat.	A. D.	Place of Depo
202	सित्तरिवृत्ति by मलयगिरि ।	1462	1406	Sanghavi Pa Bhāṇḍār.
232	धर्मसङ्ग्रहणीटीका by मलयगिरि ।	1437	1381	Do.
231	सूर्यप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि ।	1481	1425	Do.
239	चंद्रप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि ।	1483	1427	Do.
311	आवश्यकवृत्ति by मलयगिरि ।	1446	1390	Sangha Bhāṇḍ
397	कर्मप्रकृतिवृत्ति by मलयगिरि ।	1331	1275	Tapāgachha B ṇḍāra (Phop lia Wada).

In *the Catalogue of Jesalmere MSS*[1] we find the following dat MSS. of works ascribed to मलयगिरि —

Page.	Work.	Samvat	A. D	Place of Depo
18	आवश्यक बृहद्वृत्ति by मलयगिरि ।	1491	1335	Big Bhāṇḍāra Jesalmere.
43	राजप्रश्नीयवृत्ति by मलयगिरि ।	1488	1432	Do.
23	चंद्रप्रज्ञप्तिटीका by मलयगिरि ।	1488	1432	Do.
42	जीवाभिगमवृत्ति by मलयगिरि ।	1489	1433	Do.
13	नंदीटीका by मलयगिरि ।	1488	1432	Do.
39	पिंडनियुक्तिवृत्ति by मलयगिरि ।	1489	1433	Do.
41	पिण्डनिर्युक्तिवृत्ति by मलयगिरि ।	1289	**1233**	Do
36	व्यवहारवृत्ति by मलयगिरि ।	1490	1434	Do.
37	बृहत्कल्पपीठिका by मलयगिरि ।	1378	1322	Do.
18	व्यवहारवृत्ति by मलयगिरि ।	1490	1434	Do.
35	संग्रहणीटीका by मलयगिरि ।	1296	1240	Do.
24	सूर्यप्रज्ञप्तिवृत्ति by मलयगिरि ।	1489	1433	Do.

1. By C. D. Dalal, Baroda. 1923.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

It will be seen from the two foregoing tables of dated MSS. ascribed to Malayagiri that they were copied in the years A. D. *1165*, *1192*, *1233*, *1234*, 1240, 1275, 1276, 1322, 1335, 1381, 1390, 1406, 1424, 1425, 1427, 1432, 1433, 1434. The earliest dated MS. of Malayagiri's work recorded by Winternitz is dated A. D. *1235* while in the above chronological tables we have four MSS. of Malayagiri's works[1] bearing dates earlier than A. D. 1235 *viz.*, A. D. *1165*, *1192*, *1233* and *1234*. According to Kielhorn Malayagiri wrote during King Kumārapāla's reign *i.e.*, *between A. D. 1143* and *1174*. This statement, though not mentioned by Winternitz and accepted, appears to be corroborated by the dates A. D. *1165* and *1192* of Malayagiri's two works सप्ततिकाटीका and षडशीतिवृत्ति. We may, therefore, safely fix A. D. 1165 as one of the limits for the date of Malayagiri, the other limit being about A. D. 1050 as will be seen from the following evidence :—

Malayagiri in his Commentary on the *Āvaśyakasūtra* mentions Prajñyākaragupta and quotes a verse[2] from his work as follows :—

"उक्तं च प्रज्ञाकरगुप्तेन—

"यथा वा प्रेर्यते तूलमाकाशे मातरिश्वना ।
तथा शब्दोऽपि किं वायोः प्रतीपं कोऽपि शब्दवित् ॥"

This appears to me to be a quotation from one of the Sanskrit works of Prajñākara Gupta who was a Buddhist logician belonging to *about 940 A. D.*[3] It may be possible for students of Buddhist

1. For the names of works of Malayagiri vide *Jain-Granthāvali*, pp. 4, 6, 8, 10. 14. 18, 20, 40, 42, 64, 100, 115, 117, 119, 120, 125.

2. Vide folio 29a of the Pothi Edition of the Āvaśyakasūtra with Malayagiri's Commentary (Āgamodaya Samiti No. 56) 1928.

3. Vide p. 336 of the *History of Indian Logic* by S. Vidyabhushan, Calcutta, 1921. Prajñākara Gupta lived at the time of Maha Pāla, who died in 940 A D. He wrote the following works :—

1. *Pramāṇavārtikālamkāra*, a commentary on the *Pramāṇavārtika* of Dharmakīrti. Vidyabhushan states that the Sanskrit original of this work of P. Gupta appears to be lost. Recently, however, the work has been recovered and edited by Rahula Sankṛtyāyana in the *Journal of the Bihar and Orissa Res. Soc.* Vol. XXI, Part II (1935). There is also a Tibetan translation of the work.
2. *Sahāvalambaniścaya*—The Sanskrit original of this work also appears to be lost according to Vidyabhusan but there exists a Tibetan translation.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

literature to trace the above verse in P. Gupta's one of the t[wo] Sanskrit works."[1] If the author of the name Prajñākara Gup[ta] mentioned by Malayagiri is identical with the celebrated Buddh[ist] logician of that name we may safely fix A. D. 1050 or so as t[he] other limit to the date of Malayagiri. It would thus be seen that t[he] date of Malayagirisūri may be taken to lie *between A. D. 11[00] and 1175.*[2]

1, One of these two works viz., the *Pramāṇavārttikālamkāra* has be[en] fortunately recovered for us by Rāhula Sānkṛtyāyana [Vide p. 42 of *Jour. B[ihar] and Orissa Res. Soc.* Vol. XXI (March 1935)]. The MS described by h[im] consists of 59 leaves and contains Chapters II and III of the work. This [MS] has been published in the June 1935 issue of the above journal (pp. 1 to 15[8]). The published portion is fragmentary as it begins from the *Kārikā 330* of t[he] text (vide p. 63). It ends with *Kārikā 539* (p. 158) and is called प्रत्यक्षपरि[च्छेद] *Cf* Colopon "प्रमाणवार्तिकालङ्कारे पत्यक्षपरिच्छेदो द्वितोय:" which corresponds to t[he] 3rd *Pariccheda* of the text of the *Pramāṇavārttika* as stated by the Editor in [a] footnote on p, 158.

2. In the *Abhidhānarājendra* Vol. VI (1923) p. 156 there is a small artic[le] on Malayagiri but it contains no historical information about this autho[r]. The compilers of this encyclopaedia, however observe :—
" मलयगिरेः समयो गुरुपरंपरादिकं च न ज्ञायते तथापि हरिभद्रसूरेरर्वाक्तन इति ज्ञायते
The date of Haribhadrasūri is about 750 A. D.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

BEḶGOḶA AND BĀHUBALI.

BY

Prof. A. N. Upadhye, M.A., D. Litt.

In the mediaeval history of Jainism in the South, Śravaṇa Beḷgoḷa has been a place of great cultural importance. The greatness of Beḷgoḷa lies in the fact that it possesses certain features of lasting value: traditionally the place is associated with Bhadrabāhu and Candragupta Maurya, and the historical value of this tradition is now accepted by the standard authorities; it possesses a large number of Inscriptions which are important from the historical, linguistic and literary points of view; there is a Maṭha the spiritual heads of which have guided the social and moral destiny of the Jaina community in Karnāṭaka and round about for centuries together; there are beautiful temples and treasures of old MSS. of which any holy place would be proud; and last but not the least there is the grand image of Bāhubali on the top of the prominent hill there. For these and other reasons Beḷgoḷa is not only a holy place for the Jainas but also a place of cultural and historical importance to the students of South Indian History.

In the Hassan District of the Mysore State, just near Channarayapattan, Beḷgoḷa is very attractively situated near a nicely built square lake in a valley between two hills: Vindhyagiri and Candragiri. The name of the place is probably derived from Beḷ (meaning, white) goḷ (meaning, pond) referring to the splendid square lake which is mentioned in the local inscriptions as Dhavala or Śveta Sarovara. Workman rightly said: 'In the whole beautiful state of Mysore it would be hard to find a spot where the historic and the picturesque clasp hands so firmly as here'. The name Vindhyagiri the migrating people must have brought with them from the North; while the name Candragiri appears to have been suggested by the fact that Candragupta Maurya, who came to the South with Bhadrabāhu, as a tradition of much authenticity and sufficient antiquity tells us, breathed his last on this hill. Candragiri is also

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

known as Cikkabeṭṭa, as it is smaller of the two hills. On this hill we have fine temples of the Dravidian architectural style, some of them as old as 8th century A. D. Some of the temples such Chāmuṇḍarāya Basti etc., are very beautiful from the artistic and architectural points of view.

It is on Vindhyagiri or Doḍḍabeṭṭa that the image of Gommaṭeśvara stands. The upper part of this huge statue on the top of the hill can be seen from a distance of some sixteen miles. From the ground below we see the image upto the breast, but as we climb the hill the image goes out of sight being surrounded by a temple the ramparts of which support the lower half of the image. Cut out of a boulder (of fine grained light grey granite) resting on the spot, the image is about fifty-seven feet in height. Though not older, it is bigger than the statues of Rameses in Egypt. It stands all nude with arms hanging straight with the thumbs slightly turned outwards. The pedestal of the image represents an open lotus. There are anthills, in stone of course, with emerging serpents on both the sides; and the Mādhavī creeper twines itself round both legs and arms: this indicates the posture of deep meditation. There is an impressive and majestic grandeur about the image. What engrosses one is the demeanour of the face. 'The artist was skilful indeed to draw from the blank rock the wondrous contemplative expression touched with a faint smile with which Gommaṭa gazes on the struggling world' for the last one thousand years, the image being carved out in circa A. D. 984 by the order of Chāmuṇḍarāya, the commander in chief of Rājamalla, the Gaṅga king, who ruled over that part of the country.

All full photographs of this image are in one way or the other distorted, because the image is very tall and there is no convenient point sufficiently elevated to focus the full image This image is imitated at Kārkal and Venur; but the three faces, as I see them, give different expressions. The detached serenity of the Beḷgol image is a triumph: not only it attracts the mind but entraps our heart. The Kārkal image shows extra-meditational gravity and that of Veṇur juvenile smile.' The purpose of imitation has almost failed:

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

but to the fotune of posterity and to that of monolithic art of India these three images are precious and proud contributions. The granite of the Beḷgola statue is superior : like its face undisturbed by attachment and aversion the image stands almost unaffected by sun and rains, 'and looks as bright and clean as if just from the chisel of the artist'.

The serene and detached face, with its childlike innocent simplicity, of Gommaṭeśvara commands respect and reverence. It is a profoundly significant remark of His Highness the Maharaja of Mysore who said thus some years back: 'The land of Mysore symbolises Gommaṭa's spiritual empire'; and let us pray that the spiritual forces might be radiated from the life and the image of Bāhubali all over the world which is passing through a transitional period of history.

The life of Gommaṭeśvara or Bāhubali has a noble lesson to the struggling humanity for all times to come. Bāhubali was proud of his power and strength. He would not give an inch of the land and submit to his elder brother Bharata whom he refused to accept as the overlord. Bharata was irritated, and there ensued the battle. The wise ministers asked them as to what they would gain by killing on the battlefield thousands of men for whose welfare their kingdoms were meant. What a vanity of the individuals, and now-a-days of Nations, that so many people are to be sacrificed on the battlefield and so much property wasted! Wiser counsels prevailed, and Bharata and Bāhubali got down into the arena to decide the issue between themselves. They fought against each other in various ways. Bharata was defeated. Bāhubali won the applause of all. His success meant the defeat of his brother: what a vanity of success and defeat! The spiritual values flashed across his mind, and Bāhubali bade good bye to the hollow vanities of this world and rose above them by cultivating the spiritual values of a lasting character.

Today, as we look around and across the oceans, the flesh attracts the human mind more than the spirit; moral virtues are

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

at a discount and hypocracy is the fashion of the day; ethi standards are being easily smashed with no just substitutes bei put in their places; the scientist has achieved great things, but i is playing in the hands of the politician, capitalist and the ma nationalist; today the world is made a big family which h one mind but unfortunately not one heart; competition and explo tation backed by brutal force are the current coins in the socalle international affairs, and mutual good will and sympathy are n more there; property is more valuable than humanity; love, libert justice etc., have become hollow terms of fashionable use; languag is not being used for mutual understanding but to misinterpret an twist the simple facts and to mislead and deceive each others; motive are conveniently concealed and downright liars are hailed as diplo mats; most barbarous and carnivorous crimes are committed unde the decent names of civilization and nationalism, and palpably fals reports are shamelessly broadcast to the reading and hearing public in short, the materialistic forces switched on by abnormal possessiv instincts are shaking today the very nerves of the human society At such a critical hour in the history of mankind, I can only pray tha Bāhubali's life and his image that stand for all that is true, beneficial and beautiful, might inspire in us permanent ethical and spiritua values and lead us on from darkness to light:

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं वीपरीतवृत्तौ
सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

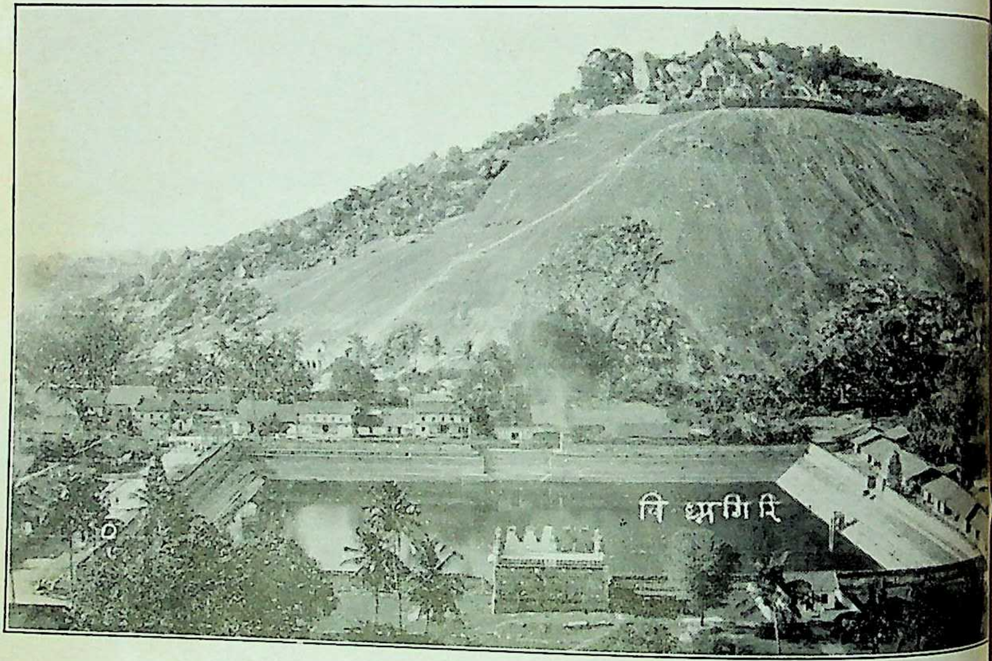

विंध्यगिरि

(श्रीजैन दिगम्बर ट्रेडिंग कम्पनी श्रवणबेलगोल के सौजन्य से)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ŚRAVAṆA BELGOḶA.

ITS MEANING AND MESSAGE.

BY

Prof. S. R. Sharma, M.A.

A thousand thoughts come crowding in my mind as I write, in response to the call to contribute, to this special number of the *Jaina Antiquary*. It was indeed a very happy idea to bring out this symposium on the eve of the great Abhiṣeka which is shortly to take place. As the recent appeal of Sir Mirza Ismail rightly indicated, Śravaṇa Beḷgoḷa is not merely of sectarian interest; it is a national treasure. Like the Tāj Mahal and the Kailās Temple, the colossus at Beḷgoḷa has attracted universal admiration. It is well to bear in mind, however, that without underestimating the value of the magnificent Āgrā monument and the marvellous Ellorā excavation, the significance of the Jaina memorials in Mysore is deeper than the proud memories evoked by either the exquisite and enduring fossil of a doting Emperor's dreams, or the granite efflorescence of the artistic and architectural genius of the medieval Hindus. Great as these and other antiquities undoubtedly are, the meaning of the Mysore monuments is greater still.

Above all, to my mind, Śravan Beḷgoḷa is most typically *Indian*, for it enshrines the spirit of sacrifice in the cause of the Spirit which alone is Life. India has been the home of several religions and schools of thought, but through all of them—with the singular exception of the Cārvākas—runs one philosophy, one attitude towards Life, one Faith. That Faith is transcendental; it seeks liberation of the Soul from the trammels of mundane existence; it stands for the ultimate triumph of Spirit over matter. It is the shining beacon of Life across the wasteland of death, Life that is enduring and eternal.

The European may climb the highest peaks in the Alps and the Himalayas, may explore the icy corners of the Arctic and the Antarctic, may dive to the deepest depths of the Atlantic and the Pacific,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and fly to the utmost reaches of the stratosphere, but he staggers at the transcendental flights of the Indian philosophers. His eyes have been trained to seek the truth through the microscope and the telescope, his mind has sought to study life in the laboratory through vivisection. In the result, he has succeeded in enslaving matter, but the slave (matter) has also been holding the conqueror (Spirit) in bondage. Not so the Indian, where he has not ceased to be truly *Indian*.

Drunk with the pride of conquest the European may mock at what he considers to be our futile and inane philosophy. But we have reason to believe that the inebriated Western people are getting more and more entangled in the labyrinth of their own making. If their titanic struggle may be best illustrated by the statue of Laocoon desperately caught in the coils of a deadly tangle of reptiles, the Spirit of ancient India is well represented by the colossal calm of the image of Bāhubali rising high over every other human structure, breathing freedom in its great silence. The superficial observer is likely to interpret this contrast in a different way: Does not the naked figure of Gommaṭa show rather the static inactivity of the stagnant East and the struggling Laocoon group the palpitating dynamism of the progressive West? But I should think that the real contrast is more like that of the restless maelstrom diving into the greater restlessness of the agitated Atlantic, on the one side, and the placid calm of the profound Pacific on the other.

However, this is only one aspect of the situation. The human Spirit, which knows not the dychotomy of East and West, may be said to have gone to one extreme in India and naturally swung back to another extreme in Europe. Truth lies not in the Golden Mean, not midway between the two extremes, but rather in the full amplitude of the swing of the pendulum of Life. The midpoint represents only death; the Jaina philosophy does not stand for that. It has been misrepresented as a philosophy of stagnation, seeking *death* rather than *life*. The Jaina monuments are an eloquent refutation of this libel.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Tirthankaras did not stagnate into Nirvāṇa. They built a giant causeway across the dreary ford of death to the eternal fields of Life. Syādvāda and Anekānta are suggestive of all-sided comprehensiveness rather than of any one-sided obsession of mono-maniacs. Those who have understood Jainism correctly have characterised it as the most logically consistent of all philosophies. If this should be construed as constituting its main weakness—for Life is too complex to be logically consistent—, then the critics of Jainism should remember that it is not merely a 'philosophy' but also a 'way of life'; that it is not merely a body of thought or a bundle of doctrines, but it also enjoins a course of action and inculcates a code of discipline. Jainism is no more to be condemned as a negation of Life, than Christianity. If the latter is to be judged in terms of its influence over the lives of the Europeans during several centuries, the same should be the norm by which to assess the former. If christianity has made invaluable contribution to European civilization, so has Jainism enriched Indian civilization. If in the course of generation the Christians have resiled from the teachings of Christ, that cannot be a refutation of the positive gains to humanity from Christ's teachings. Likewise, if in the course of ages the Jainas have failed to live up to their ancient ideals, their historic contributions are not to be forgotten. Gratitude in both cases would demand sympathetic understanding from all; such understanding would not only lead to better appreciation, but also provide the corrective that modern living needs both here and elsewhere.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

BAHUBALI STORY IN KANNAḌA LITERATURE.

BY

Prof K. G. Kundangar, M.A.

In the so far published Kannaḍa Literature the story of Bāhub is first noticed in the Ādi-purāṇa of Ādi-Pampa (about 941 A.D To relate it here will not be out of place. Bharata was the eld son of Ādinātha, the first Tīrthaṅkara and his queen Yaśaḥsvatī, a Bāhubali was born of his second wife Sunandā. On account of unsurpassed beauty of person the latter got the names Chitta Chittabhava, Manasija, Anaṅga and Aṅgaja. When he was proper age, his father taught him Kāmatantra, Sāmudrika, Āyurve Dhanurveda, Hastyaśvatantra, and Ratna-parikṣā, (8—60 gady Bharata attained the height of 500 bow-lengths and Bāhubali 525.

When it was proper time for Vṛṣabhanātha to take dīkṣā, t burden of the whole kingdom was thrown on his eldest son Bhara and Bāhubali was made the crown-prince. The latter was give the management of Paudanapura torritory (9—65 gadya).

When Cakraratna was born in the Kośāgāra of Bharata, h went on a tour of world-conquest and returned to Ayodhyā H Cakra-ratna remained outside the city refusing to enter showi thereby that the conquest was not complete. After inquiry th emperor found that his brothers were to be conquered. He se his envoys to Bāhubali and others to admit his suzerain powe All others except Bāhubali were unwilling to accept the offe Neither were they able to face him. They, therefore took dīkṣ But Bāhubali received the envoy and acquainted himself with th purpose for which he had come to him. He refused to accept th suzerainty of Bharata and prepared for war. Hearing this Bhara marched on Paudanapura with his army. Both the brothers the agreed to fight each other to avoid blood-shed of the innoce soldiers. The emperor was successively defeated by his brothe in Dṛṣṭiyuddha Jalayuddha, Mallayuddha. Enraged at this defe he discharged his discus on his brother. But that invincible weapo being unable to touch him went round him and stood at his righ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

shoulder. It was a very critical moment. Had Bāhubali thought of using that weapon on his elder brother he would have done so, killed his brother, and been himself the emperor. But he was a true Jaina. To him the moment proved to be one of internal awakening. He felt disgusted with the covetousness of empire in his brother, which showed no consideration even for a brother. This brought on him aversion for life. He took dīkṣā and performed severe penance. In spite of his mastery over Jaināgama he could not conquer his māna-kaṣāya, on account of which he was not soon blessed with Kevala-jñāna. This was pointed out to Bharata by Ādinātha. The hint was taken by him and Bāhubali was informed accordingly. Taking action on this suggestion he conquered that weakness of his and attained Kevala jñāna. In course of time he attained Mokṣa.

In this Purāṇa, Ādi-Pampa does not mention of Bharata consecrating at Paudanapura the image of Bāhubali 525 bow-lengths high. Cāvuṇḍarāya in his Cāvuṇḍarāya-purāṇa (about 978 A. D.) gives the same story very briefly.

The third account appears in the Shravan-Belagula inscription No. 234 of about 1180 A. D. composed by Boppaṇa who had the title Sujanottaṁsa. It is this poet who, for the first time, relates the story of an image of 525 bow-lengths erected at Paudanapura by Bharata out of respect and affection for his brother Bāhubali. As time rolled on, the inscription further states, the region around the image having become infested with innumerable Kukkuṭa-sarpas (fowls with serpent heads) the statue came to be known as Kukkuteśvara. It afterwards became invisible to all except the initiated. But Cāvuṇḍarāya having heard a description of it set out with his mother with a desire of seeing it. Finding however that the journey was beyond his power owing to the distance and inaccessibility of the region, he resolved to erect such an image himself; and with great effort succeeded in getting the Image made and set up.

The fourth account is given by Pañcabāṇa in his Bhujabali-Carite (about 1614 A. D.). In this the author tells how Padmāvatī and Brahmadeva appeared in a dream before Cāvuṇḍarāya when

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

halting at Shravana-Belagula on his way to Paudanapura accompanied by his mother, and told him that Bāhubali was pleased with his devotion and would manifest himself to him on the Larger Hill if he would discharge a golden arrow from the Smaller one towards the former. The next morning he heard of a similar dream of his mother. Acting up to it he saw the head of the Image when the discharged arrow struck the rock on the Larger Hill. Afterwards the officiating priest of the place placed a diamond chisel and struck it with a diamond hammer. The layers of stone fell off and the Image became visible. This story based on such a miracle appears in Bhujabali-śataka of Doḍḍayya (about 1550 A. D.) in Sanskrit.

Gommaṭeśvara-carite of Ananta-kavi (about 1780 A. D.), Rājāvalikathe of Devacandra (about 1838 A. D.), and the Sthalapurāṇa of Shravana-Belagula are other works in Kannaḍa giving the story more or less in the strain of Bhujabali-śataka and Bhujabali-carite.

The Sthala-purāṇa gives one important and interesting information about the height of the Image. It says that Cāvuṇḍarāya heard of the existence of an Image 18 bows high at Shravana-Belagula. This information may be verified with the actual measurements of the Image taken.

The pedestal is designed to represent an open lotus, and upon this the artist has worked a scale corresponding to three feet four inches. This scale when multiplied by 18 gives approximately (60 feet) the height of the Image. The Image as measured is 57 feet in height. A bow is generally of four cubits length, and 18 bow-lengths will make 72 feet. This brings in a difference of 15 feet in the actual measurement, and 12 feet difference according to the Sthala-purāṇa. But a cubit cannot always be of the same length. It will depend on the measurements of the sculptor who works at the Image. It may therefore be assumed that the scale given at the pedestal represents a bow-length, and that the Image goes 18 lengths with it. This assumption roughly solves the height problem in the present case.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

NEW STUDIES IN SOUTH INDIAN JAINISM.

III

ŚRAVAṆA BEḶGOḶA CULTURE.

BY

Prof. B, Seshagiri Rao.

g. (1)

In two previous papers in the *Jaina Antiquary*. I have outlined how ancient Jainism in South India had inspired its devotees to action and emotion. For, it is only when thought, doctrine or philosophy inspires and sublimates emotion and action, that it becomes a force not only in the lines of individuals, but also in those of communities and nations. And Śravaṇa Beḷgoḷa, being its most ancient and advanced *Karmakshētra* or practising and demonstrating ground or 'University,' in South India, and the present number of the *Jaina Antiquary* being specialised for the elucidation of its various phases of activity, through the ages, I shall gladly avail myself of this opportunity, so kindly given me by the Editor, to describe in some detail, how, from the Śravaṇa Beḷgola Epigraphs, it appears to me to have functioned as centre of culture,—of *Siksha* and *Diksha*.

We often hear so very much about Jaina ascetics and asceticism, of Jaina scholars, their dialecties and philosophies, their *Raddhantas*[1] (राद्धान्त) and Siddhantas (सिद्धान्त), that we may be very strongly impressed with the idea that Jainism is for the intellectual few, —and even at that, for an elect, fortunate few, who can be fanatically and—as modern materialists may say, or the ancient epicurions said—'senselessly' stoic. But a proper appreciation of Jaina memorials will show that the Jaina Sages in ancient times *lived* their doctrine and their faith and easily made their desciples of all grades and classes of society, men and women, *live*[2] it, however austere

1. See "Inscriptions of Śravana Beḷgoḷa" by Luvis Rice (Bangalore 1889. (I.S.B.) No. 41 राद्धान्त वेदि etc.

2. I. S. B. No. 54 *Cf.* Dayāpāla Muni in whom "was the desire to imfact to other son portion of his own form."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the Sadhana or practice for it may have been. The aim of the *Sikṣha*, descipline, and *Dikṣha*, concentration, being to attain the *Arhathood* or *Siḍdhahood*, not merely *Siddhis* or 'powers', a study of Jaina Antiquities, and appreciation of Śravana Beḷgoḷa culture which is a type thereof, will show how *real spirituality* and *perfectibility* of life or its sublimation was in Universal practice of all types of adherents of the Jaina Faith in South India. It will also serve, not only as a unifying force not only in the activities of the Jaina community to-day in all India (सर्वभारत), but will also demonstrate in India and abroad, the essential unity of goal (गम्य) descipline (शिक्षा) and concentration (दीक्षा) of Hindusim, Buddhism and Jainism fancied and some times operated, as mutually cancelling and warring faiths, unfit to inspire common political action for national ends. In these days when spiritual sublimation of thought and action in politics is set out to be India's special contribution to the modern warring world and recommended to be practised by political workers in India, in all its simple and self-denying austerity, it would indeed be of some help to realise what great levels of practical self-dedication and cultural eminence were reached, even by politicians and statesmen in medieval India, even through the inspiration of the Sages of this great South Indian Spiritual 'University.'

'Śravana Beḷgoḷa' has a very romantic history. From all Jaina accounts in literature and Epigraphs, it was originally 'a bare hill in an uninhabited country,[1] but in time it became a *Thirtha* or place of pilgrimage, a Karmakshētra for *Sikṣha* and *dīkṣha* or a University of piety and culture, and even a religious state' or *Samasthanam* somewhat like the Vatican. Some account of this grand 'sublimation' of mere forbidding earth by the aspiring, advancing and selfpurifying soul of Man will form the substance of this study.

Yet, *Śravana Beḷgoḷa*, through the ages, has continued to be a *place of Memorial Toumbs*, besides being the abode of several grand beautiful and rich temples and the most famous of ancient sculptures, the wonder and miracle of art,—the sacred image of *Bhujabali* or *Gommatēswara* ortherwise called *Kukkutēswara*. Thus Śravana

1. I. S. B. No. 2 I. S. B. No. 141.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Beḷgoḷa culture seems to have made its own distinguished and distinctive contribution to medieval Indian Art and Architecture, the results of the memorialistic activities and devotions of the pilgrims that made it their *Thirtha* not only during life, but even more so, at its close.

Lewis Rice, who first edited the Epigraphs and brought to light the Antiquities of Śravana Beḷgoḷa, in the *Epigraphia Karnatica* thus describes the present appearance of this great *Thirtha* :—

"The eye of the traveller who is passing along the trunk road leading from Bangalore to the Western Coast, through the Manjarabad Ghat, is arrested on approaching Channarayapatna by a conspicuous hill few miles to the South, bearing on its summit what appears at first a column, but which, on drawing nearer, proves to be a colosal statue in the human form. This striking and unusual object, which is visible for miles around, marks the site of one of the most interesting spots in the South of India, and one whose epigraphic records carry us back to the very earliest authentic period of Indian history, anterior in fact even to the famous edicts of Asoka, the oldest inscriptions in the country. This noted place is moreover the chief seat of a religious sect at one time fore most in power and influence, whose origin is of higher antiquity than that of Buddhism."[1]

The earliest inscription on this hill takes the mind of the student to events long anterior to Asoka,—to the happenings in Nothern India, in the time of Asoka's ancestor Chandragupta, the founder of the Maurya Dynasty. This inscription is ascribed rightly, to king Bhaskara, the immediate grandson of the Great Emperor Chandragupta Maurya, who is also said to have adorned it with Chityālayas or temples of worship, as it enshrined the sepulcheres of his own grandfather and that father's guru Bhadrabahu, the last of Jaina Srita Kavalis. As the event that led to this most ancient inscription on this hill is of greater antiquity than the inscription itself and bears witness to some aspects of the religious history of Nothern India before the time of Asoka, it is worth recapitulation. It is also interesting that that event was described in this epigraph

1. I. S. B. No. 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

in a kind of Sanskrit prose at once literary, realistic, aweful and picturesque. The original passage stands thus* :—

Ārshēnaiva Janapadam-anēka—grāmasata-samkhya-mudita-jana-ghana-kanaka-sasyagō-mahishājavikala-samākīrnam prāptavān atah āchāryyah Prabhāchandrēnāmavani-tala-lalāmabhutē-athāsmin *kata-vapra*-nāmakōpalashitē-vividha-taru-vana-kusuma-dalāvali-vikachana-sabala-vipula-sajala-jalada.. ...vyāla-mriga kulōpachitōpatyaka kandara darīmaha-guhāgahanā-bhōgavati samuttunga sringa sikharini jivitasesham alpatra kālam avabudhyādhavnah suchakitah tapassamādhim ārādhayitum apricchya niravasēshena samgham visrijya sishyaṇaikēna prithulakāstiarnna talāsusilāsu sîtalāsu svadēham-sannyasyarādhitavān."*

Lewis Rice translates it thus :—

" And the rishi company arrived at a country counting many hundreds of villages, completely filled with the increase of people, money, gold, grain, cows, buffaloes and goats. Whereupon, at a mountain with lofty peaks, whose name was Katavapra—an ornament to the earth; the ground around which was variegated with the brilliant hues of the clusters of grey flowers fallen from the beautiful trees; the rocks on which were dark as the great rain clouds filled with water; abounding with wild boars, panthers, tigers, bears, hyaenas, serpants and deer; fitted with caves, caverns, large ravines and forests: the achari, with Prabhachandra also, perceiving that but little time remained for him to live and fearing on account of the road (journey), announced his intention to do the penance before death, and having dismissed the entire sangha, with one single disciple, worshipping, on cold stones covered with grass quitted his body."*

*"आर्षेणैव जनपदमनेकग्रामशतसंख्यमुदितजनघनकनकसस्यगोमहिषाजाविकलसमाकीर्णं प्राप्तवान् अतः आचार्यः प्रभाचन्द्रेणामवनितलललामभूतेऽथास्मिन् कटवप्रनामकोपलक्षिते विविधतरुवनकुसुमदलावलीविकचनसबलविपुलसजलजलदनिवहनीलोत्पलतले...... व्यालमृगकुलोपचितोपत्यककंदरदरीमहागुहागहनाभोगवति समुत्तुंगशृंगे शिखरिणि जीवितशेषम् अल्पतरकालम् अवबुद्ध्याध्वनः सुचकितः तपस्समाधिमाराधयितुम् आपृच्छ्य निरवशेषेण संघं विसृज्य शिष्येणैकेन पृथुलकास्तीर्णतलासु शिलासु शीतलासु स्वदेहं सन्न्यस्याराधितवान्"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

We learn from this, how the hill was known in those old times as 'Katavapra' and how it came to be a memorial hill enshrining the remains of the last of the sritakēvalis, Bhadrabāhu, of the Jaina sampradaya. From its also having been the shrine of the remains of Emperor Chandra Gupta, this single disciple of Bhadrabāhu, known in this present epigraph as, Prabhachandra, it came to be visited by King Bhaska Maurya, his grandson, who built chaityalayas over it and a *white lake* in the village at the bottom from which the whole region afterwards came to be known as Beḷgoḷa. Though the most ancient name of this place appears in this earliest inscription as 'Katavapra' there seems to have been another name "Belgugula' by which it became more famous even from the tenth century A. D. From No. 29, we learn that this name '*Katavapra*' survived to the year 1163 A.-C. although found only in one inscription subsequent to the King Bhaskata's inscription about Bhadrabahu and his disciple Chandra Gupta Maurya. There are several associated inscriptions in very archaic Canarese characters (Purvada Hale Kannada) from No. 35 of which it appears to have been known in a partially modified form as "Kalbappira." In later modifictions like Kalvappa (No. 34) Kalbapp-(35) Kabbappu-(No. 41) Kabbāhu (137C), it seems to have been still further modified and simplified according to the phonetic law of 'assimilation,' of course, acting unconsciously in the speech of uncultured people[1]. Students of linguistics familiar with S. I. Epigraphy may discuss whether in the process of these obvious transformations of a word like '*Katavapra*,' we meet with the phenomenon of a phonetic 'curruption' or simplification or 'prakritisation' of a 'sanskrit' word or whether a simple original word like 'Kalbappu' from the Canarese language was transformed by Pandits into Sanskrit '*Katavapra*.' Both processes are possible and do occur in S. I. Inscriptions and literatures. The very words 'Kannada' and 'Karnāta' transformed out of shape by foreigners into 'Canarese' are an instance in point. Be that as it may, the name 'Belugola,' however, seems to have become popular, and accepted into epigraphs by about 982 A.C., although Lewis Rice

1. The references to numbers are to numbers given to inscriptions in the volume "Sravana Belgola Inscriptions" by Lswis Rice. (Bangalore 1889.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

gives instances of two inscriptions, from serangapatam, of 9 century, in which, the form '*Kalbappu*' occurs. However, from t fact that forms the word 'belugola' occur more frequently i inscriptions up to 1196 A. D., in reference to this place, as alterna tives to those of 'Katavapra,' it seems to me nothing improper t hold that for at least ten centuries this place has been famous i South Indian history as "Beḷugoḷa thirtha." Why and when exact it came to be further specified as "Sravana" Sramana, it is n possible to determine from local antiquities. It is noted that a Sanskrit word, 'Katavapra' means "having matted sides." Th Bhadrabahu inscription shows that it was so known at the time when the Sritakavali stopped over it. Who could have given it Sanskrit name? There was nothing in the place at that time f any body to visit or notice it. It was only by an accident that th great sage Bhadrabāhu happened to stay away there with hi single desciple Prabhāchandra (Chandragupta Maurya.) Th inscription no doubt makes it clear that the country was abounding in Jaina centres of populous and prosperous *Sravakas* or Jaina laity and they may have given it this name, but only if they had some thing on or about it to attract them. What I, therefore, feel is th the Hill so came to be known only *after* Bhadrabahu began to settl there on the eve of his *Sallēkhana* (सल्लेखना) (fasting unto death and also possibly from the residence of Prabha Chandra further on worshipping the 'footprints' of his great *guru* and served by the forest deities'. If the word is regarded as *desi* and as 'Kalbappu' or 'Kalbappar' (the form '*Kalbappira*' occurs in No. 35) it may b interpreted as 'Hill Father' or 'Hill-Brahmin' Kall=Hill, +bappu< pāpan = Brahmin or father (+Telugu "bâbu"). The hill on which the sepulcheres of Bhadrabahu and Prabhachandra are enshrined is known as *Chikka Betta* = Small hill. 'Kal' in Canarese occures in place names in the sense of 'hill' or 'Betta' + Mitta or Metta (Tel.). The famous example is Orumgallu or Warrangal, the seat of a medieval andhra-karnata imperium. It must have come to be so known from the residence of these two great sages, of whom possibly Chandra Gupta or Prabhachandra, living longer than Bhadra-Bahu became more famous as "the Father on the Hill" or

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"the Brahmin or sage on the Hill" or "Hill Sage."[1] I should not have entered into this philological bye-path, but for the fact that in most cases of thîrthas or places of pilgrimage in India, it is some great, high a miraculous human striving, sacrifice or achievement in them that has brought them into prominence and illumined them. Even the interpretation of the word *Belugola*, offered only by No. indicates the same thing and confirms my view that it is some miracle of a human achievement or striving that makes its material or casual environment famous for later ages. With many latter day saints or *Sravakas*, male or female, it became a great aspiration to close (mudipu) or dedicate the few remaining days of life in the way in which these great sages did and 'leave the body' in their company, at the place, which they hallowed by their residence. However, Belgula or Belgola is interpreted in the epigraphs as 'White-lake' and it is said in Jaina traditions that King Bhaskara built the 'White lake' in the village at the bottom of these hills and that he built even the village also and named it Belugola. It is, however, possible that the populace, in these parts, noticing this remarkable object of a 'White-lake,' may have named it in their language, Belugola and the village containing Belugola, came afterwards to be so called. This is quite a common phenomenon in place-names in South India. This origin of the name must have been forgotten by the time of the description ($\frac{\text{As. Res.}}{\text{IX 266}}$) interpreting it as '*Silver Vase*,' and the pandits may have exercised their ingenuity afresh to take advantage of an event which they were called in to celebrate with their gifts of learning and poesy. Thus, even the plastic Arts like architecture and sculpture cannot gain immortal self-interpretation without the understanding and calebrating emotion and expression or emotional

1. There are a few very archoic. Inscriptions actually refering to these "Sages of or on the Hill" the No. 12 has 'Sri Thirtha, guruvadigal, No. 19 has 'Sri Betta guruvadigal." Some of these never came down the hill known as 'Sri Vette' or 'Rishigiri' or 'Tirthagiri' or *e. g.*, Vide Ins. Nos. 21 & 15.

1. See also I.S.B. No. 12. "मोतोर्थद् गुरवडिगल्"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

expression of man. And the sublimation of "man," this freeing of him from the earthly limitations and trappings to attain to *Arhathood* or *Jinadva* or his original 'divinity' by *sikaha* and *diksha* has been what was taught and demonstrated from this place, this thirtha, which originally was an uninhabited or uninhabitable secret spot of *Kushmandâranya*. "Kabbappu-nād" was a name for the region in which this hill was lacated. Hence I wonder whether the Chaityalayas and other objects of votive zeal that came to decorate this village and these hills in later ages had not shifted the *emphasis* fromthe *sadhana* and *dîksha* i.e., the '*guru-kula*' life of the original sages there, to objects of art and architecture and virtualism, so common, in the case of all forms of faith in India, Vedic, Jain, Buddhist and even Islamic. Balugola< >Belugula Belu+kula may also mean the 'white-kula' in which 'Kula' means 'family' or 'group' or 'sect.' Compare the expression '*guru-kula*' 'agni-kula,' 'Rāja-kula'. 'White means 'famous' or 'pure'. Hence if the place were originally known as the 'Belgula Betta' it must have meant the Hill of the pure or white sage company. Or, could it be that, the attendants of King Bhaskara who were 'Swetambaras' had by this way tried to make it peculiarly *their own*, leaving behind a memorial of that fact to later ages in the 'White lake' of the village'? Any way, at the basis of this foundation for culture lies a happy commingling of Nothern and Southern cultural and linguistic trends which has characterised the civilisation of the Karnata region of the Indian peninsula to later times. The most remarkable point, however, about Sravana Belgola is that down into the last century, it continued to be not only a thirtha or place of pilgrimage, but a thirtha in the original sense, of a place where 'the soul transcends the body or death' *i.e.*, a memorial or *Sepulctural Hill*. Several persons, males and females, had come there, all through the centuries, to have their final samadhi in presence of those great departed sages of their own faith. There are several such sepulchural thirthas or Mutts in South India, but I do not know or have not read of any places like Belgola which are open to the devotees of their several faiths for this their final "thirtha." Herein also the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

foundation has kept up its universality or democracy within its fold. The earliest of such a 'memorialist' mention is No. 2, in old archaic canarese characters and language referring to *Nāgamati Ganti* (female) desciple of the excellent Silent guru of Chittur in Adeyare-nad The earliest in modern Canarese characters and language is No. 72 of 1809 A.C. referring to *Aditakirtti Deva* who "having fully completed a fast of one month, went to Swarga in this cave."

Very early in its history, even during the period of its earliest undated archaic descriptions, Belgola came to be called "Sri tirtha." Now, in South Indian languages, 'thirtha' means 'water.' In regard to places of pilgrimage it includes a 'bath' or "immersion" idea also, as in the Kanarese expression "thīrthamādu." It also means 'the sacred water,' from the feet of the sacred images' as in the expression "Sripāda thirtham;" but essentially it means 'transcending' *i.e.*, a mental or spiritual Lightening, purification or 'sublimation.' That such a spiritual 'accession' was intended by the use of the word 'thîrtha' in ancient times is witnessed to, even by the epigraphs from Sravana Belgola. These instances will again show that it is the 'sages' that lived on the Hill that were the *real thirthas* and that the locality was made a 'thirtha' as being their habitat:—

For Example (*i*) of *kamlabhadra* it is said in No. 54 of 1128 A. C. :—

"Smarana-mātra pavitrataman manō bhavati yasya satām iha tirthinām tam ati-nirmalam ātma visuddhaye kamlabhadra-sarōvaramāsraye"

Trans :—"Him by only thinking on whom my mind becomes a thirtha for the good, that pure lake Kamalabhadra (or of suspicious lotuses) do I serve for my own purity." (Lewis Rice.)

(*ii*). Of *Matisagara* it is said in the same inscription *i.e.*, No. 54.
"Tîrtham Sri matisagarō gurur ilā chakram chakāra sphuraj jyōtih pîta tamarpayah pravitatih pūtam prabhūtāsayah."

Trans :—"Sri Matisagara guru made the whole world a tirtha, by his glory dispersing the darkness of ignorance, of a worthy mind, etc."

Thus, in inscription after inscription, at Belgola, it occurs again and again, that, to follow those great earliest Jaina sages

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Bhadrabāhu and Chandra Gupta, was the true Jaina faith, wi[th] clear references to that ancestral migration which some scholar[s] refer to fourth century B.C., that make this high antiquity of Sravan[a] Beḷgoḷa stand undisputed Here-below are a few extracts bearin[g] on this view :—

(i) " Bhadrabāhu-sa-Chandra Gupta-Munindra yugmadin-noppev[a]
Bhadramāgida dharman valie vand inipal kulo..............
Vidrumādhare Santisēna munīsā nākki êchel-go x
Adri-mēl asanddi vittu punarbhavakk ir.............. gi ||

Trans :—" Saying, to be in accord with the pair sree Bhadrabah[u] together with the great muni Chandra Gupta, is the tru[e] faith :—after coming here, and being gratified the......o[f] her race, the coral-lipped wife of Santisena munisa, Eche[l]-go-(ravi), on the top of the mountain, forsaking all food attained to the state of not being born again."

And, likewise, the earliest persons who resorted to this Hill did so *not to worship* but to become ' pure spirits ' relieved from and exalted above Samasārachakra, the wheel of life, the cycle of births and deaths, specially by the aweful baptism of *Sallekhana*, " the fast unto death," to enter upon the final pilgrimage or *Mahaprasthana*, to take to the *final smadhi* of one's life. What is called ' Renunciation at the time of danger ' or ' atura sanyâsa ' is a feature common to various forms or schools of what is called ' Hinduism ' or *Vaidika-samaya* but it is found only in Jainism in its most awe-inspiring form as Sallêkhana. That it is a form of life-renunciation ' or more properly ' dêhatyâga ' ' giving up the body ' is even enjoined by the Jaina sastras, is also brought out in one of the epigraphs on this Hill thus :—

Chûrni tēna srimad-Ajitasēna-pandita-dēva-dēvya sri-pada-kamala-madhukarîbhūta-bhāvinā mahanubhavêna Jainâgama-prasiddha-sallêkhanā vidhi Visrjyamāna dēhēna samādhi-vidhi-vilōkanōchita-karana-kutūhala miḷita-sakala sangha samtôsha-nimittam ātmāntahkarana parinati prakasajāya nirvadyam padyamidamāsu virachitam (No. 54, dated 1128 A. C.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Trans :—"By him, a bee at the divine lotus feet of Ajitasena Pandita Deva, magnanimous, while abandoning his body by means of the Sallêkhana famous in the Jaina Agamas, so that all the sangha rejoiced at the sight of the nature of his penance, was delivered improptu this perfect verse, displaying the ripeness of his mind."

Sallēkhana may therefore be described as a special 'ideosyncracy' of Jainism'

The first to perform this aweful rite of Sallēkhana on this Hill, Katavapra, was *Bhadrabahu*, the last of the Sruta kewalis; this fact bring us directly to the Southern migration of the Jaina rishiganas from Ujjaini in North India and the passage in the inscription referring to the Katavapra Hill. The passage brings out in simple naturalistic description how awefully beautiful it was and suggests a phase of naturalism which has left its environmental mark on the awefully beautiful and simple and high, plain lives and characters of successive Jaina munis, perhaps Vānaprasthas and Sanyasis as well, that carried forward to later generations in South India the traditions of spiritual realisation, sanctified scholarship and desciplined 'sense-conquest.' No wonder that their admiring followers had left behind them these authentic data of their admiration and also venerating and exultant praises of Bhadrabahu Sritakevali, who thus rejuvinated South Indian Jainism which, by his time must have lost touch with its North Indian homelands. Here below are given a few specimens of such commendatory compositions, reminders, as it were, to contemporary generations, of that ancestral North Indian migration, corresponding to that of Agastya to 'Chôla mandala' recorded in Puranic Literature and vernacular classics of South Indian Languages :- –

(*a*) Varnnaih kūthan-nu mahimā bhana Bhadrabahor-
mmōhōru-malla-mada-marddana-vritta-bahōh
yach-chhishyatāpta-sukritēna sa chandra-guptas
-susrūshyatē sma suchiram vanadēvatābhih!'

Trans :—"Worthy is it not of being described, the greatness of Bhadrabahu, say,—stout of arm in subduing the pride of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the great wrestler ignorance, through the merit obtained from descipleship to whom, that Chandra Gupta was for a long time served by the forest deities."

(No. 54, dated 1128.)

Note incidentally that this verse identifies that Prabhachandra who served Bhadrabahu on this Hill in his last days, with Chandra Gupta, the famous Maurya Emperor known to Indian History. It also brings out the idea of spiritual culture as an affair of 'gnāna,' a struggle and victory, perhaps justifying the name of 'Jaina Samaya,' a 'religion of *conquest*.'

(*b*) Bhadrabahur-agrimah samagrabuddhi sampadā
Suddha Siddha Sāsanam susabda bandha sundaram;
Iddha vritta Siddhir-atra bhadrakarmabhittapô
Vriddhi vardhita prakirtir uddhadhē mahardhikah.

(No. 108 of A. D. 1433.)

Trans :—'Bhadrabahu, the foremost by his acquisition of knowledge (proclaimed) the doctrine of the siddhis, beautiful with its combination of sweet words; famed for his character, dispeller of the delusions of those bound to the world, celebrated for the growth of his great penance, the highly renowned.'

From all this it is quite clear that, ever since the arrival of Bhadrabahu, this Katavapra Hill in the midst of an aweful forest, became a 'thirtha' associated in the minds of generations of people with dikshas or vows, and concentrations, and with sikshas or desciplines in knowledge and character and sādhanas or self-searching self-purification resulting, by long growth of penance, even in 'siddhis' or attainments. Persons even abandoned the beautiful envirous of nature in the plain beyond the Hill, to take to its top to attain beatification. A very archaic inscription at the place refers to this fact:—

Sri "Udyānaijjita-nandanam dhvanadali-vyāsckta-raktōtpala
vyāpi sribhrita-sālipinij ara disam kritvā tu bahyāchalam

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

sarva prāni-dayardha-dābhi-Bhagavad-dhyānēna sambōdnayan-
arādhyāchala mastakē kanaka-sat-sēnod bhavat satpatih"
" aho bahir-girin tyaktva Baladeva munih sriman
ārādhanam pragrihîtva siddha tokam gatar-punah"

(No. 15).

Trans :—" With groves adorned with red water lilies and filled with the hum of bees, surpassing Nandana; shining on every side with fields standing with rice, was it beyond the hill. Instructing all in the praise of Bhagavat, the ocean of goodness to all creatures, worshipping on the summit of the mountain; born to the virtuous kanakasena, was a chief of virtue. Behold, this Bala Deva muni, the honourable, having forsaken beyond the hill, giving himself up to devotion, departed to siddh lôka, did he not?"

Note that this description gives an idea ot the approaches to the Hill at a far later time than that of Bhadrabaḥu, but it is enough to show that that ' ârâdhyachala ' or ' gurugini ' was still the chiefest attraction in the locality and even that, for Sallēkhana, as well as *Sādhana*.

A similar cultural ' ideosyncracy ' of Jainism is said to be *Ahimsa*. This has come into greater prominence in modern Indian political life, like ' fast into death,' Sallēkhana, most *inappropriately* I think, *as a technique of political struggle*. It, however, indicates a modern searching of hearts in India, a quest into the past far desciplines or spiritual processes, leading to ' freedom ' or *mokṣha* from ' bandhana ' or ' bondage.' No body can deny that it is a deep spiritual searching, a holy quest, a non-doctrīnal, practical, quest, practised in ancient times by persons from different grades of society and even today, practicable to prince in luxury or peasant in poverty alike. But it is well worth making an attempt to understand this Jaina form of descipline of Ahimsa aright.

The Sravana Belgola Epigraphs describe the munis worshipping Bhagavat, there, as ' Srava-prāni-dayarddha-dah (सर्वप्राणिदयार्थ) as those that give their wealth of kindness to all living things, which

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

makes them careful lest they should per chance injure even a ti insect. The practice of "Gridhra-pinchacha," one of the m famous of the successors of Bhadrabāhu, in their gana, is follow to this day by the ascetic who sweeps the ground before him w a pea-cocktail broom before he moves along the way. In so of the more enlaborate inscriptions, on the Hill, this famous s Gridhra-pincha-ācharya is thus celebrated :—

Trans :—(1) "then there was Umāswāti munisvara, who had t name ācharya following after the word Griddhra-pinc In that time no other was equal to him in understan ing the 'padartha' (No. 42, dated 1117 A. C

Trans :—(2) "The honourable Umāswāti, he was the yatisa w published the Tatvartha Sutra which is a guide to t worthy in following the path that leads to *Muk* (No. 105 of 1398 A. C.)

Trans :—(3) "He, was he not the yogi devoted to the protecti of living creatures who 'assumed' the wings of a b whence from that time forth the wise call him ach adding to it, after his name Griddhara-Pincha" (No. 108 of 1433 A.C.)

Several other customs among Jainas are traced to this origi ideas of 'protection of living creatures.' But this is not all of t Jaina idea or descipline of Ahimsa. In its degeneration into t mere custom of the asctic sweeping before him with a "peaco broom," it may have become an object of redicule of the Hind as an accentricity or 'bhēshajam', but in its essence, it finds i echoes in the Vaidika Samaya as well. The religion of Budha said to be the religion of 'ahimsa' or 'Daya' or 'Compassion' p excellence, but a deeper knowledge of the Jñana marga of the Upan shadas or of the Jaina Samaya will reveal that it is equally a essential element in these equally, if not *more, ancient* faiths o 'schools of Spiritual attainment.' In the saka year 1050 (as stated i

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

No. 54) Sri Mallishena muni said as follows when he was departing from this world :—

> "Having worshipped the three jewels named in the Agama, having lived so that all living creatures have received no injury and having acquired patience, we have (this) our body at the fact of Jaina and enter Swarga "

To live in such a way that no creature receives injury from one is the essence of the practice of Ahimsa.

Similarly, of another muni *Sritakirti* it is said, that he was 'sarva-sariti-rakshā-krita-matih', "intently minded in the protection of all emodied ones". Thus in *Ahimsa-sādhana*, the primary importance is on 'protection of living creatures' a positive duty. These Sravana Belgola Inscriptions show that several other collateral and positive ideas cluster round this principle of Ahimsa. The most comprehensive of these is idea of 'sakalaprāni-dayartha-siddih', the utilisation of all our gifts, achievements, equipments and other acquirments for the good and happiness of all creatures. The insistence is on the attainment of powers by the individual *for social and environmental betterment* or "Lōkasangraha". In this view, the following excerpts from these inscriptions illuminating :—

(1) "Having studied the whole Veda, free from all distress of mind, having subdued all opponent speakers, delighting in all learning, filled with highest joy, of lofty and bright intelligence, praising the feet of Jinapa, ··· he had obtained protection for all. (Sritakirti Deva No 105.)

(2) Learned men there are, but no poets, masters of learning, eloquent speakers, experts from researches into various sciences, in the Kali Age like me.. ..... notwith the desire of gratifying pride, not through enmity, but through my *pity* for the people being led astray by the teaching that there was no spirit (or God), did, I, O king, in the Court of Himasitala overcome all the learned proud Buddhas and spurne sugata with my feet" (Devakalanka Pandita No. 54.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Patience, kindness, impartiality, disinterestedness, spiritual and humality, are other aspects of *Ahimsa* which make for so peace and social celebrity. Such qualities are revered, in a sage l *Mallisehna*. Of him it is said :—

> "In whom unequalled patience rejoices, in whom kindn knows no limit, whom impartiality loves, whom abse of desire desires, through love loving salvation, thou in his own esteem low, yet the head of yogis, by character an acharya......see Mallishena muni......him us reverence.'

Honour, liberality, sympathy, are another cluster of ideas gro ing round *Ahimsa* as a positive force in active life and these a reverenced in another sage thus :—

> "A fire to the forest of family cares, a sun to the lotus the Bhavajas (Jains), the summit of uplifted honour, t cow of plenty in restoring wealth, remover of the sorro of those in the power of the ememies sin and ignorance, Sritamuni, chief Suri, pure in morals, untarnished woman"

We find from these and such passages that "purity" or "ce bacy" is another aspect of *Ahimsa*, for "impurity" is 'the himsa o Atma or self.'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"JAINA SIDHANTA BHASKARA."

1. (*Gist of September Issue*)

p. 71. Mr. K. P. Jain have shown that the observance of Ahinsā do not deprives a Jain follower of the use of his manly power. Many a illustrations from the Jain Literature and inscriptions are given, showing the chivalrous deeds of the Jain heroes. It was due to disunion and discord between themselves that Indians lost their independence.

p. 78. Pt. K. B. Shastri objects that Vadibhsingh was a contemporary of Akalanka.

p. 88. A readable note on Apabhraṃs literature is given.

p. 93. Pt. Nemichandra discusses the astronomical definitions of Srī Nemichandrācharya.

p. 110. Pt. K. B. Shastri describes the antiquities at Kopaṇa.

p. 113. Pt. Parmanānd gives a glimpse of the life and works of Srī Vādirāja.

2. (*Gist of 'Bhāskara' for Dec. 1939.*)

p. 137. Pt. K. B. Shastri discusses the problem of the multi-husbands and the story of Draupadī and concludes that Draupadī was in fact married to Arjun only.

p. 147. Sj. Agarchand Nahta objects the theory of Pāvāgaṛh being originally a Digambara Jain Tīrtha; but the rejoinder of Premīji speaks otherwise.

p. 155. Prof. Hiralal Jain describes the Apabhramsa work "*Aṇuvrata Ratna Pradipa*" by Lakkhana belonging to the 13th century A. D.

p. 178. K. P. Jain has collected and given available information abou+ Girnār and its history.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee, P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen. and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K. Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage).

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research notes in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 27.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. V—1939.

Edited by

Dr. B. A. Saletore, M.A., Ph. D.
Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy Rs. 1-4.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CONTENTS.

1. Another Jain Inscription of V. S. *by* Dasharatha Sharma, M.A....
2. A. Jaina Ganesa of Brass—*by* H. D. Sankalia, M.A., L.L.B., Ph. D. (Lond) ... ...
3. Asoka and Jainism—*by* Kamta Prasad Jain, M. R. A. S. ...
4. Asoka and Jainism—*by* Kamta Prasad Jain, M R.A.S ..
5. Beḷgoḷa and Bahubali—*by* Prof. A. N Upadhye, M.A , D. Litt
6. Bāhubali Story in Kannaḍa Literature—*by* Prof K. G. Kundangar, M.A. ... ...
7. Date of Malayagiri Sūri—*by* P K Gode, M.A. ... ...
8. Future of Jainism—*by* Dr. N. S. Junankar, Ph. D. ... ...
9. Jaina Literature in Tamil—*by* Prof. A. Ghakravarti, M.A., I.E.S.
10. Jaina Critique of the Samkhya and the mimamsa theories of the self in relation to knowledge—by Hari Mohan Bhattacharya, M.A. ... ...
11. Jaina Literature in Tamil—*by* Prof. A. Chakravarti, M.A., I.E.S.
12. Jaina Bibliography ... ...
13. Jaina Literature in Tamil—*by* Prof A. Chakravarti, M A., I.E.S.
14. Mind in Jain Philosophy—*by* S C. Ghoshal, M A., B.L., Sarasvati
15. Monastic Life in Sravaṇa Beḷgoḷa—*by* R. N Saletore, M.A. Ph. D. ... ...
16. New Studies in South Indian Jainism—*by* Prof. B. Seshagiri Rao
17. Review *by* A. N. Upadhye, M.A. ... ...
18. Some Iconographic Terms from Jaina Inscriptions—*by* Mr. V. S. Agrawala, M.A. ... ...
19. Select Contents of Oriental Journals ... ...
20. Some Inscriptions on Jaina Images—*by* Prof. A. N. Upadhye, M.A. ... ...
21. ravaṇa Beḷgoḷa—Its Secular Importance—*by* Dr. B. A. Saletore, M. A., Ph. D. (Lond.) ... ...
22. Śravaṇa Beḷgoḷa—*by* Prof. S. R. Sharma, M.A. ... ...
23. The Jaina Chronology—*by* Kamta Prasad Jain, M. R. A. S. ...
24. The Jaina Chronology—*by* Kamta Prasad Jain M. R. A. S. ...
25. The Mastakābhishēka of Gommaṭēśvara at Śravaṇa Beḷgoḷa—*by* Dr. M H Krishna, M. A., D. Lit. (Lond) Director of Archaeology Mysore State ... ...
26. The date of the consecration of the image of Gommaṭēśvara—*by* S. Śrīkaṇṭha Sastri, M.A. ... ...
27. Vadibha Simha and Vadi Raja—*by* S. Srikantha Sastri, M. A.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc, type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

DR. B. A. SALETORE M. A., Ph. D.
PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A., D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २)
(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ॥)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ॥)
(यह अर्ध मूल्य है)

(१०) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।॥)

प्राप्ति-स्थान—
जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ७ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI. No. I

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1940

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर क़ी सूचना भी तुरन्त उन्हीं को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र

भाग ७ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४।।) एक प्रति का १)

विक्रम-सम्वत् १९९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठ

१ वादीभसिंह—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १

२ हम्मीर, रायबद्दिय और चन्द्वाड़—[श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम० ए० ... ६

३ हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर प्रतिमा-लेख—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा १२

४ कुछ जैन ग्रन्थों में संगीत-चर्चा—[श्रीयुत बी० राघवन एम०ए०, पी० एच०डी० १९

५ संस्कृत के सांकेतिक अंक—[श्रीयुत पं० नेमिचन्द जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ ... २२

६ सत्प्ररूपणा-विभाग व वर्गणा-खण्ड-विचार—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी० ... ... २७

७ विविध-विषय-(१) हरिवंशपुराण का रचनास्थान—[श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम. ए. ५०

(२) गोमट शब्द पर विचार—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ५१

(३) श्रीपुराण—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री ... ५२

ग्रन्थमाला-विभाग

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीयुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... १०५ से ११२ तक

२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १६१ से १६८ तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक त्रैमासिक पत्र

भाग ७ | जून १९४०। ज्येष्ठ वीर नि० सं० २४६६ | किरण १

वादीभसिंह

[लेखक—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

आचार्य वादीभसिंह विश्रुत जैन महाकवियों में अन्यतम हैं। आपके वादीभसिंह, अजितसेन एवं ओडेयदेव ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। मेरा अनुमान है कि उल्लिखित इन तीन नामों में ओडेयदेव जन्मनाम, अजितसेन दीक्षानाम और वादीभसिंह पाण्डित्योपार्जित एक उपाधि है। हाँ, आप विद्वत्समाज में पाण्डित्योपार्जित इस उपाधि से ही अधिक विख्यात हैं। साथ ही साथ इस उपाधि से यह भी सिद्ध होता है कि आप एक बहुत बड़े वादी थे। श्रवणबेल्गोलस्थ 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' से भी इस बात की पुष्टि होती है।* अष्टसहस्री के टिप्पणकार लघुसमन्तभद्र ने अष्टसहस्री के मङ्गलाचरणगत पद्य पर टिप्पण करते हुए यों लिखा है—"तदेवं महाभागैः तार्किकार्कैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेन उपलालितामाप्तमीमांसामलं-चिकीर्षवः…………प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः श्रीवर्द्धमानमित्यादि।" इस से पता चलता है कि आचार्य समन्तभद्र की आप्तमीमांसा पर भी वादीभसिंह ने कोई टीका अवश्य बनाई थी। संभव है कि इसके अतिरिक्त कोई स्वतन्त्र मौलिक न्यायग्रन्थ भी आप के द्वारा रचा गया हो। किन्तु अभी तक आपका कोई न्यायग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है। स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' से प्रमाणित होता है कि वादीभसिंह पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे।†

*—सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्धस्फुरितमकुटचूडालीढपादारविन्दः।
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥

†—श्रीपुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम सन्निदध्यात।
यच्छक्तितः प्रकृतिमूढमतिर्जनोऽपि वादीभसिंहमुनिपुङ्गवतामुपैति ॥६॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यों तो वादीभसिंह का जन्मस्थान अज्ञात सा है ; फिर भी आपका ओडेयदेव नाम, मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेशस्थ पोल्लूरु तालुक के तिरुमलै नामक प्राचीन क्षेत्र में वर्तमान समाधि स्थान, द्राविडसंघ तथा अरुंगल अन्वय ये चारों वादीभसिंह को तमिलप्रान्तीय सिद्ध करने की चेष्टा अवश्य करते हैं। यह तो निर्विवाद है कि वर्तमान मद्रास प्रान्तान्तर्गत तमिल प्रदेश सुप्राचीन काल से द्राविड देश के नाम से विख्यात है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि वादीभसिंह का उक्त द्राविडसंघ इस प्रान्तीय नाम से ही प्रसिद्ध हुआ होगा। क्योंकि जैन एवं जैनेतर पुरातत्त्वविशारद यह प्रकट कर चुके हैं कि दिगम्बर जैन मुनियों के प्रचलित संघ, गण, शाखा आदि में अनेक किसी स्थान के ही द्योतक हैं। जैसे उदाहरणार्थ —माथुरसंघ, पुन्नाटसंघ, नविलूरुसंघ, कित्तूरुसंघ, कोलत्तूरुसंघ, देशीयगण, काणूरगण और हनसोगे शाखा। यों तो मद्रास प्रॉविंस में प्रचलित तमिल, कन्नड, तेलुगु, तुलु तथा मलयालम् ये पाँचो भाषायें द्राविड भाषा जाति के अन्तर्भुक्त हैं। फिर भी तमिल भाषा को ही द्राविड नाम से पुकारने की प्रथा जनता में आज भी वहाँ पर मौजूद है। अब आप 'अरुंगल' अन्वय को लीजिये। यह भी तमिल प्रान्त के गुडियपत्तन नामक स्थान की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करता है। यह एक बहुत प्रसिद्ध एवं प्राचीन स्थान है। सुना है कि आज भी यहाँ पर जैनी और जैनमन्दिर वर्तमान हैं। यों तो संघ, गण, गच्छ और अन्वय आदि प्रायः एकार्थवाची हैं। इसी लिये मुनिसंघों के लिये ये सभी शब्द जहाँ तहाँ व्यवहृत हुए हैं। परन्तु साधारणतः संघों के भेदों को गण और उपभेदों को गच्छ कहने की परिपाटी प्रचलित है। जैसे —नन्दिसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दान्वये। अनेक स्थानों में संघ को गण भी कहा है। जैसे—नन्दिगण, सेनगण, द्रमिल या द्राविडगण। खैर, यह विषयान्तर है। साथ ही साथ मुनिसंघों का इतिहास अभी तक प्रायः अंधकार में विलीन सा है। इसी लिये इस विषय में अभी तक हमारा ज्ञान बहुत ही सीमित है। हाँ, यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि द्राविडसंघ नन्दिसंघ का ही एक भेद है*। अतः श्रवणबेल्गोलस्थ मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि लेखों में द्राविड़संघ की परम्परा में कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, सिंहनन्दी, वक्रग्रीव, श्रीवर्द्धदेव, पात्रकेसरी, अकलंकदेव आदि आचार्य भी परिगणित किये गये हैं।

अब एक बात की शंका हो सकती है कि 'नीतिसार' के कर्त्ता ने यापनीय और द्राविड दोनों संघों को पाँच जैनाभासों में गिनाया है‡। इस सन्बन्ध में श्रीयुत पं० नाथूराम जी

*—श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुंगलः ।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवाराशिपारगः ॥ —नगर तालुक का शिलालेख नं० ३९

‡—गोपुच्छिकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्त्तिताः ॥ —नीतिसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामी का कहना है कि "जिस प्रकार वर्त्तमान भट्टारकों को हम शिथिलाचारी भ्रष्ट या जैनाभास कहते हैं, यद्यपि ये भी अपने को नन्दिसंघ, बलात्कारगण और कुन्दकुन्दाचार्यान्वयमुक्त बतलाते हैं, उसी प्रकार 'दर्शनसार' के कर्त्ता देवसेन द्राविडसंघ, यापनीयसंघ आदि के मुनियों के आचार देखकर उन्हें जैनाभास कह सकते हैं। क्योंकि इन संघों के साधु महन्तों या भट्टारकों के ढंग पर मठों और मन्दिरों में रहने लगे थे, राजसभाओं में आने-जाने लगे थे, इनके मन्दिरों को जागीरें लगी हुई थीं जिनका ये प्रबन्ध करते थे और तिल-तुषमात्र परिग्रह न रखने के आदर्श से नीचे गिर गये थे।" बल्कि आपने इस विषय में अपने 'वनवासियों और चैत्यवासियों के सम्प्रदाय' इस लेख में विस्तार से विचार किया है।

अस्तु, उपर्युक्त बातों को लक्ष्य में रखकर यह अनुमान करना निर्मूल नहीं कहा जा सकता है कि वादीभसिंह का जन्म तमिल प्रदेश में हुआ था। हाँ, यह बात ठीक है कि इनके जीवन का बहु भाग मैसूर प्रान्त में व्यतीत हुआ था और वर्तमान मैसूर प्रान्तान्तर्गत पोम्बुच्च ही आप के प्रचारक्षेत्र का केन्द्र था। इसके लिये पोम्बुच्च एवं मैसूर राज्य के भिन्न-भिन्न स्थानों में उपलब्ध आप से सम्बन्ध रखने वाले शिलालेख ही ज्वलन्त साक्षी हैं। वादीभसिंह एक राजसम्मानित कवि थे। यह बात मल्लिषेण-प्रशस्ति के सिवाय स्वरचित 'गद्यचिन्तामणि' में स्पष्टतया अंकित है†। इतना ही नहीं महामन्त्री, दण्डाधीश जैसे उच्च राजपदाधिकारी भी आप के अनन्य भक्त थे। खासकर विक्रम, मार, त्रिभुवनमल्ल आदि पोम्बुच्च के तत्कालीन सान्तर वंश के शासक, विष्णुवर्द्धन के महामन्त्री माधव, महाप्रतापी दण्डाधीश पुनीश, सरदार परमादि, श्रेष्ठी जक्कि आदि आप के एकान्त शिष्य रहे*।

जैनधर्म और जैनसिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त वादीभसिंह तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलङ्कार, कोशादि ग्रन्थों में पूर्ण निष्णात थे। यद्यपि आप संस्कृत, कन्नड, तमिल आदि कई भाषाओं के पारंगत विद्वान् रहे होंगे; परन्तु अभी तक आप की संस्कृत भाषा-बद्ध कृतियाँ ही उपलब्ध हुई हैं। मल्लिषेण-प्रशस्ति आदि से पता लगता है कि आप केवल एक उच्च कोटी के कवि ही नहीं थे। किन्तु एक उद्भट वादी और वाग्मी भी। आप के वादित्वगुण की विद्वन्मण्डली में कितनी धाक थी, इस बात का निदर्शन आप की 'वादीभसिंह' यह उपाधि ही पर्याप्त है। कोप्प का एक शिलालेख आप को 'जैनागमरूपी समुद्र की वृद्धि में चन्द्रमा' बतलाता है। इसी प्रकार बोगदि के एक शिलालेख में आप एक 'बड़े योगी' कहे गये हैं§। सारांशतया वादीभसिंह एक महान् योगी, त्यागी, तपस्वी, वादी,

†—श्रीमद्वादीभसिंहेन गद्यचिन्तामणिः कृतः।
स्थेयादोडेयदेवेन चिरादास्थानभूषणः॥

*—देखे—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

§—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग ६, पृष्ठ ८०—८१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाग्मी, कवि और तत्त्वज्ञानी थे। मैं ऊपर लिख चुका हूं कि सामान्य श्रावक से लेकर रा[जा] एवं बड़े-बड़े राजकर्मचारी तक आप के परम भक्त थे। श्रवणबेल्गोल के मल्लिषेणप्रशस्ति में भी आप के दो विद्वान् शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है, जिनके नाम क्रमशः शान्तिना[थ] और पद्मनाभ हैं। इनमें पहले की उपाधि 'कविताकान्त' और दूसरे की 'वादिकोलाहल' है। उल्लिखित यह लेख आप ही के एक और विद्वान् शिष्य मल्लिषेण मलधारिदेव के समाधि-मरण-सूचक है और यह विद्वन्मण्डली में 'मल्लिषेण-प्रशस्ति' के नाम से प्रख्यात है। इस लेख में केवल मल्लिषेण की ही नहीं, इनकी गुरुपरम्परा की भी बड़ो प्रशंसा लिखी मिलती है। पोम्बुच्च के नं० ३७ सन् ११४७ के एक स्तम्भलेख में वादीभसिंह की एक विदुषी शिष्या पम्पादेवी का भी उल्लेख मिलता है। यह पम्पादेवो तैलसान्तर की पुत्री, विक्रमसान्तर की भगिनी थी। पम्पादेवी महापुराण की एक अच्छी मर्मज्ञा थी। इससे पता चलता है कि वादीभसिंह केवल सान्तर-राजसभा के ही माननीय गुरु नहीं थे, प्रत्युत अन्तःपुर के भी एक विशिष्ट शिक्षणाचार्य थे।

अब वादीभसिंह के समय के सम्बन्ध में विचार करना है। श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामि शास्त्री, प्रोफ़ेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री, श्रीयुत पं० नाथूराम जो प्रेमी एवं 'संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास' के लेखक-द्वय वादीभसिंह को दशवीं शताब्दी का विद्वान् मानते हैं। इस समय-निर्द्धारण के विषय में निम्नलिखित दो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं :—

(१) भोज राजा (सन् १०१८—५५) के समकालिक कालिदास का एक वचन "अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती" यह वादीभसिंह के "अद्य निराधारा धरा, निरालम्बा सरस्वती" इस वचन के सदृश है, इसलिये वादीभसिंह भोज का पूर्ववर्त्ती अर्थात् सन् १०वीं शताब्दी का माना जाना चाहिये।

(२) 'यशस्तिलकचम्पू' के २य उच्छ्वास के १२६ वें श्लोक की व्याख्या में व्याख्याकार श्रुतसागर सूरि ने महाकवि वादिराज का एक श्लोक उद्धृत किया है और लिखा है कि वादिराज भी सोमदेवाचार्य के शिष्य थे। तथा सोमदेवाचार्य का "वादीभसिंहोऽपि मदीयशिष्यः श्रीवादिराजोऽपि मदीयशिष्यः" यह पद्य उद्धृत कर वादीभसिंह को वादिराज का गुरु-भाई और सोमदेवाचार्य का शिष्य बतलाया है। सोमदेव ने शक सं० ८८१ (सन ९५९) में अपना यशस्तिलकचम्पू समाप्त किया था और वादिराज ने शक सं० ९४७ (सन् १०२५) में अपना 'पार्श्वनाथचरित्र' को पूर्ण किया था। अतः वादीभसिंह का काल १०वीं शताब्दी होना चाहिये। हाँ, इतनी बात अवश्य हैं कि उल्लिखित विद्वानों में से किसी ने अपनी रचना में उक्त दोनों प्रमाणों को अपनाया और किसी ने एक ही। उपर्युक्त पहला प्रमाण तो मेरे

*—देखें—लेख नं०.५४ (६७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानते कोई बलिष्ठ नहीं जँचता। क्योंकि बहुत कुछ सम्भव है कि वादीभसिंह ने ही कालिदास का अनुसरण किया हो। अब रहा २य प्रमाण। इसके सम्बन्ध में श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र जी का कहना है कि "जब तक उक्त उल्लेख के स्थल आदि का पूरा विवरण नहीं मिलता और अन्य स्थलों से उसका समर्थन नहीं होता तब तक उसे प्रमाणकोटि में नहीं रक्खा जा सकता, क्योंकि दोनों विद्वानों में से किसी ने भी सोमदेव के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा है। तथा वादिराज ने 'न्यायविनिश्चयालङ्कार' के अन्त में दी गई प्रशस्ति में मतिसागर को अपना गुरु बतलाया है और वादीभसिंह पुष्पसेन का स्मरण करते हैं। अतः उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में हमें तो अकलङ्कदेव के सतीर्थ पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु प्रतीत होते हैं और उस दशा में उनका समय ईसा की सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रमाणित होता है‡।" पण्डित कैलाशचन्द्र जी ने ऊपर सोमदेव के गुरुत्व के सम्बन्ध में जो शंका उठायी है सो ठीक है, किन्तु आप के कथनानुसार वादीभसिंह अकलङ्कदेव के सतीर्थ, ईसा की सातवीं शताब्दी के पुष्पसेन के शिष्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होते। क्योंकि इस समय-निर्णय के समर्थन में शास्त्री जी के द्वारा दिये गये सभी प्रमाण बहुत ही निर्बल हैं। 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं?' शीर्षक लेख में इस बात पर मैंने यथेष्ट प्रकाश डाला है, अतः उन बातों की यहाँ पुनरावृत्ति करना पिष्ट-पेषण ही होगा।

अब यही विचार करना रह जाता है कि उल्लिखित विद्वानों के द्वारा निर्द्धारित वादीभसिंह के १०वीं शताब्दी का यह समय ठीक है कि नहीं। श्रीयुत स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत है कि नगर के ४० वें और ३७ वें शिलालेखों से वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध एवं १२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमित होता है*। मैंने 'भास्कर' भाग ६, किरण २ में प्रकाशित 'क्या वादीभसिंह अकलंकदेव के समकालीन हैं?' इस अपने लेख में 'मद्रास व मैसूर प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक' से अजितसेन या वादीभसिंह से सम्बन्ध रखने वाले १० लेखों को उद्धृत किया है। इनमें सब से पहला सन् १०७७ का एवं सब से पीछे का ११७० का है। इन लेखों में वादीभसिंह को कहीं अजितसेन पण्डितदेव, कहीं वादीभसिंह अजितसेन दोनों, कहीं अजितसेन मुनिपति, कहीं अजितसेन भट्टारक एवं कहीं मुनि अजितसेन देव आचार्य लिखा है। साथ ही साथ इन नामों के साथ संघ, अन्वय आदि सभी जगह नहीं दिये गये हैं। फिर भी इन सब नामों को प्रस्तुत वादीभसिंह के ही वाचक मानने में कोई बाधक प्रमाण दृष्टिगत नहीं होता। शिलालेखों के लेखन-क्रम से भी यही बात मालूम होती है।

‡—देखें—'न्यायकुमुदचन्द्र' की प्रस्तावना, पृष्ठ ११२

*—देखें—'जैनसिद्धान्तभास्कर' भाग २, पृष्ठ १५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अस्तु, उल्लिखित शिलालेखों में से १०७७ के प्रथम लेख से उस समय पोम्बुच में अजित-सेन या वादीभसिंह की वर्तमानता स्पष्ट प्रमाणित होती है। क्योंकि उसमें साफ लिखा हुआ है कि 'पंचकूट जिनमन्दिर के लिये विक्रमसान्तर देवने अजितसेन पण्डितदेव के चरण धोकर भूमि दी। वादीभसिंह की शिष्या पूर्वोक्त विदुषी पम्पादेवी इन्हीं विक्रमसान्तर की बहन थीं जिनका उल्लेख नं० ३७ (सन् ११४७) के पोम्बुच के एक स्तम्भलेख में 'यह अजितसेन पण्डितदेव या वादीभसिंह की शिष्या श्राविका थीं'—यों स्पष्ट अंकित है। हाँ, सन् १०९: के २य लेख में यह लिखा है कि 'इस स्मारक को अपने गुरु वादीभसिंह अजितसेन की स्मृति में महाराज मार सान्तरवंशी ने स्थापित किया।' आगे कोई ऐसा लेख दृष्टिगोचर नहीं होता जिससे वादीभसिंह की उपस्थिति स्पष्ट प्रमाणित होती हो। अतः सम्भव है कि कोई-कोई १०९० तक ही वादीभसिंह के जीवनकाल की मर्यादा मानकर १०९० के बाद के लेखों को आप के स्मृति-लेख मान लें। पर जीवन-काल में भी भक्तों के द्वारा अपने माननीयों का स्मारक वनवाना लोकविरुद्ध बात नहीं है। बल्कि आजकल भी इसके एक नहीं, अनेक दृष्टान्त दृष्टिगोचर होते हैं। इससे यह सिद्ध करना मेरा अभीष्ट नहीं है कि वादीभसिंह के नाम के वे सभी स्मारक आप के जीवन-काल में ही स्थापित हुए थे। हाँ, उल्लिखित सन् १०७७ का लेख अगर वास्तव में वादीभसिंह के उपस्थिति-काल का है तो मानना पड़ेगा कि वादीभसिंह ११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मौजूद थे। साथ ही साथ नं० १३१ (सन् १११७ ?) और नं० ४९२ (सन् ११२५) के क्रमशः हासन जिला के मुगुलूरु ग्राम एवं श्रवणबेल्गोल के उपलब्ध लेखों में प्रतिपादित पुष्पसेन ही वादीभसिंह के गुरु ज्ञात होते हैं।

इस पर प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री का कहना है कि सन् १०३५ में चालुक्य जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल के द्वारा वादिरुद्रगण को दिये गये दानसूचक बेलगाँवे के दानपत्र में यह अंकित है कि वादिरुद्रगण बहुत बड़े वादी थे और उन्होंने वाद में अकलङ्क वादिघरट्ट (?) वादीभसिंह, वादिराज आदि को वाद में जीत लिया था। अतः वादीभसिंह का समय ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध नहीं हो सकता। वह दानपत्र मेरे सामने नहीं है। खैर, यदि उल्लिखित दानपत्र में प्रतिपादित यह बात वास्तविक भी मान ली जाय तो भी उक्त समय-निर्णय में उससे कोई ऐसा विषम विरोध नहीं दीखता। क्योंकि सन् १०३५ और सन् १०७७ के काल में अधिक अन्तर नहीं है। मुझे तो दानपत्र की बात पर ही शंका होती है। वह शंका अकलङ्क को जीतने की बात को लेकर। पहले इसी बात की जाँच की ज़रूरत है कि यह अकलंक कौन हैं ? अगर भट्टाकलंक माने जायँ तो क्या यह घटना संभवपरक है कि नहीं ? क्योंकि अकलंक देव का समय ७ वीं ८ वीं शताब्दी माना गया है। वादीभसिंह वादिराज आदि के समकालीन किसी प्रसिद्ध दूसरे अकलंक का पता कम से कम मुझे तो नहीं लगता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार वादीभसिंह के काल-निर्णय-सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री को विज्ञ पाठकों के समक्ष मैंने रख दिया है। अब इसका अन्तिम निर्णय पाठक स्वयं कर लें। हाँ, इस सम्बन्ध में एक बात का खुलासा करना रह गया है। मैंने क्रमशः 'भास्कर' भाग २, किरण २ और भाग ६, किरण २ में लिखा था कि वादीभसिंह के 'क्षत्रचूडामणि' के अन्त में "राजतां राजराजोऽयं राजराजो महोदयैः। तेजसा वयसा शूरः क्षत्रचूडामणिर्गुणैः॥" यह पद्य अंकित है। मेरे खयाल से पद्यगत 'राजराज' शब्द श्लेषात्मक है और इसमें ग्रन्थकर्ता ने चरित्रनायक जीवन्धर के अतिरिक्त तत्कालीन शासक का भी उल्लेख किया है। यह शासक चोलवंशीय 'राजराज' हो सकता है। चोल राजाओं में इस नाम के दो व्यक्ति हुए हैं। राजराज प्रथम का काल सन् ९८५ से १०१२ तक और द्वितीय का सन् ११४६ से ११७८ तक का है। बहुत कुछ संभव है कि वादीभसिंह अन्तिमावस्था में मैसूर से अपनी जन्मभूमि को लौट आये हों और चोलशासक उक्त राजराज के राज्यान्तर्गत कहीं रह कर इस क्षत्रचूडामणि की रचना कर ग्रन्थान्त में आपने तत्कालीन तत्प्रान्तवर्ती शासक इस राजराज का उल्लेख कर दिया हो। इस मेरे अनुमान को श्रीयुत स्व० आर० नरसिंहाचार्य और श्रीयुत प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री इन दोनों पुरातत्त्वविशारदों ने स्वीकार किया है। परन्तु पूर्वोक्त अपने-अपने निर्द्धारित समयानुकूल आर० नरसिंहाचार्य वादीभसिंह को द्वितीय राजराज का समकालीन एवं प्रोफेसर एस० श्रीकण्ठ शास्त्री प्रथम राजराज का समकालीन मानते हैं। शास्त्री जी का कहना है कि द्वितीय राजराज की अपेक्षा प्रथम राजराज बहुप्रसिद्ध था। पर मेरे जानते यह कोई सबल तर्क नहीं है। क्योंकि ग्रन्थकर्ता का तो प्रायः प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तत्कालीन शासक का उल्लेख कर देने भर ही ध्येय रहता है। अब इस निबन्ध को अधिक न बढ़ाकर वादीभसिंह की कृतियों पर दो शब्द कह दिये जाते हैं।

वादीभसिंह की दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। पहली 'क्षत्रचूडामणि' तथा दूसरी 'गद्य-चिन्तामणि'। ये दोनों काव्य हैं। पर पहला पद्यकाव्य और दूसरा गद्य। इन दोनों रचनाओं में महावीर स्वामी के समसमयवर्ती महातेजस्वी एवं क्षत्रियोचितशौर्यगुणसम्पन्न महाराज जीवन्धर की जीवनी वर्णित है। ज्ञात होता है कि वादीभसिंह को आदर्श महापुरुष महाराज जीवन्धर की जीवनी अधिक प्रिय थी। यही कारण है कि आप की दोनों कृतियाँ जीवन्धर-चरित्र-प्रतिपादक ही मिलती हैं। उल्लिखित कृतियों में क्षत्रचूडामणि तो एक खासा नीतिग्रन्थ ही कहा जा सकता है। प्रायः प्रत्येक श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभीष्ट चरित्रांश और उत्तरार्द्ध में उसे पुष्ट करने के लिये नीति कही गयी है। नीति का पुट देकर कवि ने चरित्रांश को बहुत ही रोचक बनाया है। प्रायः सभी श्लोकों का अन्तिम भाग अर्थान्तरन्यासालंकार से अनुप्राणित है। दूसरी गद्यचिन्तामणि भी काव्योचित माधुर्य्य-सौकुमार्यादि प्राञ्जल गुणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से विशिष्ट एक महत्त्वपूर्ण गद्यकाव्य है। इसके सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ भी न लिखकर श्रीयुत टी० एस० कुप्पुस्वामी शास्त्री के अभिप्राय को ही नीचे उद्धृत किये देता हूं:— "पदलालित्य, श्राव्यशब्दसन्निवेश, निरर्गलवाग्वैखरी, सुगमकथासारावगम, चित्तविस्मापक कल्पना, चित्तप्रसादजनक धर्मोपदेश एवं धर्मानुकूल नीति आदि काव्य सुलभ सुन्दरगुण प्रचुर परिमाण में इसमें उपगुम्फित हैं।" हाँ, यह बात माननी पड़ेगी कि वादीभसिंह ने इसमें महाकवि बाण की ही रचना-पद्धति का अनुकरण किया है।

मैं अन्त में विद्वद्वर्य्य कुप्पुस्वामी शास्त्री को धन्यवाद दिये विना नहीं रह सकता हूं कि जिनके असीम प्रयास से ये दोनों अमूल्य जैन साहित्यिक कृतियाँ पहले पहल प्रकाशन में आयीं और मद्रास विश्वविद्यालय के पठनक्रम में प्रविष्ट हुईं*।

*—यह निबन्ध श्रीयुत पं० मोहनलाल जी काव्यतीर्थ के द्वारा सिवनी से प्रकाशित होने वाली सानुवाद क्षत्रचूडामणि के लिये ग्रन्थकर्त्ता के परिचय के रूप में लिखा गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम्मीर, रायबद्दिय और चन्दवाड़

[लेखक—श्रीयुत दशरथ शर्मा, एम० ए०]

विक्रम सम्वत् १३१३ में रचित अणुव्रत-रत्न-प्रदीप के रचयिता लक्ष्मण कवि ने तत्सामयिक चौहानवंशी राजा आहवमल्ल के विषय में निम्नलिखित बातें लिखी हैं:—

(१) वह यमुनातटस्थ रायबद्दियनगर का शासक था,

(२) उसके पूर्वज यमुनातटस्थ चन्दवाड़ नगर में राज करते थे,

(३) उसने दुष्प्रेक्ष्य म्लेच्छों पर विजय पाई और हम्मीर वीर के मन का शल्य नष्ट किया।[1]

अब प्रश्न यही है कि आहवमल्ल का समसामयिक यह हम्मीर वीर कौन था। प्रो० हीरा लाल जैन ने इसे रणथंभोर का राजा हम्मीर देव समझा है। प्रोफेसर साहब ने यह अनुमान इन शब्दों में किया है[2]:—'आहवमल्ल ने म्लेच्छों अर्थात् मुसलमानों से भी टक्कर ली और विजय पाई तथा किसी 'हम्मीर वीर' की कुछ सहायता भी की थी। संभव है कि ये 'हम्मीर वीर' संस्कृत के हम्मीरकाव्य तथा हिन्दी के हम्मीर रासो आदि ग्रन्थों के नायक 'रणथंभोर' के राजा हम्मीर देव ही हों। अलाउद्दीन खिलजी द्वारा रणथंभोर की चढ़ाई का समय सन् १२९९ ई० माना जाता है। इसी युद्ध में 'हम्मीर देव' मारे गये थे। वर्तमान उल्लेख और लड़ाई के बीच में ४२ वर्ष का अन्तर पड़ता है। यह अन्तर एक ही व्यक्ति के जीवनकाल के लिये कुछ असम्भव नहीं है।'

परन्तु मुझे यह अनुमान ठीक प्रतीत नहीं होता। इसके कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) सन् १२५३ अर्थात् सम्वत् १३१० में उलूग खां ने रणथंभोर पर आक्रमण किया। उस समय रणथंभोर का शासक हम्मीरदेव का दादा वाग्भट था।[3] यह बहुत सम्भव है कि अणुव्रत-रत्न-प्रदीप के रचनाकाल अर्थात् सम्वत् १३१३ तक यही रणथंभोर का राजा रहा हो।

(२) हम्मीरमहाकाव्य के वर्णन से प्रतीत होता है कि हम्मीर का जन्म उसके पिता जैत्र सिंह के राज्यकाल में हुआ था।[4] जैत्र सिंह ने सम्वत् १३३९ तक राज्य किया और वह सम्भवतः सम्वत् १३१३ के लगभग रणथंभोर के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था।

---

१ भास्कर भा० ६ किरण ३ पृष्ठ १५७ देखें।

२ भास्कर भा० ६ किरण ३ पृष्ठ १५७ देखें।

३ तबकाते नासिरी रैवर्टी-कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ८२८।

४ हम्मीर-महाकाव्य, सर्ग ४, श्लोक १३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत एव यह मानना असंगत न होगा कि अणुव्रत-रत्न-प्रदीप की रचना के समय रणथंभोर के हम्मीर देव का जन्म भी न हुआ था।

(३) हम्मीर की मृत्यु सन् १२९९ में नहीं बल्कि सन् १३०१ में हुई थी।* पुस्तक का रचनाकाल भी सन् १२५७ नहीं अपि तु सन् १२५६ है। इस प्रकार दोनों घटनाओं में लगभग ४५ वर्ष का अन्तर है। हम्मीरमहाकाव्य के वर्णन से ज्ञात होता है कि हम्मीरदेव अपनी मृत्यु के समय वृद्ध नहीं था। अतः सम्वत् १३१३ में उसकी अवस्था इतनी बड़ी नहीं हो सकती कि कोई राजा उसके मन के शल्य को दूर करने का प्रयत्न करें।

इन सब बातों का विचार करने और प्रसंग को ध्यान में रखते हुए मुझे तो 'हम्मीर-वीर-नट्ठ-सल्लु' के 'नट्ठ' शब्द के स्थान पर 'नद्ध' शब्द अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। यदि यह पाठ ठीक माना जाय तो 'हम्मीरवीर' का तात्पर्य दिल्ली के किसी मुसलमान राजा से ही हो सकता है। 'हम्मीर' और 'हम्मीरवीर' शब्द संस्कृत साहित्य में अधिकतर मुसलमान राजाओं के लिए ही प्रयुक्त होते रहे हैं। 'हम्मीर-मद-मर्दन' नाटक ऐसे ही एक हम्मीर के मदमर्दन का वर्णन करता है। सम्वत् १२१० के लगभग रचित 'ललित-विग्रहराज-नाटक' में तुरुष्कराज के लिये 'जगदेकवीर हम्मीर' शब्द प्रत्युक्त किया गया है। अनेक शिलालेखों में इसी प्रकार मुसलमान राजाओं के लिये 'हम्मीर' और 'हम्मीरवीर' शब्दों का प्रयोग देखा गया है। नमूने के तौर पर नीचे ऐसे दो अवतरण दिये जाते हैं जिनमें मुसलमान राजाओं के लिये 'अणुव्रत-रत्नप्रदीप' में प्रत्युक्त हम्मीर-वीर शब्द का ही प्रयोग मुसलमान राजाओं के अर्थ में किया गया है।

(१) मत्वा हम्मीरवीरं निखिलवसुमतीशल्यभूतं प्रभूतं
योग्योऽसौ वीरगोष्ठीनिपुणतरमतिः शत्रुलक्ष्मीभुजंगः।
प्रादाद्राजन्यचूडामणिकिरणगणासंजनिर्द्धूतपादो
भूपस्तस्मै प्रहृष्टो विशदगुणनिधेरासिकादुर्गमुग्रं॥

(२) प्रलयजलधिवेलोल्लोलकल्लोललीलं................संपिष्टशैलं।
दलितधरणिचक्रं वीरहंमीर चक्रं बहु तृणमकरोद्यः श्रीधरो दुर्गदर्पः॥

इनमें पहला अवतरण सम्वत् १२२४ का है और दूसरा चौलुक्य भीम द्वितीय के समय का। इनमें हम्मीरवीर का तात्पर्य स्पष्टतः किसी 'हम्मीर' नामक हिन्दू राजा से नहीं अपि तु यवनराज से है। अणुव्रत-रत्नप्रदीप में भी इसी प्रकार यह शब्द संभवतः किसी हिन्दू राजा के लिये नहीं अपि तु यवन राज सुल्तान नासिरुद्दीन के लिये प्रयुक्त किया गया है। उसने

* हम्मीर-महाकाव्य, भूमिका, पृ० ४७, टिप्पण २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक वार दोआब के प्रदेश पर आक्रमण किया था और वह उस प्रदेश के हिन्दुओं से तंग आ चुका था। आहवमल्ल सम्भवत उसके प्रबल विरोधियों में मुख्य था। इसलिये कवि-द्वारा उसके लिये 'दुष्प्रेक्ष-म्लेच्छ-रण-रंग-मल्ल' और 'हम्मीर-वीर-मनःनद्ध-शल्य' आदि पदवियों का प्रयुक्त किया जाना ठीक ही है। मैं 'नद्ध' शब्द को ठीक पाठ समझता हूं। सम्भव है कि प्रदीप की किसी अन्य प्रति में यही पाठ मिले। प्रोफेसर साहब की प्रति भी बहुत पुरानी और यत्र-तत्र फटी हुई है। वे कृपया देख कर लिखें कि पाठ असंदिग्ध रूप से 'नष्ट' ही है या नहीं। चन्दवाड़ अभी काफी प्रसिद्ध स्थान है। राजपूताने के अच्छे नक्शों में, फिरोजाबाद से कुछ मील दक्षिण, यमुना के किनारे चन्दवाड़ की स्थिति अब भी पाई जाती है। राजा जयचन्द इसी स्थान पर शाहाबुद्दीन गोरी-द्वारा परास्त किया गया था और यहीं यमुना के निर्मल जल में उसकी इह लीला समाप्त हुई थी।

मुझे इस बात में सन्देह है कि रायबा स्टेशन रायबद्दिय माना जा सकता है या नहीं। रायबद्दिय यमुना के तट पर था और रायबा यमुनातटस्थ नहीं है। इस नगर की ठीक स्थिति के लिये अभी और खोज की आवश्यकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर प्रतिमा-लेख

[सं०—श्रीयुत अगरचन्द नाहटा, भँवरलाल नाहटा]

इतिहास में शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्तियों और पुष्पिकालेखों का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हर्ष का विषय है कि जैनेतरों की अपेक्षा जैन समाज इन सामग्रियों से आज भी विशेष समृद्ध है किन्तु हमारे रत्न जो हमारी ही मिट्टी में कुचले जा रहे हैं उन्हें प्रकाश में लानेवालों का अभाव सा देखा जाता है। फिर भी श्वेताम्बर-समाज में इस ओर अच्छा प्रयत्न हुआ है जिसके फलस्वरूप हजारों महत्त्वपूर्ण प्रतिमालेख प्रकाश में आ गये हैं और उनसे इतिहास-लेखकों को बड़ी भारी सहायता मिलती है। उसमें केवल जैन समाज के लिये ही नहीं किन्तु भारतवर्ष के इतिहास की भी बहुत प्रामाणिक सामग्री पाई जाती है।

श्वेताम्बर समाज के लेखसंग्रहों में स्वर्गीय बाबू पूरणचन्द्र जी नाहर के ३ खण्ड, जैनाचार्य श्रीबुद्धिसागर सूरि जी के दो भाग, पुरातत्त्वाचार्य श्रीजिनविजय जी के २ भाग, मुनिराज श्रीविद्याविजय जी संपादित १ भाग, मुनिराज श्रीजयन्तविजय जी के आबू के शिलालेख, इतने स्वतंत्र ग्रन्थों में एवं देवकुलपाटक, सूरत नो स्वर्णयुग आदि ग्रंथों में एवं अनेक मासिक पत्रों में श्वे० प्रतिमालेख प्रकाशित हैं। पर जब हम दिगम्बर-समाज की ओर ध्यान देते हैं तो बड़ा दुःख होता है कि सैकड़ों की संख्या में विद्वान् और बड़े-बड़े धनी-मानियों के विद्यमान होते हुए भी साहित्यसंसार में पिछड़े हुए प्रतीत होते हैं। दि० प्रतिमा-लेख-संग्रहों में प्रो० श्री हीरालाल जी जैन, बाबू कामताप्रसाद जी और एक छोटा सा संग्रह बाबू छोटेलालजी जैन का ही अद्यावधि प्रकाश में आया है। ब्र० श्रीशीतलप्रसादजी के प्राचीन जैनस्मारक ४ भागों में कुछ लेख छपे हैं पर अभी तक यह प्रयत्न नगण्य सा है और इसी लिए दिगम्बर विद्वान् भट्टारकों का इतिहास अधिक तिमिराच्छन्न है। दि० इतिहास के नाना पहलुओं पर तभी प्रकाश पड़ेगा कि जब साधन संगृहीत होंगे; अतः दिगम्बर-समाज और विशेष कर विद्वानों से हमारा अनुरोध है कि वे इस ओर शीघ्र ध्यान देकर अपने-अपने स्थानीय मन्दिरों के प्रतिमालेखों को संग्रह करके 'जैनसिद्धान्तभास्कर', 'अनेकान्त' आदि पत्रों में प्रकाशित करें और अच्छी संख्या हो जाने पर उन्हें स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कर दें।

हमारे संग्रह के एक हस्तलिखित पत्र में "वांसखोह" नगर के दिगम्बर जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के लेखों का मसविदा है। जिसमें सं० १७८३ वैसाख वदि ८ को जो प्रतिमाएं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिष्ठित हुई थीं उनके छोटी-बड़ी प्रतिमा के अनुसार एक ही आशय के संक्षिप्त विस्तृत लेख लिखे हैं। पाठकों की जानकारी के लिये उस पत्र की नकल यहां देते हैं:—

वृहत् संवत

संवत्सरे वह्निवसुमुनींदुमिते १७८३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अष्टमीतिथौ बुधवारे श्रवण-नक्षत्रे वांसषोह नगरे अंबावती सामी कुछाहा गोत्रीय महाराजाधिराज श्रीजयसिंघजित्तत्सामंत कुंभाणी गोत्रीय राजि श्रीचूहड़सिंह जी राज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे नंद्याम्नाये बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाचार्या न्वये भट्टारक श्रीजगत्कीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये लुहाड़्यागोत्रे साह श्रीरामदासजो तद्भार्या रायवदे तत्पुत्रसंघभारयोग्यः श्रीजिनमतोद्योतकः संगही जी श्रीहृदयरामजी तद्भार्यास्तिस्रः प्रथमा केसरिदे द्वितीया ल्होड़ी तृतीया गूर्जरि, तत्पुत्रास्त्रयः प्रथम चि० श्रीखुश्यालचन्द द्वि० सेवाराम तृ० शंभूराम एतैर्युक्तस्तेन संघही श्रीहृदयरामेण बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

मध्य संवत

संवत् १७८३ वैशाख बदि ८ बुधवारे श्रवणनक्षत्रे वांसषोह नगरे कुंभाणी गोत्रीय राजि श्रीचूहड़सिंहजी राज्ये प्रवर्त्तमाने श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये खंडेलवालान्वये लुहाड्या गोत्रीय साह श्रीरामदासजी तत्पुत्रः संगहीजी श्रीहृदयरामजी तेन बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

जघन्य संवत्

संवत १७८३ वैशाखमासे कृष्णपक्षे अष्टमीतिथौ वांसषोहनगरे भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति-स्तदान्वये लुहाड़्या गोत्रीय संगहीजी श्रीहृदयरामजी तेन बिंबप्रतिष्ठा कारिता।

अतिजघन्य

संवत् १७८३ वैशाख वदि ८ प्रतिष्ठा कारिता

अति जघन्य जघन्य

संवत् १७८३ प्रतिष्ठित

श्वेताम्बर लेखसंग्रहों में भी कितने ही दि० लेख प्रकाशित हुए हैं। उन्हें भी संग्रह करके एक साथ प्रकाशित करने से इतिहास के अभ्यासियों को विशेष सुविधा मिलेगी। हमने लगभग २००० जैन प्रतिमालेखों का संग्रह किया है, उनमें जितनी सामग्री अभी हमारे पास है उनमें से दिगम्बर प्रतिमालेखों को एकत्र करके इस लेख में प्रकाशित करते हैं। सत्यता के नाते हमें एक बात का स्पष्टीकरण करना पड़ता है कि हमारे अवलोकन में जितने दि० लेख आये हैं, उनमें प्रायः अशुद्धियों का आधिक्य है। कइयों की तो बिना मात्रा की भद्दी लिखावट और भाषा भी अव्यवस्थित है, श्वेताम्बर लेख अपेक्षाकृत उनसे बहुत अच्छे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुवाच्य और सुव्यवस्थित पाये जाते हैं। फिर भी इन लेखों में कितने ही लेख अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। आशा है कि हमारा यह संग्रह इतिहासप्रेमियों को उपयोगी होगा।

(१)

सं० १५३७ वर्षे वैशाख सुदि १४ रवौ खंडेलवाल संतानि रासभढत्रं विमल रासमि (?)

(२)

सं० १४९३ माघ सुदि १० नुत दिने भट्टारक श्रीदेवेन्द्रकीर्ति सा। विसेरो (?) भा पेम्हि दे पुत्र त्रिभू केन।

(३)

भ० श्री ३ कनक। २ श्री धर्मकीर्ति ३ मदे

(४)

सं० १२८७ वर्ष फाल्गुण बदि ३ शुक्रे मण्डलाचार्य श्रीललितकीर्तिण० पटा नदिमा जा। रहरा ऋषि पूर्व्वी धियाः पुत्रेण नावृ (?)

(५)

सं० १७९४ मी माह सुद १३ माराठ नगरे मूल भ पा मलव (?) सरस्वती भवे पा भट्टेडका गाघत द्वरं आ ग त स की ति त दा म त भी प क..................

(६)

सं० १३५७ फागुण सुदि ३ श्री मूलसंघ खंडेलवालान्वये

(७)

सं० १६७६ मूलसंघे भ० रत्नचन्द्रोपदेशेन सीखप्प पा भाणिक भ० पाचह्लीसुत पद्मा भार्या दत्तां सुत नोवा हेमा रत्ना प्रणमति

(८)

सं० १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ५ श्रीमूलसंघे बादल जोत शिष्य गी वा अ......कराणि

(९)

सं० १५४७ वैशाख सु० ७ काष्टासंघे गुणभद्र अभयभद्र

(१०)

सं० १६३७ वर्षे वै० व० १८ श्रीमूलसंघे भ० श्रीगुणकीर्त्युपदेशात् ब्र अलवा भा० शहा सु० कदूवा ना क र ठा..........प्रणमति

(११)

सं० १५२९ वर्षे वैशाख सुदि ७ बुधे श्रीमूलसंघे भट्टारक श्रीसिधकीर्तिदेव। गोल ....सा ग रा ल कु भार्या लखज...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१२)

मूलसंघे श्रीभुवनकीर्ति आदेशात् १२३४ (दो लेख)

(१३)

संवत् १७९४...... .. श्रीमूलसंघे ?........ ....।

(१४)

सं० १५४९ मूलसंघे।

(१५)

श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे।

(१६)

संवत् १४९२ वर्षे वैशाष बदि १० गुरु श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे नंदिसंघे ० बलात्कारगणे भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवान् तत्पट्टे श्रीशुभचन्द्रदेवान् ततभ्राता श्रीसकलकीर्ति उपदेशात् हुंवड़ न्याति ऊत्रेश्वर गोत्रे ठा० लोंबा भा० फ़ह० श्रीपार्श्वनाथ नित्यं प्रणमति सं० तेजाः टोई भा० ठाकरसी हीरा देवा मूडलि वास्त० प्रतिष्ठिता॥

(१७)

संवत् १९(?४)७३ वरषे माघ सुदि ९ म (मू) ल सींघ भटारिष जी श्रीधरमचन्द दव साह जी श्री भरवर राम पाटणी जी त परणमंत सहा अमरराजै श्रीअमायसिंघ जी।

(१८)

संवत् १४५७ वीरष सुदि ७ श्रीमूलसंसीघे भटारीष जी श्रीधरमचंद दव साह वेखतरा पाटणी तीने परणमंते सहर गव गंगदुणी रा..........

(१९)

सं० १५४८ वर्षे वैसाख सुदि ३ श्रीमलतन टरक........... स ट क ब र जी पा प रावल नित्य प ण म त

(ऐसे कई लेख हैं)

(२०)

सं० १६३४ श्री मूल संघे . ...

(२१)

संवत् ११५५ उ।। मटद वि ५ संघे श्रीदेवसेन संध्रग्द वरु फा म स व दा दुसा... ...... जागतौन कारितं सघारकट गृहे के वं जिनालयंमि (?)

(२२)

संवत् १५३१ वर्षे फागुण सुदि ५ श्रीमूलसंघे भ० श्री जिणचन्द श्रीसिंहकीर्तिदेवा प्रतिष्ठितं॥ श्रीआगमसिरि जुल्लकी कमी सहित श्रीकलिकुंडयंत्र कारापितं॥ श्रीकल्याणं भूयात्॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२३)

सं १३४९ मू संघे वारु पीरोंहत देव।

(२४)

संवत् १५४२ वर्षे ज्येष्ठ सुदि ८ शनौ भ० श्रीजिनचंद्र रा भ० श्रीज्ञानभूषण सा० उ... भा०.........सु० नारायण

(२५)

सं० १५४० वर्षे वैशाख सुदि १० बुध श्रीकाष्टासंघे भ० श्रीसोमकीर्ति प्र० भट्टे उ राज... कामिक गोत्रे सा० ठाकुरसी मा० रूषी पुत्र योधा प्रणमति

(२६)

सं० १६८३ श्री काष्टा संघे भ० विजयप्रभ .... अग्रवाल मीत्म गोत्रे रावदा... प्रणमात।

(२७)

संवत् १५२७ वर्षे वैशाख बदि ११ बुधे श्रीमूलसंघे भ० श्रीसकलकीर्तिस्तत्य० म० श्री भुवनकीति उपदेशात् हु० बुध गोत्रे व्य० माहव भार्या भबकू सुत आसा भार्या राजू। भ्रा... सूरा भार्या गोमति मातृ शिवा भार्या महिगल दे सुत धरमा कारापित श्रीपार्श्वनाथ जिनेन्द्र नित्य प्रणमति।

(२८)

श्रीमूलसंघे भट्टारक शुभचन्द्रतच्छिष्या बाई डाही नित्यं प्रणमति॥

(२९)

संवत् १५९३ श्रीमूलसंघे मंडलाचार्य श्रीधर्मनंदि० आम्न्याये साधारणमल मागाणी भा० रेणा दे नित्यं प्रणमति

(३०)

सं० १५९६ वर्षे फा० बदि २ सोमे श्रीकाष्टासंघे न नरसिंघपुरा ज्ञातीय नागर गोत्रे म० रत्न सी भा० लीला दे पुत्र मह। राजपाल म० लेहआ म० राजपाल भार्या राजल दे पुत्र मया राका............नित्य प्रणमति भ० श्रीविश्वसेन प्रतिष्ठाः

(३१)

संवत् १६८८ वर्षे फागुण सुदि ८ शनिवासरे श्रीकाष्टासंघे माथुरान्वये पुष्करगणे तदाम्नाये भ० जसकीर्ति देवाः स्तत्पट्टे भ० क्षेमकीर्ति देवा तत श्रीत्रिभुवनकीर्ति भ० सहस्र-कीर्ति तस्य शिष्यणी अर्जिका श्रीप्रताप श्री कुरु (रु) जङ्गल देशे सपीदों नगरे गर्गगोत्रे चौ० इन्द्र संजनस्य भा० ४ प्र० सुखो भार्या तस्य पुत्री दमोदरी च द्वितीय नाम गुरुमुख श्रीप्रताप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री तस्य शिष्यणी बाई धरमावती पं० राईसिंह द्वितीय शिष्य बाई धरमावती गु० भा० पादुका करापितः कर्मक्षयनिमित्तं शुभं भवतुः ॥

४ चो० चूहरमल तस्य भार्या खल्हो तस्य पुत्र ८ सुखू १ मदू २ दुरगु ३ परंगह सरवण पदमा ६ इन्द्रराज ७ लालचन्द ८ ×

(३२)

संवत् १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारख श्रीमानचन्द्र देव........... प्रणमति

(३३)

सं० १५४८ वैशाख सु० ५ मूलसंघे सेणगण पंकूरगणे भटा सोमसेण शष्य (? शिष्य) राजसेण उपदे खंडेलवालान्वये गगलल गोत्रे सा० उभाला भार्या..........

(३४)

अजितनाथ श्रीमूलसंघे खरहथ प्रणमति

(३५)

सं० १६३७ वर्षे फागुण सु० १० श्रीमूलसंघे भ० गणकीर्त्युपदेशात् सा०......पणमति...

(३६)

सं० १५४८ वर्षे वैशाख सुदि ३ श्रीमूलसंघे भट्टारकजी श्री ....

(३७)

सं० १८२६ वैशाख सुदि ६ मूलसंघे भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति सं० भंदला० लम गोत्र कासवारा मस्थ भाना

(३८)

संवत् १४५७ वर्षे वैशाख सुदि ७ श्रीमूलसंघे भट्टारक जी धरमचंदर

(३९)

सं० १५१३ श्री काष्टासंघे भ० वरइ तियशः खेता सा भा० गांगीपुत्र तिलू नित्य प्रणमति

(४०)

सं० १५२९ वर्षे वैशाख सुदि० ७ दिने मूलसंघे भट्टारक श्रीसिंघकीर्ति देव.........

(४१)

सं० १५२२ वर्षे माघ सु० १३ बुध श्रीमूलसंघे भट्टारक श्री सिंघकीर्ति देवा सा० कल्हा पु० घाट......प्रणमति।

(४२)

सं० १५१३ व० वै० सु० ५ शु० श्रीकाष्टासंघे भटेवरी पं० जेसा भा० गविति पुत्र टस। माटा टाउड़ीरा प्रणमति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४३)

सं० १५७५ माह बदि ५ गुरौ श्रीमूलसंघे भ० श्रीविजयकीर्ति श्रे० जिणदास कान्हा

(४४)

संवत् १४५७ वर्षे वैशाख सुदि ७ श्रीमूलसंघे भट्टारकजी श्री धरमचन्दर साह वखत राम पाटणी

(४५)

सं० ११५५ जेठ वदि ५ सोम श्री देवसेनसंघ देवइमे मश्रवदात पासनाथ बिंब कारि

(४६)

सं० १५५७ वर्षे फागुण सुदि द्वितीया शुक्रवारे रेवती नक्षत्रे सा... ... . श्रीचारित्र भूषणवराः स्वर्गं जग्मुः ।।तत्पादपादयुगलमिदम् ।। चिरंनंदतात् तन्नाम्नवर भुवि ।।

(४७)

संवत १५४७ वर्षे वैशाख सु० ३ सोमे हुंबड़ ज्ञा० श्रे० तिला भा० हर्षू पु० श्रे० लाला भीमा नाथादयस्तेषु लालाकेन भा० रुक्मिणि पु० सिंघा बाघादि कुटुंबयुतेन स्वश्रेयसे श्री संभवनाथबिंबं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीमूलसंघे भ० श्रीज्ञानभूषण मूडहिटीवास्तव्य ।।श्री।।

नोट—यों तो भवन में भी बहुत से दिगम्बर जैन प्रतिमालेख संगृहीत हो सुरक्षित हैं और उन्हें यथावकाश शुद्धरूप में प्रकाशित कर देने का विचार भी बहुत दिनों से है। पर अपने समाज का रुचि-वैचित्र्य देखकर ऐसी-ऐसी चीजों को प्रकाशित करने में भय मालूम होता है। इसका ताजा उदाहरण भवन से प्रकाशित एक छोटा सा "प्रतिमालेख-संग्रह" ही पर्याप्त है जो कि भास्कर में धारावाहिक-रूप से बहुत दिनों तक प्रकाशित होता रहा। खेद की बात है कि इतनी कम कीमत की इस आवश्यक पुस्तक की आज तक दस-पाँच प्रतियाँ भी नहीं बिकीं। ऐसी अवस्था में कोई संस्था किसी भी ऐतिहासिक प्रकाशन का कार्य किसके भरोसे अपने हाथ में लेगी ! खैर, नाहटा बन्धुओं का यह "हमारे संग्रह के कुछ दिगम्बर जैन प्रतिमा-लेख" इसलिये यहां प्रकाशित किये जा रहे हैं कि इन श्वेताम्बर बन्धुओं के प्राक्कथन से दिगम्बर-समाज कुछ शिक्षा ग्रहण करे।

—के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुछ जैन ग्रन्थों में संगीत-चर्चा

[लेखक—श्रीयुत वी० राघवन, एम. ए., पी.-एच. डी.]

'स्थानांग सूत्र' जैन धर्म-ग्रन्थ है। अभयदेव ने संस्कृत में उसकी टीका की है। ग्रन्थ और टीका, दोनों ही, आगमोदय-समिति-सिरीज की संख्या ३ में प्रकाशित हुए हैं। टीका से पता चलता है कि 'पूर्वगतस्वरप्राभृत' नामक जैनग्रन्थ में भी संगीत-विद्या की चर्चा की गई है। टीका के ३९५ वें पृष्ठ में कहा गया है कि 'स्वरप्राभृत' में उन स्वरों का उल्लेख किया गया है, जिनसे २१ मूर्च्छनाओं की रचना होती है। इस स्थान में भरत और वैशाखिल का भी उल्लेख किया गया है।

टीका में संगीत-सम्बन्धी दोषों और गुणों के विषय में बतलाया गया है। उन दोषों की चर्चा की गई है, जो त्याज्य हैं, और उन गुणों के बारे में बतलाया गया है, जिनकी प्राप्ति आवश्यक है। दोष ६ हैं—भीत, द्रुत, रहस्य, उत्ताल, काकस्वर और अनुनास। 'भीत' से डरने, 'द्रुत' से जल्दबाजी, 'रहस्य' से धीमी आवाज, 'उत्ताल' से ताल से हटने, 'काकस्वर' से आवाज़ में कड़ापन, रुखाई के होने और 'अनुनास' से नाक से शब्द करने का तात्पर्य है।

भीतं त्रस्तमानसम्। द्रुतं त्वरितम्। रहस्यं ह्रस्व-स्वरं लघुशब्दम्। उत्तालं अस्थानतालम्। काकस्वरम् अश्राव्य स्वरम्। अनुनासम् ।

इसके बाद गुणों की चर्चा की गई है। गुण दो श्रेणियों में बाँटे गये हैं। पहली श्रेणी के गुण संख्या में आठ हैं—पूर्ण, रक्त, अलंकृत, व्यक्त, अविघुष्ट, मधुर, सम और सुकुमार। पूर्ण वह है, जिसमें सभी स्वर पूर्ण रीति से और शुद्धतापूर्वक उच्चरित हों। राग की भावात्मक विशेषता को स्पष्ट करना, अर्थात् रंग भरना, 'रक्त' कहलाता है। अलंकारों से भूषित संगीत 'अलंकृत' है। साहित्य और स्वर दोनों का स्पष्ट उच्चारण 'व्यक्त' है। 'अविघुष्ट' से उस गुण का बोध होता है, जिससे भद्दी तरह से चिल्लाकर गाने का परिहार किया जाय। 'मधुर' से कोकिल के स्वर की तरह मधुरता का बोध होता है। श्रुति और ताल का सामंजस्य 'सम' है। संगीत में लोच का लाना 'सुकुमार' कहलाता है।

पूर्णं, स्वरकलाभिः। रक्तं, गेयरागेण अनुरक्तस्य। अलंकृतं, अन्यस्वरविशेषाणां स्फुटशुभानां करणात् ?। व्यक्तम, अक्षरस्वरस्फुटकरणत्वात्। अविघुष्टं, विक्रोशनमिव यन्न विस्वरम्। मधुरं, मधुरस्वरं कोकिलारुतवत्। समं, तालवंशस्वरादिसमनुगतम्। सुकुमारं, ललितं ललतीवयत्। स्वरघोलनाप्रकारेण शब्दस्पर्शनेन श्रोत्रेन्द्रियस्य सुखोत्पादनाद्वेति। एभिरष्टभिर्गुणैर्युक्तं गेयं भवति, अन्यथा विडम्बना।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल वही संगीत, जिसमें ये गुण वर्तमान हों, संगीत का नाम सार्थक करता है। इन गुणों से हीन संगीत संगीत नहीं विडम्बना-मात्र है।

आठवें गुण, 'सुकुमार' की व्याख्या करते हुए अभयदेव ने 'घोलन' का उल्लेख किया है। यह स्वर के गमक की तरह ही कोई चीज है। रत्नाकर' के गमक आदि में इसका उल्लेख नहीं मिलता। अभयदेव ने दूसरी श्रेणी के जो गुण बताये हैं, उनमें भी इसी प्रकार के अपरिचित शब्द मिलते हैं। 'मृदुक' की व्याख्या इस प्रकार की गई हैं—उरःकंठशिरोविशुद्धं मृदुकम्। दूसरा शब्द 'रिभित' है। इसका तात्पर्य स्वरघोलन के प्रभाव से है यथा—यत्र अक्षरेषु घोलनया, संचरन् स्वरः रंगतीव घोलनाबहुलमित्यर्थः। तीसरा शब्द सप्तस्वर 'सीभरं' है : सप्तस्वराः अक्षरादिभिः समा यत्र। 'घोलन' की ही तरह 'सीभर' शब्द से भी हम अपरिचित हैं। शायद इस शब्द से ऐसी रचना का तात्पर्य है, जहाँ साहित्य के शब्द स्वर के अनुकूल और उपयुक्त ही हों।

पृष्ठ ४४९ब में अभयदेव ने 'गेय' और 'वर्णपद' नामक दो सङ्गीत-सम्बन्धी रचनाओं का उल्लेख किया है।

अभयदेव की टीका १०६३ खीस्ताब्द की मानी जाती है।

भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र; संस्कृतटीकाकार विनयविजयोपाध्याय। यह पुस्तक जैन पुस्तकोद्धार-फंड-सिरीज की ६१ वीं संख्या में है।

विनयविजय की टीका के ८२ वें पृष्ठ में 'तूण' नामक एक वाद्य यंत्र की और उसके बजानेवालों की चर्चा की गई है। इसी टीका के ८३ वें पृष्ठ में तीन प्रकार के ढोल का उल्लेख किया गया है। यह अंश बहुत रोचक है। इसमें बतलाया गया है कि 'मृदंग' वास्तव में क्या वस्तु है। उसके अनुसार आजकल जिस वाद्य-यंत्र को हम 'मृदंग' कहकर पुकारते हैं, वह मृदंग नहीं कहा जा सकता। तीन प्रकार के ढोल ये हैं—पणव, मुरज और मृदंग।

पणवो मृत्पटहः। मुरजो मर्दलः। मृदंगः मृण्मयः स एव।

'पणव' उस ढोल को कहते है जिसका आधार मिट्टी का हो और ऊपरी भाग चमड़े का हो। मृदंग की बनावट भी ऐसी ही होती है। 'मृदंग' शब्द से ही यह अर्थ भासित होता है कि वह मिट्टी का बना होता है और इस प्रकार यह शब्द आजकल के मृदंग के लिये लागू नहीं होता।

टीकाकार विनयविजय का समय १७ वीं शताब्दी खीस्ताब्द है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन पुस्तकोद्धार-सिरीज की ५३ वीं संख्या में हरिभद्रकृत 'आवश्यकवृत्ति' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। इसपर हेमचन्द्र का टिप्पण है। पृष्ठ २ ब में कई तालवाद्यों का उल्लेख मिलता है; यथा "भम्भा पृथुलमुखढक्काविशेषः।" 'भम्भा' एक प्रकार का 'ढक्का' है। अन्तर यही है कि भम्भा का मुख ढक्का से बड़ा होता है। एक दूसरे प्रकार के ढोल का नाम 'मुकुन्द' है। इनके सिवा 'कटिका' 'तलिमा' या 'तिउल्लिका' तथा कुछ अन्य वाद्यों का भी उल्लेख किया गया है।

हरिभद्र और हेमचन्द्र दोनों का ही समय ११ वीं शताब्दी खीस्ताब्द है।

———

रत्नशेखरसूरि ने श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र पर एक टीका लिखी है। दोनों ही जैनपुस्तकोद्धार-सिरीज में प्रकाशित हुए हैं।

इस टीका के १३३ वें पेज में रत्नशेखर ने लिखा है कि मूल राग ६ हैं—श्रीराग और पाँच दूसरे राग, और भाषा राग छत्तीस हैं। वह संक्षेप में संगीत और नृत्य का वर्णन करता है—७ स्वर, ३ ग्राम, २१ मूर्च्छनाएँ, ४९ तान, ३ मात्रा, ३ लय, ४ रूपक, राग, उपराग, रागांग, भाषांग, क्रियांग और उपांग।

रत्नशेखरसूरि की टीका का समय १४९६ खीस्ताब्द है।

——

अनुयोगद्वार सूत्र—टिप्पणकार मलधारि हेमचन्द्र, आगमोदयसमिति-सिरीज में प्रकाशित। इस टीका के १२७।। पृष्ठ पर संगीत की चर्चा की गयी है। इसकी बातें 'स्थानांग' पर अभयदेव की टीका में वर्णित बातों से मिलती-जुलती हैं। इसमें 'गोमुखी' या 'काहल' नामक वाद्य-यन्त्र का उल्लेख आया है। 'गोधिका' नामक ढोल का, जिसमें गोधा अर्थात् गोह के चमड़े का प्रयोग होता है, वर्णन आया है। 'गोधिका' का ही दूसरा नाम 'दरदरिका' भी प्रसिद्ध है। 'आडंबर' या 'पटह' नामक ढोल का भी उल्लेख आया है।

मलधारि हेमचन्द्र का समय १२ वीं शताब्दी खीस्ताब्द है।

अनुवादक—त्रिवेणीप्रसाद

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कृत के सांकेतिक अंक

[संग्राहक -'श्रीयुत पं० नेमिचन्द जैन, न्याय-ज्योतिषतीर्थ]

शून्य - गगन, ख, अभ्र, व्योमन्, वियत, अम्बर, नभस्, आकाश, अनन्त, अन्तरिक्ष, विष्णुपद, पुष्कर, सुरवर्त्मन्।

एक—सुधांशु, निशापति, पृथ्वी, द्विजराज, शशधर, नक्षत्रेश, क्षपाकर, धात्री, क्षमा, सोम, प्रालेयांशु, रजनीकर, हिमगु, मृगाङ्क, कलाधर, रूप, शशि, इन्दु, कु, भूमि, भू, चन्द्र, अब्ज, विधु, इला, उर्वी, निशाकर, प्रभव।

दो—युग्म, दस्र, यम, अश्विन, लोचन, द्वि, द्वय, कर, अश्वि, कृति, अक्षि, नयन, पक्ष, नेत्र, यमल, विभव, दृग्, द्वे, द्वौ, उभौ युगल, दृष्टि, चक्षुस्, ईक्षण, हस्त, मिथुन, युतक, द्वैत।

तीन—त्रय, गुण, क्रम, अग्नि, राम, दहन, हुताशन, पावक, त्रि, विश्व, अनल, शिखि, वह्नि, शुक्र, हरनेत्र, पुर, लोक त्रै. रत्न, भुवन, ज्वलन, वैश्वानर, तनूनपात्, वर्हि, कृशानु, रोहिताश्व, वायुसख, हिरण्यरेतस्, हव्यवाहन, सप्तार्चिस्, चित्रभानु. वड़वानल, वाडव।

चार—चतुर्, सागर, युग, अब्धि वेद, सिन्धु, कृत, वारिधि, जलधि, उदधि, पयोधि, अम्बुधि, विषधि, गति, कषाय, सलिलाकर, कूपार, पारावार, सरित्पति, अर्णव, जलनिधि, यादःपति, अपांपति।

पांच—इन्द्रिय, विषय, बाण शर इषु, नाराच, पञ्च, अक्ष, सायक, अशु, भूत, मरुत्, अर्थ, प्रजापति, शस्त्र, व्रत, विषय, तन्तुसायक।

छह—रस, ऋतु, अंग, षट्, अरि अङ्गिरस्, तर्क, जीव, लेश्या, द्रव्य, काय, खर, कुमार, वदन, पद, रिपु, द्विष, द्वेषण, दुर्हृद् सपत्नारि।

सात—भय, अचल, मुनि, गिरि, पन्नग, द्वीप, धातु, व्यसन, तत्त्व, सप्त, नग, भूभृत, क्ष्माधर, अद्रि, शैल, कुभृत्, अग, अश्व, घोटक, भूधर, गोत्र, चक्रवाल, त्रिकूट, शिलोच्चय, नरक, श्रीमुख।

आठ—अष्टन्, नाग, व्याल, गज, सिन्धुर, भुजङ्ग, द्विप, कुञ्जर, इभ, अहि, दन्तिन्, करिन्, वसु, हय, भर्वि, फणिन्, तनु, कर्मन्, वारण, द्विरद, अनीक, स्तम्बेरम, यूथप, पक्षी, यूथनाथ, मदकल, कलभ, करिशावक, स्पर्श।

नौ—नवन्, पदार्थ, केशव, नारायण, प्रतिनारायण, निधि, ग्रह, दुर्ग, गो, अङ्क, खग, खेचर, रन्ध्र, युवा।

दश—आशा, दिक्, ककुभ्, धाता, काष्ठा, हरित्, खशशि, खेन्दु, खभू, खिला, खाब्ज, खचन्द्र, खरूप।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्यारह—एकादशन्, भव, रुद्र, शिव, ईश्वर, ईश, शूलिन्, क्षितिभू, भुवाब्ज, चन्द्राब्ज, इलाब्ज, चन्द्ररूप, भुवेन्दु, भूरूप, विन्धुरूप, धूर्जटि, भूतेश, शंभु, पशुपति शूलिन्, महेश्वर, शंकर, शर्व, चन्द्रशेखर, सोमेन्दु सोमरूप, इलारूप, गिरीश, पिनाकिन् कपर्दिन्, श्रीकण्ठ, शितिकण्ठ, कपालभृत्, बामदेव, धात्रीभू, हर, भर्ग, त्र्यम्बक, भीम, स्थाणु।

बारह—द्वादशन्, सूर्य, अर्क, चक्रवर्तिन्, दिवाकर, भानु, कामदेव, बहुधान्य, इन, तपन, रवि, नयनभू, नयनेन्दु, दस्राब्ज, दस्ररूप दस्रेन्दु, युग्मेन्दु, युग्मरूप कराब्ज, करेन्दु, हस्तेन्दु, हस्तभू, अक्षिसोम, पक्षकु, पक्षभू, कर्मसाक्षिन्, जगच्चक्षुस्, लोकबन्धु, दिनमणि, धामनिधि, अंशुमालिन्, अब्जिनीपति, राशि, आदित्य भास्कर, हरिदश्व, उष्णरश्मि, मार्तण्ड, यमरूप यमकू, अर्यमन्, अहस्कर, कृतिरूप, दृग्भू, हस्तरूप करभू, लोचनाब्ज, लोचनरूप, ईक्षणेन्दु, ईक्षणरूप, विभवरूप, प्रभाकर, विभाकर, विकर्तन, द्वैताब्ज।

तेरह—त्रयोदशन्, गुणभू, रामभू, दहनकू, प्रमाथिन्, गुणाब्ज, गुणरूप, अग्निरूप, क्रमरूप, क्रमाब्ज, गुणेन्दु, क्रमेन्दु, रत्नरूप, रत्नभू, रत्नेन्दु पुरेन्दु, पुररूप, भुवनेन्दु, भुवनरूप, भुवनाब्ज, भुवनसोम, लोकेन्दु, लोकरूप, लोकाब्ज, ज्वलनरूप ज्वलनाब्ज, ज्वलनशशिन्, ज्वलनकू, वह्निभू, रत्नचन्द्र, रत्नसोम, शिखिरूप, शिखिकू, शिखिभू, वह्नीला, वह्निभू वह्निकू, शुक्लरूप, शुक्लाब्ज, शुक्लभू शुक्लकू, शुक्लचन्द्र, कृशानुरूप, कृशानुकू, कृशानुभू, दहनकू, दहनभू, दहनसोम, दहनेला, दहनक्ष्मा।

चौदह—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर, गुणस्थान, मनु, वज्रिण, मघवन्, चतुर्दशन्, वेदभू विक्रम, वेदकू, वेदेन्दु युगेन्दु, युगरूप, युगशशिन्, युगचन्द्र, चतुर्रूप, चतुर्भू, चतुष्कू कृतरूप, कृतकू, कृतभू, कृताब्ज, कृतशशिन्, कृतचन्द्र, वारिधिरूप, वारिधिभू, वारिधिचन्द्र, वारिधिसोम, जलधिरूप, जलधिकू, जलधिभू, जलधीला, पयोधीला, वेदेला, अम्बुधीला, उदधीला, मार्गणा, कषायाब्ज, गतीला, वार्धीला, विषधीला अर्णवभू अर्णवकू, अर्णवरूप, आश्रमभू, आश्रमकू, आश्रमसोम, विडौजस्, पाकशासन, शुनासीर, शतमन्यु, वासव, सुत्रामन्।

पंद्रह—पंचदशन्, तिथि, अक्षभू, इषुक्षिति, वृष, वाणेन्दु, वाणरूप, शराब्ज, शरेन्दु, अक्षकू, अक्षसोम, भूतरूप, भूताब्ज, शस्त्ररूप, शस्त्राब्ज शस्त्रभू, शस्त्रकू, वाणभू, व्रतरूप, व्रतभू, व्रतकू, व्रतक्ष्मा, व्रतेन्दु व्रतेला, इन्द्रियेला, विषयेला, वाणेला, शरेला, नाराचेला, अक्षीला, अर्थरूप, अर्थभू, अर्थकू, अर्थेला, अर्थसोम, अर्थशशिन्, अर्थचन्द्र, भूतेन्दु, अर्थेन्दु, वर्णरूप, वर्णेन्दु, वर्णकू, वर्णेला, वर्णसोम, अशुरूप, अशुकू, अशुभू, मरुद्भू मरुद्रूप, मरुत्कू, मरुदिला, मरुत्सोम।

सोलह—षोड़शन्, नृप, रसभू, अङ्गभू, अङ्गकू रसकू, रससोम, रसेला, रसेन्दु, अंगेदु, अंगेला, राजा, भूपति, इलापति, नृपति, पृथ्वीपति, चित्रभानु, मेदनीपति, अष्टि, रसाब्ज,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रसरूप, जीवरूप, जीवेन्दु, जीवचन्द्र, तर्करूप, तर्केन्दु, तर्कभू, तर्कशशिन्, अरि-
अरीला, अरिभू, अरिकू, तर्ककू, द्रव्यरूप, द्रव्यभू, द्रव्यकू, द्रव्येन्दु, कायरूप, काय-
कायकू, कायेन्दु, खरेन्दु, खरेला, खररूप, खरभू, पदरूप, पदेन्दु, पदकू, पदभू, पदसो-
पदेला, पदक्षमा, पदधात्री, रिपुरूप, रिपुभू, रिपुकू, द्विषरूप, द्विषेला, द्विषभू, द्विष-
लेश्याभू, लेश्यारूप।

सत्रह—सप्तदशन्, अत्यष्टि, अश्वभू, नगभू, अगभू, अचलभू, भयरूप, भयभू, मुनिभू, गिरि-
द्वीपभू, धातुभू, व्यसनभू, तत्त्वभू, अद्रिभू, नरकभू, नरकरूप, नरककू, अश्वकू, नग-
अगकू, अगेन्द्र, अगरूप, अगसोम, अचलसोम, भयसोम, भयेन्दु, भयकू, गिरि-
गिरिकू, गिरिभू, गोत्ररूप, गोत्रभू, वाजिरूप, वाजिभू, वाजिकू, चक्रवालेन्दु,
अद्रिकू, तत्त्वेन्दु, तत्त्वभू तत्त्वसोम, तत्त्वकू सप्तेन्दु, सप्तरूप, सप्तभू, सप्तकू, श्रीमुखेन्दु,
श्रीमुखसोम, श्रीमुखरूप।

अठारह—अष्टादशन्, धृति, नागाब्ज, व्यालेन्दु, भुजङ्गरूप, वसुभू, हयेन्दु, हयरूप, इभेन्दु,
अष्टेन्दु, अष्टरूप, हयभू, अष्टभू, व्यालाब्ज, व्यालरूप, वस्विला, तारण द्विपाब्ज, द्विपरूप,
द्विपेन्दु, गजेन्द्र, गजरूप, गजैक, तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, गजेन्दु, गजरूप, गजै-
तनुरूप, तनुभू, कर्मरूप, कर्मेन्दु, कर्मभू, वारणरूप, वारणेन्दु, वारणहिमभू, वारणा-
अहिरूप, अहिभू, अहिकू, कलभेन्दु, कलभैक, कलभरूप, यूथपेन्दु, यूथपरूप, यूथप-
यूथपकू, स्पर्शरूप, स्पर्शेन्दु, स्पर्शकू, स्पर्शभू, स्पर्शहिमगु द्विरदेन्दु, द्विरदरूप, द्विरद-
अनीकरूप, अनीकेन्दु, अनीकभू, दन्तिरूप, दन्तिभू, दन्तिकू, दन्तीला, करीला, भवीला,
फणीला, फणिरूप, पद्मिनीला, जट, दट, दक।

उन्नीस—पार्थिव, गोऽब्ज, अंकेन्दु, अङ्करूप, अङ्काब्ज, खगेन्दु, अङ्कभू, खगा-
रन्ध्राब्ज, रन्ध्ररूप, गोरूप, एकोनविंशति, झक, धक झट, धट, झप, धप, वक, व-
खेचरेन्दु, खेचररूप, पदार्थरूप, पदार्थेन्दु, केशवरूप, केशवभू, नारायणरूप, नारायणसो-
ग्रहरूप, ग्रहभू।

बीस—विंशति, खाश्वि, अभ्रलोचन, खनेत्र, गगनलोचन, व्योमपक्ष, खदस्र, खप-
अभ्रकृति, नख, व्यय, अख, इठ, उठ, ओफ, नफ, नठ, नख, ङठ, नर, नभाश्वि, नभ-
नर, नभकृति, नभपक्ष, खकृति, खपक्ष, खविभव पुष्करद्वे, अनन्तचक्षुस्, आकाशदस्र, अ-

इक्कीस—एकविंशति, स्वर्ग, इन्दुनेत्र, चन्द्रनयन, चन्द्रपक्ष, सर्वजित्, भूदस्र, भूयम, भूप-
कुदस्र, अब्जनयन, रूपनयन, रूपनेत्र, रूपयम, कठ, टख, पख, पठ, कफ, स्वर, नाक,
त्रिदशालय, सुरलोक, द्यौ, दिव, भूहस्त, विबुधालय, अमरलोक, अमरालय, सुराल-
देवलोक, देवालय, निर्जरलोक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईस—द्वाविंशति, नेत्रदस्र, नयनयम, खठ, फख, अश्वियमल, नयनाकृति, पक्षाकृति, नेत्रपक्ष, अश्विपक्ष, करयम, यमपक्ष, नेत्रविभव, द्विकर, नयनकर, हस्तपक्ष, यमपक्ष, यमलकृति, यमलपक्ष, रठ, ठख, खर, द्वियम, यमलनेत्र।

तेईस—त्रयोविंशति, क्रमयम, गुणयम, रामपक्ष, रामयम, लोकयम, लोकनेत्र, लोकदृग्, लोककृति, रामकृति, क्रमपक्ष, विश्वनेत्र, पुरनेत्र पुरनयन, पुरपक्ष, गुणपक्ष, रत्नयम, भुवनद्वय, गठ, डख डर, गर, बर बठ, वख, गफ, ज्वलनदस्र, ज्वलनपक्ष, दहनकृति, अनलपक्ष।

चौबीस—जिन, सिद्ध, अवतार, वेदपक्ष, युगनेत्र, सागराक्षि, कृतपक्ष, वेदनयन, गतिपक्ष, गतिनयन, कषायनयन, युगदस्र, सागरदस्र, अर्णवपक्ष, अर्णवकृति, कृतकृति, घठ, ढर, भख, धफ, सिन्धुदस्र, सिन्धुनेत्र, कषायदस्र।

पच्चीस—पंचविंशति, बाणनेत्र, बाणपक्ष, बाणाकृति, शराकृति, शरपक्ष, शरनेत्र, भूतपक्ष, भूतनेत्र, भूताकृति, भूतदस्र, अक्षपक्ष, सायकाकृति, नाराचनयन, नाराचदस्र अर्थाकृति, अर्थनेत्र, अर्थनयन व्रतपक्ष, व्रतकृति, शख, शठ, शर।

छब्बीस—षड्विंशति, रसनेत्र, रसदस्र, रसयम, अंगकृति, अंगयुगल ऋतुयम, ऋतुनेत्र, ऋतुपक्ष, ऋतुदस्र, चर, तठ, बख, षफ, अरिदस्र, अरिपक्ष, रिपुपक्ष, रिपुकृति, रिपुनेत्र, कायदस्र, कायनेत्र, काययम, काययुगल, खरपक्ष, खरकृति, खरदस्र।

सत्ताईस—सप्तविंशति, भ, नक्षत्र, ऋक्ष, छठ, सख, थर, अश्वनेत्र, अश्वयम, घोटकदस्र, घोटकयम, मुनिनेत्र, मुनिकृति, भयनेत्र, भयपक्ष, भयदस्र, सप्तयम, सप्तनेत्र, भूधरयम, भूभृन्नेत्र, शैलयम, गोत्रयम, नरकयम, नरकदस्र, श्रीमुखनयन, अंगपक्ष, अंगकृति, नगपक्ष, नगदस्र, नगयुगल, पर्वतद्वय।

अट्ठाईस—अष्टाविंशति, सिन्धुरनेत्र, इभनेत्र, इभपक्ष, इभाक्षि, इभाकृति, तनुयम, कर्मदस्र, वारणयम, वारणनेत्र, अनीकयुगल, हयद्वन्द्व, वसुपक्ष, तनुपक्ष, फणियम, व्यालनेत्र, नागयम।

उनतीस—एकोनत्रिंशत्, गोयम, अंकपक्ष, खेचरयम, गोयुगल, खगनेत्र, खगदस्र, खेचरकृति, रन्ध्रयम, रन्ध्रनेत्र, झर, झठ, ढफ, ग्रहयुगल, ग्रहयम, निधिनेत्र, निधियम, दुर्गनेत्र, दुर्गकृति।

तीस—त्रिंशत्, खरदहन, खगुण, खक्रम, अभ्रगुण, खराम, आकाशाग्नि, आकाशगुण, व्योमगुण।

इकतीस—एकदहन, इन्दुगुण, चन्द्रगुण, चन्द्रराम, टग, कड, पड, कब, कल, टल, कुगुण, कुदहन, भूराम, भूगुण, अब्जगुण, अब्जराम, इलागुण, कुरत्न, भूलोक, पृथ्वीलोक, इलालोक, चन्द्रलोक, शशिलोक, इन्दुलोक, चन्द्रभुवन, शशिभुवन, भूज्वलन, रूपगुण, रूपरत्न, रूपविश्व, रूपानल, क्षमालोक, एकत्रिंशत्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बत्तीस—द्वात्रिंशत्, रदन, दशन, दन्त, यमगुण, दस्रत्रय, युगलगुण, यमदहन, यमाग्नि, यमलोक, यमभुवन, कराग्नि, करवह्नि, नेत्ररत्न, नयनरत्न, नेत्रलोक, अग्निरत्न, करगुण, कररत्न, कराम, हस्तगुण।

तेंतीस—अमर, निर्जर, देव, त्रिदश, विबुध सुर, दिवौकस्, त्रिलोक, रामगुण, रत्नलोक, भुवनत्रय, लोकत्रय, त्रयस्त्रिंशत्, दहनाग्नि, क्रमरत्न, क्रमपुर, दहनत्रय, गड, वड, बल, लब, बल।

इन संख्या-सम्बन्धी सांकेतिक अंकों का संग्रह गणित-सार-संग्रह, सिद्धान्त-शिरोमणि (गणिताध्याय), ग्रहलाघव, सिद्धान्त तत्त्व-विवेक, लीलावती, बीजगणित, विश्वलोचन, अमरकोश और गोलप्रकाश इन ग्रन्थों से किया है। विशेषता यह है कि अजैन ग्रन्थों में तत्त्व शब्द से २५ लिया गया है किन्तु, गणितसार-संग्रह में तत्त्व शब्द से ७ ही लिया गया है।

दूसरा तरीका संख्या निकालने का यह भी है—

कटपयपुरस्थवर्णैः नवनवपञ्चाष्टकल्पितैः क्रमशः। स्वरनञशून्यं संख्यामात्रो परिमाक्षरं त्याज्यम्॥

क्रम से क से झ तक और ट से ध तक इन नौ-नौ अक्षरों को एकादिसंख्याबोधक जानना चाहिये। इसी प्रकार प से म तक पांच और य से ह तक आठ अक्षरों की संख्या भी। स्वर न ञ ये सब शून्य के द्योतक जानना। इस प्रकार शब्दों से संख्या की निष्पत्ति होती है।

ज्योतिषीजी का यह संग्रह अधूरा है, फिर भी इससे अन्वेषक विद्यार्थियों को कुछ न कुछ लाभ होगा ही। इस विषय पर एक गवेषणा-पूर्ण वृहत् लेख प्रकाश में आनेकी आवश्यकता है।

—के० बी० शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्प्ररूपणा-विभाग व वर्गणा-खण्ड-विचार

[लेखक—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एल० एल० बी०]

षट्खंडागम की प्रथम जिल्द के प्रकाशित होने पर उसके सम्बन्ध में की गई समालोचनाओं में एक दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित किये गये हैं. जिन पर यहां पुनः विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनमें प्रथम प्रश्न पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार का यह है कि—

सत्प्ररूपणा का नामकरण व विषय-विभाग

'सत्प्ररूपणा की जो विषय-सूची दी है वह केवल सत्प्ररूपणा की न हो कर उसके पूर्व के १५८ पृष्ठों की भी विषय-सूची है। अच्छा होता यदि उसे जीवस्थान के प्रथम अंश का विषय-सूची लिखा जाता, और सत्प्ररूपणा का जो मुख-पृष्ठ दिया है उस पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखा जाता, क्योंकि, षट्खंडागम का पहला खंड जीवस्थान है, उसी का णमोकार मंत्र मंगलाचरण है, न कि सत्प्ररूपणा का'। (अनेकान्त वर्ष २, कि० ३, पृ २०१)

मुख्तारजी की इस सूचना पर सूक्ष्म विचार करने पर भी उक्त विषय में हमें अपनी कोई भूल या त्रुटि ज्ञात नहीं हुई। हमने जो ग्रन्थका नाम दिया है और उसका विषय-विभाग किया है वह मूल ग्रन्थ को ध्यान में रख कर ही किया है। षट्खंडागम की अपेक्षा से 'जीवस्थान का प्रथम अंश' और सत्प्ररूपणा में भेद ही क्या है ? सत्प्ररूपणा ही तो जीवस्थान का प्रथम अंश है। उसी के आदि में मंगलाचरण किये जाने से वह जीवस्थान भर का मंगलाचरण हो जाता है। दूसरे, यथार्थतः तो वह सत्प्ररूपणा का ही मंगलाचरण है। आचार्य पुष्पदन्त ने उस मंगलाचरण को आदि लेकर सत्प्ररूपणा के ही सूत्रों की तो रचना की है। यदि हम इसे आचार्य भूतबलि की आगे की रचना से अलग करलें तो आचार्य पुष्पदन्त की रचना सत्प्ररूपणा मात्र ही तो रह जाती है और उसी का वह मंगलाचरण है। इसके आगे के छह सात सूत्रों में सत्प्ररूपणा का यथोचित स्थान और कार्य बतलाने के लिये चौदह जीव समासों और आठ अनुयोग द्वारों का उल्लेख मात्र किया गया है। धवलाकार ने इन सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग से जीवस्थान की उत्थानिका का वर्णन कर डाला और वह भी इतना लम्बा जो अनुवादादि-सहित मुद्रित प्रति के १५८ पृष्ठों में आया, तो क्या इस कारण वह मंगलसूत्र सत्प्ररूपणा का मंगलाचरण ही नहीं रहा या सत्प्ररूपणा के अन्तर्गत हो जाने से जीवस्थान का नहीं रहा ? ग्रन्थों में मंगलाचरण की व्यवस्था तो यही देखने में आती है कि ग्रन्थ के आदि में वह किया जाता है और जो भी खण्ड, स्कन्ध, सर्ग, अध्याय व विषय-विभाग आदि में हो उसी के अन्तर्गत निबद्ध होने पर भी वह समस्त ग्रन्थ का समझा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। समस्त ग्रन्थ पर उसका अधिकार प्रकट करने के लिये उसका एक स्वतन्त्र विभाग नहीं बनाया जाता। इस दृष्टि से सत्प्ररूपणा के आदि में होते हुए भी उस मङ्गलाचरण के समस्त जीवस्थान का अङ्ग बने रहने में कोई आपत्ति तो नहीं होना चाहिये। जीवस्थान ही क्यों, जहां तक ग्रन्थ में सूत्रकारकृत दूसरा मंगलाचरण न पाया जावे तहां तक उस मंगलाचरण का अधिकार समझना चाहिये, चाहे विषय की दृष्टि से ग्रन्थ में कितने ही विभाग क्यों न पड़ गये हों। स्वयं धवलाकार ने आगे कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को शेष तेवीस अधिकारों का भी मंगलाचरण माना है। यथा—

कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्स मंगलस्स सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो।

उसी कृति अनुयोगद्वार के आदि में आये हुए मंगलाचरण को स्वयं मुख्तारजी ने खींच-तान कर उससे पूर्व के खुद्दाबन्ध और बन्धस्वामित्व खण्डों का भी मंगलाचरण साबित करने का प्रयत्न किया है। तब जीवस्थान के ही आदि अंश सत्प्ररूपणा के प्रारंभ में दिये गये मंगलाचरण को समस्त जीवस्थान का समझने के लिये उसका सत्प्ररूपणा से अलग निर्दिष्ट किया जाना क्यों आवश्यक प्रतीत होता है, यह कुछ समझ में नहीं आता? मुख-पृष्ठ पर सत्प्ररूपणा की जगह 'जीवस्थान प्रथम अंश' ऐसा लिखने से क्या अच्छा होता, उसके विषय आदि पर क्या प्रकाश पड़ता और उससे पाठक क्या समझते? षट्खण्डागम के भीतर ऐसे अज्ञात-कुल-शील शीर्षक के लिये स्थान देना मैं अब भी उचित नहीं समझता। ग्रन्थ की विषय-सूची जो सत्प्ररूपणा की कही गई है वह मूल सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से है। धवलाकार ने आदि से लगा कर १७७ सूत्रों तक की एक ही सिलसिले से टीका की है और स्वयं उसे 'संतसुत्तविवरण' कहा है। चूंकि टीकाकार ने मंगलाचरण व प्रास्ताविक सूत्रों की ही व्याख्या में श्रुतावतार व जीवस्थान की उत्थानिकादि का विस्तार से वर्णन किया है, इसलिये सूची में उन विषयों का स्पष्ट अलग उल्लेख कर दिया गया है। इसमें हमें कोई त्रुटि व सुधार का आवश्यकता अब भी प्रतीत नहीं होती, तथा उक्त आपत्ति सर्वथा निर्मूल ज्ञात होती है।

मुख्तारजी की दूसरी आपत्ति विषय की दृष्टि से कुछ गंभीर है। वे लिखते हैं—

वर्गणा–खंड–विचार

"यहां पर एक बात जरूर प्रकट कर देने की है और वह यह कि प्रस्तावना में 'धवला को वर्गणा-खण्ड की टीका भी बतलाया गया है, परन्तु मेरे उस लेख की युक्तियों पर कोई विचार नहीं किया गया जो सिद्धान्तभास्कर के छठे भाग की पहली किरण में 'क्या यह सचमुच भ्रमनिवारण है' इस शीर्षक के साथ प्रकाशित हो चुका है और जिन पर विचार करना उचित एवं आवश्यक था। यदि उन युक्तियों पर विचार करके प्रकृत निष्कर्ष निकाला गया होता तो वह विशेष गौरव की वस्तु होता। इस समय वह पं० पन्नालालजी सोनी के कथन का अनुसरण जान पड़ता है, जिनके लेख के उत्तर में ही मेरा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त लेख लिखा गया था। इस विषय का पुनः विशेष विचार अनेकान्त के गत विशेषांक में दिये हुए 'धवलादि श्रुत-परिचय' नामक लेख में 'वर्गणाखण्ड-विचार' नामक उपशीर्षक के नीचे किया गया है। उस पर से पाठक जान सकते हैं कि उन युक्तियों का समाधान किये बगैर यह समुचित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि धवला टीका षट्खण्डागम के प्रथम चार खण्डों की टीका न होकर वर्गणाखण्ड सहित पांच खण्डों की टीका है।"

(अनेकान्त वर्ष ३, किरण २, पृष्ठ २०२)

ग्रन्थ के खण्ड-विभाग का जो परिचय हमने प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया है वह मत हमने धवला की उपलभ्य प्रति के सूक्ष्म अवलोकन व युक्ति-संगत अनुमानों द्वारा ही निश्चित किया है। वहां न किसी पूर्व प्रकाशित मत का ही अनुसरण किया गया और न खण्डन, क्योंकि स्थायी ग्रन्थ की भूमिका में सामान्य अवलोकन और विस्खलित स्वल्प सामग्री के आधार पर स्थिर किये गये मत मतान्तरों के खण्डन-मण्डन में पड़ना हमें अभीष्ट प्रतीत नहीं हुआ। किन्तु समालोचक हमारी उक्त समीक्षा को इस कारण विशेष गौरव की वस्तु नहीं समझते क्योंकि उसमें उनके 'लेख की युक्तियों पर विचार नहीं किया गया।' यदि समालोचक भूमिका के 'षट्खण्डागम-परिचय' शीर्षक स्कन्ध को ध्यान से पढ़ते तो उनकी शङ्काओं का समाधान हो जाता और यह भी समझ में आता कि उसमें किसी मत-विशेष का अनुसरण नहीं किया गया है। अस्तु, जब यह वर्गणाखण्ड-विषयक प्रश्न पुनः उठाया ही गया है, तब उस पर हमें पुनः विचार करना आवश्यक हो गया।

क्या वर्गणाखण्ड धवलान्तर्गत नहीं है?

षट्खण्डागम के जो छह खण्डों का परिचय प्रथम जिल्द की भूमिका में दिया जा चुका है उनमें से प्रथम तीन अर्थात् जीवट्ठाण, खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय तथा अन्तिम अर्थात् महाबंध जो स्वतन्त्र पुस्तकारूढ़ है, इन चार खण्डों के विषय में तो कोई आपत्ति नहीं बतलायी जाती। आपत्ति है वेदना और वर्गणाखण्ड के बीच की सीमा के संबन्ध में। मुख्तारजी का मत है कि 'धवला ग्रन्थ वेदना-खण्ड के साथ ही समाप्त हो जाता है, वर्गणाखण्ड उसके साथ में लगा हुआ नहीं है।' उन्होंने अपने इस मत की पुष्टि में जो युक्तियां दी हैं वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं:—

१ जिस 'कम्मपयडिपाहुड' के २४ अधिकारों का पुष्पदन्त और भूतबलि ने उद्धार किया है उसका दूसरा गुणनाम 'वेयणकसिण पाहुड' भी है जिससे उन २४ अधिकारों का वेदना-खण्ड के ही अन्तर्गत होना सूचित होता है।

२ चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणानाम का कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। अवान्तर अनुयोग के भी अवान्तर भेदान्तर्गत संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपणा को 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३ वेदनाखण्ड के आदि मंगलसूत्रों की टीका में वीरसेन ने उन सूत्रों को ऊपर कहे हुए वेदना, बंधसामित्तविचय और खुद्दाबंध का मंगलाचरण बतलाया है, और यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है। उपलभ्य धवला के शेषभाग में सूत्रकार-कृत कोई दूसरा मंगलाचरण नहीं देखा जाता, इससे वहां वर्गणाखण्ड की कल्पना गलत है।

४ धवला में जो 'वेयणाखण्ड समत्ता' पद पाया जाता है वह अशुद्ध है; उसमें पड़ा हुआ 'खण्ड' शब्द असंगत है, जिसके प्रक्षिप्त होने में कोई सन्देह मालूम नहीं होता।

५ इन्द्रनन्दि व विबुध श्रीधर जैसे ग्रन्थकारों ने जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। उनके सामने मूल ग्रन्थ नहीं थे, अतः एव उनकी साक्षी को कोई महत्त्व नहीं दिया जा सकता

६ यदि वर्गणाखण्ड धवला के अन्तर्गत था तो यह भी हो सकता है कि लिपिकार ने शीघ्रतावश उसकी कापी न की हो और अधूरी प्रति पर पुरस्कार न मिलने की आशंका से उसने ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति को जोड़ कर ग्रन्थ को पूरा प्रकट किया हो।

(जै० सि० भा० ६ कि० १, पृ०, ४२; अनेकान्त ३, १, पृ०३)

अब हम इन युक्तियों पर क्रमशः विचार करेंगे।

वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड एक नहीं हैं

यह बात सत्य है कि कम्मपयडिपाहुड का ही दूसरा नाम वेयणकसिणपाहुड है और वह गुण नाम भी है क्योंकि वेदना कर्मों के उदय को कहते हैं और उसका निरवशेष-रूप से जो वर्णन करता है उसका नाम वेयणकसिणपाहुड है। किन्तु इससे यह आवश्यक नहीं हो जाता कि समस्त वेयणकसिणपाहुड वेदनाखण्ड के अन्तर्गत ही होना चाहिये। यदि ऐसा माना जावे तब तो छह खण्डों की आवश्यकता ही नहीं रहेगी और समस्त षट्खण्ड वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत मानने पड़ेंगे, क्योंकि जीवट्ठाण आदि सभी खण्डों में इसी वेयणकसिणपाहुड के अंशों का ही तो संग्रह किया गया है और वह भी एक किसी खास क्रम से नहीं। किन्तु सूत्रकारों ने अपना स्वतन्त्रविषय-विभाग-क्रम बनाकर उसके उपयोगी जो सामग्री कम्मपयडिपाहुड के जिन अधिकारों में मिली उसे वहां से उठा कर अपने क्रम में यथास्थान ले लिया है। यह बात जीवट्ठाण की उत्थानिका में, उस खण्ड के विषय में, धवलाकार ने मुद्रित प्रति के १२५ आदि पृष्ठों में स्पष्ट बतला दी है और वह उक्त प्रति की भूमिका में दिये गये मानचित्रों से और भी स्पष्ट हो जाती है। धवलाकार ने स्पष्ट कहा है कि—

'वेदणाकसिणपाहुडमज्झादो अणुलोमविलोमकमेहि विणा जीवट्ठाणस्स संतादि अहियारा अहिणिग्गया त्ति. जीवट्ठाणं जत्थतत्थाणुपुव्वीए वि संठिदं। (सं० प० पृ० ७४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात् वेदनाकसिणपाहुड के मध्य से किसी आगे-पीछे केक्रम के विना ही जीवस्थान के संतादि अधिकार निकले हैं, इस कारण जीवस्थान यत्रतत्रानुपूर्वी से स्थापित हुआ है। यही बात और खण्डोंके विषय में भी कही जा सकती है। दूसरा खण्ड खुद्दाबंध पांचवें अधिकारबन्धन के एक विभाग से निकला है। उसी बंधन के अन्य-अन्य विभागों से तीसरा खण्ड बंधस्वामित्व व छठवां खण्ड महाबंध निकला है। इस प्रकार समस्त वेयणकसिण-पाहुड को केवल नाममात्र के सादृश्य के कारण वेदनाखण्डान्तर्गत नहीं कहा जा सकता। यह केवल हमारी ही कल्पना नहीं है किन्तु धवलाकार ने स्वयं वेदनाखण्ड को महाकम्मपयडी पाहुड समझलेने के विरुद्ध सतर्क कर दिया है। वेदनाखण्ड के आदि के मंगल के निबद्ध अनिबद्ध का विवेक करते समय वे कहते हैं:—

'ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडिपाहुडं, अवयवस्स अवयविस्तविरोहादो'

अर्थात् वेदनाखण्ड महाकर्मप्रकृति प्राभृत नहीं है, क्योंकि अवयव को अवयवी मान लेने में विरोध पड़ता है। यदि महाकर्मप्रकृति प्राभृत के चौबीसों अनुयोगद्वार वेदनाखण्ड के अन्तर्गत होते तो धवलाकार उन सब के संग्रह को एक अवयव क्यों मानते? इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत उक्त चौबीसों अनुयोगद्वार नहीं है।

क्या वर्गणा नाम का कोई पृथक् अनुयोगद्वार नहीं होने से उसके नाम पर खण्ड संज्ञा नहीं हो सकती? [2]

चौबीस अनुयोगद्वारों में वर्गणा नाम का कोई अनुयोगद्वार नहीं है, यह बिल्कुल सत्य है, किन्तु किसी उपभेद के नाम से वर्गणाखण्ड नाम पड़ना भी कोई असाधारण घटना तो नहीं कही जा सकती। यथार्थतः अन्य खण्डों में वेदनाखण्ड को छोड़ कर और शेष सब खण्डों के नाम या तो विषयानुसार कल्पित हैं, जैसे जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, महाबंध या किसी उपभेद के नामानुसार हैं, जैसे बंधस्वामित्वविचय। उसी प्रकार यदि वर्गणा नामक उपविभाग पर से उसके महत्त्व के कारण एक विभाग का नाम वर्गणाखण्ड रखा गया हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। चौबीस अधिकारों में जिस अधिकार या उपभेद का प्रधानत्व पाया गया उसी के नाम से तो खंडसंज्ञा की गई है, जैसा कि धवलाकार ने स्वयं प्रश्न उठाकर कहा है कि 'कृति, पास, कर्म और प्रकृति के प्ररूपण होने पर भी उन सब के नाम से खण्डसंज्ञा न रख कर प्रधानता की अपेक्षा से केवल तीन खण्ड किये हैं। शेष में प्रधानता नहीं पायी जाती जैसा उनके संक्षेप प्ररूपण से जाना जाता है। मुख्तारजी इसी संक्षेप प्ररूपण की दुहाई देकर वर्गणा को खण्डसंज्ञा से च्युत करना चाहते हैं। पर संक्षेप और विस्तार आपेक्षिक शब्द हैं, उनका प्रकृत में उपयोग अन्य अधिकारों के साथ मिलान द्वारा ही किया जा सकता है। अतएव इन अधिकारों के प्ररूपण विस्तार को देखिये। बंधस्वामित्त्वविचयखण्ड अमरावती प्रति के ६६७ पत्र पर समाप्त हुआ। उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चात् मंगलाचरण व श्रुतावतार आदि विवरण ७१३ पत्र तक चल कर कृतिका प्रारम्भ होता है जिसका ७५६ तक अर्थात् ४३ पत्रों में, वेदना का ७५६ से ११०६ अर्थात् ३५० पत्रों में, स्पर्श का, ११०६ से १११४ अर्थात् ८ पत्रों में, कर्म का १११४ से ११५९ अर्थात् ४५ पत्रों में, प्रकृति का ११५९ से १२०९ अर्थात् ५० पत्रों में और बन्धन के बंध और बंधनीय का १२०९ में १३३२ अर्थात् १२३ पत्रों में प्ररूपण पाया जाता है। इन १२३ पत्रों में से बंध का प्ररूपण प्रथम १० पत्रों में ही समाप्त कर दिया गया है, यह कह कर कि—

'एत्थ उद्देसे खुद्दाबंधस्स एक्कारस्स अणियोगद्दाराणं परूवणा कायव्वा '।

इसके आगे कहा गया है कि—

'तेण बंधणिज्ज-परूवणे कीरमाणे वग्गणपरूवणा णिच्छएण कायव्वा, अण्णहा तेवीस-वग्गणासु इमा चेव वग्गणा बंधपाओग्गा अण्णाओ बंधपाओग्गाओ ण होंति त्ति अवगमाणु-ववत्तीदो। वग्गणाणमणुमग्गणट्ठदाए तत्थ इमाणि अट्ठ अणियोगद्दाराणि णादव्वाणि भवंति' इत्यादि

अर्थात् बंधनीय के प्ररूपण करने में वगणाप्ररूपणा निश्चय से करना चाहिये, अन्यथा तेईस वर्गणाओं में येही वर्गणाएं बंध के योग्य हैं अन्य वर्गणाएं बंध के योग्य नहीं हैं, ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता। उन वर्गणाओं की मार्गणा के लिये ये आठ अनुयोगद्वार ज्ञातव्य हैं। इत्यादि।

इस प्रकार पत्र १२१९ से वर्गणा का प्ररूपण प्रारम्भ हो कर पत्र १३३२ पर समाप्त होता है, जहां कहा गया है—

'एवं विस्ससोवचयपरूवणाए समत्ताए वाहिरियवग्गणा समत्ता होदि।'

इस प्रकार वर्गणा का विस्तार ११३ पत्रों में पाया जाता है जो उपर्युक्त पांच अधिकारों में वेदना को छोड़ कर शेष सब से कोई दुगना व उस से भी अधिक है। पूरा खुद्दाबंध खण्ड ४७५ पत्र से ५७६ पत्र तक अर्थात् १०१ पत्रों में, तथा बंधसामित्तविचय ५७६ पत्र से ६६७ तक अर्थात् ९१ पत्रों में पाया जाता है। केवल वर्गणा का प्ररूपण इन दोनों से विस्तीर्ण है। ऐसी अवस्था में वेदना को छोड़ कर शेष अधिकारों में इस अवान्तर के भी अवान्तरभेदा-न्तर्गत वर्गणा को अन्य अधिकारों की अपेक्षा संक्षिप्त और प्राधान्यरहित कहना चाहिये था इसके विपरीत, यह स्पष्ट समझ में आ जाता है।

वेदनाखण्ड के आदि मंगलाचरण और कौन-कौन खण्डों का है ?

वेदनाखण्ड के आदि में मंगल सूत्र पाये जाते हैं। उनकी टीका में धवलाकार ने खण्ड-विभाग व उनमें मंगलाचरण की व्यवस्था की सूचना के जो अवतरण मुख्तारजी ने दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खण्डाणं। कुदो ? वग्गणा-महाबंधाणमादीए मंगलकरणादो। ण च मंगलेण विणा

भूदवलि-भडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। × × × × × कदि-पास-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खंडगंथसण्णमकाऊण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।

मुख्तारजी के मत से यहां "वीरसेनाचार्य ने उक्त मंगल सूत्रों की ऊपर कहे हुए तीन खंडों—वेदना, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधो—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की है कि वर्गणाखण्ड के आदि में तथा महाबंधखण्ड के आदि में पृथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रंथ का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, (बंधण) अनुयोगद्वारों का भी यहां (एत्थ-इस वेदनाखंड में) प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्ड संज्ञा न देने का कारण उनके प्रधानता का अभाव है, जो उनके संक्षेप कथन से जाना जाता है। उक्त फास आदि अनुयोगद्वारों मेंसे किसी के भी शुरू में मंगलाचरण नहीं है और इन अनुयोगद्वारों की प्ररूपणा वेदनाखण्ड में की गई है, तथा इनमें से किसी को खंड ग्रन्थ की संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपर के शंका- समाधान से स्पष्ट है।"

अब इस कथन पर विचार कीजिये। 'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु' का अर्थ किया गया है 'ऊपर कहे हुए तीन खण्ड अर्थात् वेदना, बंधसामित्त और खुद्दावंध।' हमें यहां पर यह याद रखना चाहिये कि खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्ड दूसरे और तीसरे हैं जिनका प्ररूपण हो चुका है और अभी वेदनाखंड के मंगलाचरण का ही विषय चल रहा है खंड का विषय आगे कहा जायगा। ऐसी अवस्था में 'उवरि उच्चमाण' जिसकी संस्कृत छाया, जहां तक मैं समझता हूं, 'उपरि उच्यमान' ही हो सकती है, का तात्पर्य ऊपर कहे गये दो और आगे कहे जाने वाले तीसरे खंड से कैसे हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। यदि मुख्तारजी के इस अर्थानुसार 'उवरि' पर ध्यान दें तो वेदनाखण्ड छूट जाता है और उच्यमाण पर दें तो ऊपर के दो खण्ड छूट जाते हैं। ऐसी अवस्था में उवरि उच्चमाण पद-द्वारा ये तीन खंड कैसे इकट्ठे किये गये यह जाना नहीं जाता। अब आगे का शङ्का-समाधान देखिये। प्रश्न है यह कैसे जाना कि यह मंगल 'उवरि उच्चमाण' तीनों खण्डों का है? इसका उत्तर दिया जाता है, 'क्योंकि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किया गया है।' यदि यहां जिन खण्डों में मंगल किया गया है उनको अलग निर्दिष्ट कर देना आचार्य का अभिप्राय था तो उनमें जीवट्ठाण का भी नाम क्यों नहीं लिया, क्योंकि, तभी तो तीन खंड शेष रहते ? फिर आगे कहा गया है कि मंगल किये विना भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ प्रारम्भ ही नहीं करते, क्योंकि, उससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है। पर यहां तो एक नहीं दो-दो खण्ड मङ्गल के बिना केवल प्रारम्भ ही नहीं समाप्त भी किये जा चुके हैं, जिनकी मङ्गलव्यवस्था उक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मतानुसार अब पीछे से की जा रही है। पर मुख्तारजी ने यह बतलाने की कृपा नहीं की कि इस प्रकार की मङ्गलव्यवस्था का क्या कहीं कोई आधार है? प्रस्तुत में तो भूतबलि आचार्य केवल आदि मङ्गल को ही स्वीकार करते हैं। उसके विना वे अनाचार्यत्व दोष उत्पन्न होना मानते हैं। मङ्गल के जो निबद्ध-अनिबद्ध रूप दो भेद इस मङ्गल के प्रकरण में तथा जीवट्ठाण के प्रारम्भ में बताये गये हैं उनमें भी सूत्र के आदि में ही मङ्गल किये जाने पर जोर दिया गया है। यथा—

'जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण णिबद्ध देवदाणमोक्कारो तं णिबद्धमङ्गलं। जो सुत्तस्सादीए सुत्तकत्तारेण कयदेवदाणमोक्कारो तमणिबद्धमंगलं'।

(सं० प्र० १ पृ० ४१)

किन्तु सत्प्ररूपणा पृष्ठ ४०, ४१ में, मध्यमङ्गल और अन्तमङ्गल का भी विधान पाया जाता है। पर इस विधान-द्वारा भी खुद्दाबंध और बन्धसामित्त से प्रस्तुत मङ्गल का संबन्ध नहीं बैठाया जा सकता, क्योंकि, न वह उनके मध्य में रखा गया है और न अन्त में। वे दोनों खण्ड इससे पूर्व ही क्रम से समाप्त हो चुके हैं। ऐसे कठिनाई के स्थलों के लिये संस्कृत साहित्य में एक और युक्ति पाई जाती है, जिसे 'देहलीदीपकन्याय' कहते हैं। जिस प्रकार द्वार की देहली पर दीपक रख देने से घर के भीतर और बाहर दोनों ओर प्रकाश हो जाता है, उसी प्रकार कहीं-कहीं बीच में आये हुए पद या प्रकरण का सम्बन्ध ऊपर और नीचे दोनों ओर जोड़ लेते हैं। पर यह बात बनती तब है जब वह बीच की चीज बीच की ही हो, वह पूर्व के अन्त और उत्तर के आदि की नहीं गिनी जाती। पर यहां तो यह मङ्गल आदि मङ्गल कहा जा रहा है। इतने पर भी खींचातानी करके यदि इस मङ्गल को बन्ध-सामित्तविचय और वेदनाखण्ड के बीच की चीज मान कर उसे दोनों ओर जोड़ भी लें तो भी खुद्दाबंध के साथ उसका सम्बन्ध जुटाने में तो हमारा यह देहलीदीपकन्याय भी असमर्थ है, क्योंकि उस खण्ड का तो यहां स्पर्श भी नहीं है।

आगे के शंका-समाधान की भी यही दुर्दशा की गई है। प्रश्न है, कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहां प्ररूपित है, उनकी खंडसंज्ञा न करके केवल तीन ही खंड क्यों कहे जाते हैं? उत्तर है, उनमें प्रधानत्व का अभाव है और यह उनके संक्षेप प्ररूपण से ज्ञात हो जाता है। मुख्तारजीने अपने अवतरण व स्पष्टीकरण में प्रकृति के आगे बन्धन और अपनी तरफ से जोड़ दिया है, तथा 'एत्थ' का तात्पर्य इस वेदनाखण्ड में ऐसा बैठाया है। पर उन्होंने यह खुलासा नहीं किया कि अनुयोगद्वारों की गणना में बन्धन अपनी तरफ से जोड़ने की उन्हें आवश्यकता क्यों पड़ी। यदि गणना अधूरी जंची तो चौबीस अनुयोगद्वारों में के शेष सभी क्यों नहीं जोड़ दिये? उन्होंने यह भी स्पष्ट नहीं किया कि यहां धवलाकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तात्पर्य कौन से तीन खण्डों से है ? क्या वे ही जिनका सम्बन्ध मंगलाचरण से बैठाया गया है या अन्य कोई ? इसका स्पष्टीकरण यहां बहुत जरूरी था। यदि यहां भी खुद्दाबंध, बंधसामित्त और वेदना से ही अभिप्राय है तो वह किस अपेक्षा से ? यदि चौबीस अनुयोगद्वारों में से उत्पत्ति की ही यहां अपेक्षा है तो जीवस्थान, वर्गणा और महाबंध भी तो वहीं से उत्पन्न हुए हैं, फिर उन्हें किस विचार से अलग किया गया ? और यदि वेदना, वर्गणा, महाबंध से यहां अभिप्राय है तो एक तो मुख्तारजी के उक्त क्रम में भंग पड़ जाता है और दूसरे वर्गणाखण्ड का भी इन्हीं अनुयोगद्वारों में अन्तर्भाव का प्रसंग आता है जो उन्हें इष्ट नहीं है।

इस प्रकार मुख्तारजी की उक्त कल्पना से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। अतः वेदनाखण्ड के आदि में आये हुए मंगलाचरण को ऊपर के खुद्दाबन्ध व बंधसामित्त तथा आगे के वेदना, इस प्रकार से तीन खण्डों का मंगलाचरण सिद्ध करने का प्रयत्न बड़ा बेतुका और निराधार तथा सारे प्रसंग को गड़बड़ी में डालने वाला है। यह सब कल्पना किन भूलों का परिणाम है और उक्त अवतरणों का सच्चा रहस्य क्या है यह आगे चल कर बतलाया जायगा। इससे पूर्व यहां मुख्तारजी की शेष दो युक्तियों पर और विचार कर लेना आवश्यक है।

धवला में जहां वेदनाखण्ड समाप्त हुआ है वहां यह वाक्य पाया जाता है—

वेदनाखण्ड-समाप्ति की पुष्पिका

'एवं वेयण-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।'

इसके आगे कुछ नमस्कार-वाक्यों के पश्चात् पुनः लिखा मिलता है 'वेदनाखण्ड समाप्तम्'

यह बात सच है कि 'वेयणाखंड समत्ता' वाक्य व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है और मुख्तारजी का यह भी अनुमान गलत नहीं कहा जा सकता कि इस वाक्य में खण्ड शब्द संभवतः प्रक्षिप्त है। खण्ड शब्द निकाल देने से 'वेयणा समत्ता' वाक्य ठीक बैठ जाता है। हो सकता है वह लिपिकारद्वारा प्रक्षिप्त हुआ हो। पर उससे यह तो सूचना हमें मिलती है कि वह लिपिकार वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति समझता था। इस प्रक्षेप को आधुनिक लिपिकारकृत तो मुख्तारजी भी नहीं कहते। यदि वह प्रक्षिप्त है तो उसी लिपिकारकृत हो सकता है जिसने मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रतिलिपि की है। हम अन्यत्र बतला चुके हैं कि मूडविद्री की ताड़पत्रीय प्रति संभवतः शक की ९ वीं—१०वीं शताब्दि की है अर्थात् आज से कोई हजार आठ सौ वर्ष पुरानी। उस प्रक्षिप्त वाक्य से उस समय के कम से कम एक व्यक्ति का यह मत तो मिलता है कि वह वहां वेदनाखंड की समाप्ति समझता था। उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस लेखक की जानकारी में इसके सिवा और कहीं वर्गणाखण्ड नहीं था, नहीं तो वह वर्गणाखण्ड के समाप्त होने की वहां विश्वासपूर्वक दो-दो बार सूचना देने की धृष्टता कदापि न करता। हम जो कुछ ऊपर ऊहापोह कर आये हैं उससे तो ज्ञात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है कि मूलतः यहां वेदनाखण्ड के समाप्त होने का कोई संकेत रहा हो तो आश्चर्य नहीं। यदि नहीं रहा तो प्रति के लिखाने वाले किसी भारी विद्वान् ने वहां वह सूचना डालने का आदेश किया होगा। और यदि लेखक ने उसे अपने ही मन से डाला हो तो कहना चाहिये वह बड़ा विवेकी विचारवान् लेखक था। विना किसी आधार व प्रमाण के लेखक बेचारे को वहां खण्ड शब्द डालने की क्यों प्रवृत्ति हुई होगी यह तो सोचना चाहिये ? मुख्तारजी ने कहा है कि अनेक अन्य स्थलों पर भी नानाप्रकार के वाक्य प्रक्षिप्त पाये जाते हैं। यह बात सच है, पर जो उदाहरण उन्होंने बतलाया है वहां, और जहां तक मैं अन्य स्थल ऐसे देख पाया हूं तहां तक यही पाया जाता है कि लेखक ने अधिकारों की संधि आदि पा कर अपने गुरु या देवता का नमस्कार या उनकी प्रशस्ति-सम्बन्धी वाक्य या पद्य डाले हैं। यह पुराने लेखकों की शैली सी रही है। पर ऐसा स्थल एक भी देखने में नहीं आया और न मुख्तारजी ने ही बतलाने की कृपा की कि जहां पर लेखक ने अधिकार-सम्बन्धी सूचना गलत-सलत अपनी ओर से जोड़ घटा दी हो। प्रकृत विषय पर तो ऐसा ही उदाहरण लागू हो सकता था। अत एव चाहे यह खण्ड शब्द किसी लिपिकार-द्वारा प्रक्षिप्त हो और चाहे मौलिक, उससे वेदनाखण्ड के वहां समाप्त होने की एक पुरानी मान्यता तो प्रमाणित होती है।

५ इन्द्रनन्दि की प्रामाणिकता

इन्द्रनन्दि और विबुध श्रीधर ने श्रुतावतार का स्वतन्त्ररूप से कथानक लिखा है जिसमें उन्होंने षट्खण्डागम की रचना का विवरण दिया है। विबुध श्रीधर का श्रुतावतार कथानक तो बहुत काल्पनिक है, पर उसमें भी धवलान्तर्गत पांच या छह खण्डोंवाली बातमें कुछ अविश्वसनीयता नहीं दिखती। इन्द्रनन्दि ने प्रकृत विषय से संबन्ध रखनेवाली जो वार्ता दी है उसको हम प्रथम जिल्द की भूमिका में पृ० ३८ पर लिख चुके हैं। उसका संक्षेप यह है कि वीरसेन ने उपरितम निबन्धनादि अठारह अधिकार लिखे और उन्हें ही सत्कर्मनाम छठवां खण्ड संक्षेपरूप बनाकर छह खण्डों की ७२ हजार ग्रन्थप्रमाण प्राकृत-संस्कृत-भाषा-मिश्रित धवला टीका बनाई। इस बात के बोधक इन्द्रनन्दि के शब्द ध्यान देने योग्य हैं—

उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १८० ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खण्डानां ग्रंथसहस्रैः द्विसप्तत्या ॥ १८१ ॥
प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवलां च.....................

इन शब्दों का धवलाकार के उन शब्दों से मिलान कीजिये जो इसी सम्बन्ध में उनके द्वारा कहे गये हैं। निबन्धनादि विभाग को वहां भी 'उवरिम गंथ' कहा गया है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अठारह अनुयोगद्वारों के संक्षेप में प्ररूपण करने की प्रतिज्ञा की गई है। यह बात सच है, जैसा कि मुख्तारजी ने बतलाया है, कि इन्द्रनन्दि की श्रुतावतारकथा में कुछ बातें ऐसी हैं जिनका धवलान्तर्गत विवरण से किंचित् भेद पाया जाता है। किन्तु उन पर से उसे मुख्तारजी ने जितना अप्रमाणिक ठहराने का प्रयत्न किया है उतना अप्रमाणिक वह ग्रन्थ नहीं है। यथार्थतः धवला-जयधवला की रचनासम्बन्धी जो वार्ता उसमें पाई जाती है उसमें तो मुझे कोई अप्रमाणिकता देखने में नहीं आई। बल्कि ऊपर बतलाये हुए प्रसंग के समान जगह-जगह वह धवलादि ग्रन्थों में कही गई बातों का ही और अच्छी तरह से स्पष्टीकरण करती है। यद्यपि इन्द्रनन्दि का समय निर्णीत नहीं हैं, पर उनके सम्बन्ध में पं० नाथूरामजी प्रेमी का मत हैं कि 'ये वे ही इन्द्रनन्दि हैं जिनका उल्लेख आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मट्टसार कर्म-काण्ड की ३९६ वीं गाथा में गुरुरूप से किया है'। इससे वे विक्रम की ११ वीं शताब्दि के आचार्य ठहरते हैं। (मा० दि० जै० ग्रं० नं० १३ भू० पृ० २)

इस अनुमान में कोई आश्चर्य भी नहीं है। वीरसेन का व धवला की रचना का इतिहास उन्हों ने ऐसा दिया है जैसे मानों वे उससे अच्छी तरह सुपरिचित हैं। उनके गुरु एलाचार्य कहां रहते थे, वीरसेन ने उनके पास सिद्धान्त पढ़ कर कहां जाकर, किस मंदिर में बैठ कर, कौन-सा ग्रंथ सामने रख कर अपनी टीका लिखी यह सब इन्द्रनन्दि ने अच्छी तरह बतलाया है जिसमें कोई बनावट व कृत्रिमता कम से कम मुझे तो नजर नहीं आती—बहुत ही प्रमाणिक इतिहास जंचता है। उन्हों ने कदाचित् धवल जयधवल का सूक्ष्मावलोकन न किया हो और भले ही उन्हों ने अपना श्रुतावतार लिखने से पूर्व कोई लम्बे चौड़े टिप्पण न लिख रखे हों, पर उनकी सूचनाओं पर से यह बात सिद्ध नहीं होती कि धवल, जयधवल ग्रन्थ उनके सामने मौजूद नहीं थे। उन्होंने ऐसी कोई बात नहीं लिखी जिसकी इन ग्रन्थों की वार्ता से इतनी विषमता हो जो पढ़ कर पीछे स्मृति के सहारे लिखने वाले द्वारा उत्पन्न न की जा सकती हो। इसके अतिरिक्त उनका ग्रन्थ प्राचीन प्रतियों पर से सुसंपादित भी अभी तक नहीं किया गया है। किसी एकाध प्रति पर से कभी छाप दिया गया था, उसी की कापी अभी हमारे सामने प्रस्तुत है। मुख्तारजी लिखते हैं कि 'उन्हों ने (इन्द्रनन्दि व श्रीधर ने) इस विषय में जो कुछ लिखा है वह प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है।' जैसा मैं ऊपर कह आया हूं धवला, जयधवला की रचना के सम्बन्ध में तो इन्द्रनन्दि का ज्ञान बहुत व्यवस्थित पाया जाता है। हां, यह हो सकता है कि उनसे पूर्व का इतिहास उन्होंने बहुत कुछ किंवदन्तियों आदि पर से संग्रह किया हो, क्योंकि उन्होंने ऐसी बहुत सी बातों पर भी प्रकाश डाला है जो धवला में स्पष्टतः उल्लिखित नहीं पायी जातीं। परिकर्म, व्याख्याप्रज्ञप्ति, बप्पदेव आदि टीकाओं व टीकाकारों के उल्लेख धवलादि में इधर-उधर मिलते हैं, पर व्यव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थित नहीं। आखिर कहीं से तो श्रुतावतारकार ने उनके सम्बन्ध का व्यवस्थित इतिहास संग्रह किया होगा ? यदि इस संग्रह-कार्य के लिये सिवाय किंवदन्तिओं और इधर-उधर सुनने में आनेवाली बातों के उनके पास और कोई अन्य साधन नहीं थे तब तो हमें मानना पड़ेगा कि वे एक असाधारण ऐतिहासिक थे जो इस प्रकार के अव्यवस्थित साधनों पर से उतना व्यवस्थित श्रुतावतार-वर्णन उपस्थित कर सके। और इस संबन्ध की किंवदन्तियां भी कहीं बाजार में से सुनकर संग्रह करने को तो मिली नहीं होंगी, वे भी प्रामाणिक पुरुषों के पास से ही तो उन्होंने प्राप्त की होंगी। इन्द्रनन्दि कैसे सुयोग्य और सच्चे संग्राहक थे यह उनकी एक बात परसे मालूम हो जाता है। उन्होंने कषायप्राभृतकार गुणधराचार्य व षट्खंडागम के मूलगुरु धरसेनाचार्य के विषय में स्पष्ट कह दिया है कि उन्हें उनकी पूर्वापर गुरुपरम्परा ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस बात को बतलानेवाला न तो उन्हें कोई विश्वसनीय ग्रंथ मिला और न कोई मुनिजन—

गुणधर-धरसेनान्वयगुर्वोः पूर्वापरक्रमोऽस्माभिः।
न ज्ञायते तदन्वयकथकागम-मुनिजनाभावात् ॥ १५१ ॥

कितनी स्पष्टवादिता साहित्यिक सचाई और नैतिक बल इस अज्ञान के स्वीकार में भरी हुई है, यह वे ही पूर्णतः हृदयंगम कर सकते हैं जिन्हें कभी अपनी कोई कमजोरी स्वीकार करने का मौका आ पड़ा होगा। क्या इसके लेखक के संबन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह कोई झूठी-सच्ची इधर-उधर से सुनी-सुनाई बातों का आडम्बर बना कर एक पुस्तक रचने का लालसी था, और विद्वत्समाज को धोखे में डालना चाहता था ? मैं ऐसा नहीं समझता। अतएव जबतक अन्य प्रबलतर प्रमाणों पर से इन्द्रनन्दि-कृत श्रुतावतार की ऐतिहासिक वार्ता को असत्य साबित न किया जाय तब तक उस पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है।

६ मूडबिद्री से प्रतिलिपि निकालनेवाले लेखक की प्रामाणिकता

मुख्तार जी की अन्तिम युक्ति को पढ़ कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य और खेद होता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि 'धवलादि श्रुत-परिचय' में जिस लेखक पर उन्होंने वर्गणाखण्ड को जान बूझ कर छोड़ देने और अधूरी प्रति को अन्तिम प्रशस्ति आदि जोड़ कर यथेष्ट पुरस्कार पाने के लिये पूरा प्रकट कर देने की संभावना का, अर्थात् एक साहित्यिक चोरी व बेईमानी की आशंका का दोषारोपण किया है, उसका ही ग्रन्थ की समालोचना में उन्होंने चित्र सब से पहले दिये जाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। खेद इस बात का है कि इस प्रकार का दोषारोपण या दोष की आशंका उत्पन्न करके एक बड़े सच्चे उपकारी के साथ भारी अन्याय किया गया है। यह बात सच है कि स्वयं मुख्तार जी इसकी सचाई के सम्बन्ध में 'बहुत ही कम आशा' रखते हैं, पर बहुत ही कम सही, उनके हृदय में यह बात उठी तो है और वह भी उन्होंने विद्वत्संसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर प्रकट करके लेखक के प्रति घृणा की लहर उत्पन्न कर ही दी। मूडबिद्री से छुपे तौर पर कापी करके इन ग्रन्थों को बाहर निकालनेवाले लेखक की सचाई पर सन्देह करना शायद स्वाभाविक ही हो, पर हम तो ग्रन्थ के संशोधन सम्पादनार्थ उसमें जितने प्रविष्ट होते हैं उतने ही उस लेखक की ईमानदारी और परिश्रम पर मुग्ध होते जाते हैं। मेरा यह कहने का तात्पर्य नहीं कि उक्त लेखक के कार्य में त्रुटि नहीं है या प्रमाद नहीं है। है और बहुत है, पर बेईमानी की झलक उसमें मुझे बिलकुल नहीं दिखाई देती। यथार्थतः तो बार-बार आश्चर्य हमें इस बात का नहीं होता कि प्रति में स्खलन हैं, आश्चर्य तो इस बात का है कि प्रस्तुत पाठ पर से ठीक पाठ बैठा लेना संभव हो जाता है। सो भी जो प्रतियां हमारे उपयोग में आ रही हैं वे मूडबिद्री से आई प्रति की प्रतिलिपि पर से दूसरे लेखकों द्वारा की हुई कापियां हैं। इनपर सूक्ष्म और गंभीर परिश्रम करने के पश्चात् अबतक का मेरा जो अनुभव है उस पर से मैं मूड़बिद्री से कापी करनेवाले लेखक को यह प्रमाणपत्र दे सकता हूं कि उसने अपनी शक्ति भर अपना काम सचाई और ईमानदारी से किया है। फिर भी समय-समय पर कमजोरी और प्रमाद के परे तो कोई भी नहीं कहा जा सकता, अत एव अब उक्त दोष की संभावना पर भी विचार कर लेना उचित है। धवला की कुल टीका का प्रमाण इन्द्रनन्दि व अन्य श्रुतावतार-लेखकों ने सत्तर* या बहत्तर† हजार बतलाया है। हमारे सामने धवला की तीन प्रतियां मौजूद हैं, जिनकी श्लोक-संख्या जांच लेना ठीक होगा। अमरावती की प्रति में १४६५ पत्र अर्थात् २९३० पृष्ठ हैं और प्रत्येक पृष्ठ पर १२ पंक्तियाँ लिखी गई हैं। प्रत्येक पंक्ति में ६२ से ६८ तक अक्षर पाये जाते हैं जिससे औसत ६५ अक्षरों की ली जा सकती है। तदनुसार कुल ग्रन्थ में २९३० × १२ × ६५= २२८५४०० अक्षर आते हैं। इनकी श्लोक-संख्या बनाने के लिये ३२ का भाग देने से ७१४१८ आये। यह प्रस्तुत प्रति की श्लोक-संख्या है जिसे ७२ हजार कहना साधारण बात है।

कारंजा व आरा की प्रतियों की उक्त प्रकार से जाँच-द्वारा भी प्रायः यही निष्कर्ष निकलता है। इससे तो अनुमान होता है कि प्रतियों में से एक खण्ड का खण्ड गायब होना असम्भव है, क्योंकि उसका प्रमाण और सब खण्डों को देखते हुए कम से कम पांच-सात हजार तो अवश्य रहा होगा। यह कमी प्रस्तुत प्रतियों में झलके बिना नहीं रह सकती थी। तारतम्य की दृष्टि से भी धवला अपने प्रस्तुत रूप में अपूर्ण नज़र नहीं आती। प्रथम तीन खण्ड तो पूरे हैं ही। चौथे वेदनाखण्ड के आदि से कृति आदि अनुयोगद्वार प्रारंभ हो जाते हैं जो बराबर क्रम से चौबीस तक पाये जाते हैं—प्रथम छह भूतबलिकृत सूत्रों और वीरसेन की टीकासहित और शेष १८ चूलिका नाम से वीरसेनकृत। इसके आगे किसी खण्ड की

* देखो ब्रह्महेम श्रुतस्कंध 'सद्दरीसहस्स धवलो'। † देखो इन्द्रनन्दि श्रुतावतार 'ग्रन्थसहस्रैः द्विसप्तत्या'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कल्पना के लिये न तो कोई आधार है और न आवश्यकता। अतः वर्गणाखण्ड के लेखक द्वारा छोड़ देने या छूट जाने की आशंका के लिये कोई आधार नहीं है।

अब हम यहां मुख्तार जी की उन मूल भूलों पर विचार करते हैं जिनके कारण उपर्युक्त गड़बड़ी उत्पन्न हुई है और साथ ही उन आधारों को प्रस्तुत करते हैं जिनसे धवला के विभाग सम्बन्धी उन बातों की पुष्टि होती है जिन्हें हम प्रथम जिल्द की भूमिका में कह आये हैं। मुख्तार जी अपने मन में यह धारणा कर चुके हैं कि बंधसामित्तविचय से आगे के कृति आदि चौबीस अनुयोग-द्वारों का विवरण वेदनाखण्ड के ही अन्तर्गत हैं और उनकी यह धारणा वेयणकसिणपाहुड और वेदनाखण्ड में शब्द-साम्य के कारण उत्पन्न हुई जान पड़ती है। किंतु इस शब्दसाम्य के निमित्त से होने वाले भ्रम का निराकरण हम ऊपर कर आये हैं। अपनी धारणा को पुष्टि देने के लिये उन्होंने वेदनाखण्ड के आदि के मङ्गलसूत्रों को दो पूर्वोक्त खुद्दाबंध और बंधसामित्त-खंडों का भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, उससे जो गड़बड़ी उत्पन्न हुई है उसका भी हम ऊपर परिचय करा आये हैं। उस प्रयत्न में उन्होंने 'उवरि उच्चमाण' पद का जो अर्थ किया है वह अत्यन्त विलक्षण और आश्चर्य में डालनेवाला है। और फिर भी उससे उनके मत की पुष्टि नहीं हो सकती, जैसा कि हम ऊपर दिखा आये हैं।

वेदनाखण्ड के आदि अवतरणों का ठीक अर्थ

'उवरि' शब्द का धवलाकार ने सर्वत्र 'आगे' के अर्थ में प्रयोग किया है और पहले के अर्थ में 'पुव्व' का। उदाहरणार्थ—संतपरूवणा के पृष्ठ १३० पर उन्होंने कहा है—

संपहि पुव्वं उत्त-पयडिसमुक्कित्तणा .. एदाहं पंचण्हमुवरि संपहि पुव्वुत्त-जहण्णट्ठिदि ......च पक्खित्ते चूलियाए णव अहियारा भवंति।

अर्थात् पूर्वोक्त प्रकृतिसमुत्कीर्तनादि पांचों के ऊपर अभी कहे गये जघन्यस्थिति आदि जोड़ देने पर चूलिका के नौ अधिकार हो जाते हैं। यहां ऊपर कहे जा चुके के लिये 'पुव्वं उत्तं' और 'पुव्वुत्तं' शब्द प्रयुक्त हुए हैं और 'उवरि' से आगे का तात्पर्य है। पृ० ७३ पर 'उवरि' से बने हुए उवरीदो (उपरितः) अव्यय का प्रयोग देखिये। आचार्य कहते हैं—

पुव्वाणुपुव्वी पच्छाणुपुव्वी जत्थतत्थाणुपुव्वी चेदि तिविहा आणुपुव्वी। जं मूलादो परिवाडीए उच्चदे सा पुव्वाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'उसहमजियं च वंदे' इच्चेवमादि। जं उवरीदो हेट्ठा-परिवाडीए उच्चदि सा पच्छाणुपुव्वी। तिस्से उदाहरणं 'एस करेमि य पणमं जिणवर वसहस्स वड्ढमाणस्स। सेसाणं च जिणाणं सिवसुहकंखाविलोमेण'॥

यहां यह बतलाया है कि जहां पूर्व से पश्चात् की ओर क्रम से गणना की जाती है उसे पूर्वानुपूर्वी कहते हैं, जैसे, ऋषभ और अजितनाथ को नमस्कार। पर जहाँ नीचे या पश्चात् से पूर्व की ओर अर्थात् विलोमक्रम से गणना की जाती है वह पश्चादनुपूर्वी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहलाती है। जैसे, मैं वर्द्धमान जिनेश को प्रणाम करता हूं और शेष (पार्श्वनाथ, नेमिनाथ आदि) तीर्थङ्करों को भी। यहाँ उवरि से तात्पर्य आगे से है और पीछे की ओर के लिये हेट्ठा (अधः) शब्द का प्रयोग किया गया है।

धवला में आगे बंधन-अनुयोगद्वार की समाप्ति के पश्चात् कहा गया है 'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम' अर्थात् यहां से ऊपर के ग्रन्थ का नाम चूलिया है। यहां उवरिम से तात्पर्य आगे आनेवाले ग्रन्थ-विभाग से है न कि पूर्वोक्त विभाग से।

और भी धवला में सैकड़ों जगह उवरि शब्द का प्रयोग हमारी दृष्टि में इस प्रकार आया है 'उवरि भण्णमाणचुण्णिसुत्तादो' 'उवरिमसुत्तं भणदि' आदि। इनमें प्रत्येक स्थल पर निर्दिष्ट सूत्र आगे दिया गया पाया जाता है। उवरि का पूर्वोक्त के अर्थ में प्रयोग हमारी दृष्टि में नहीं आया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि उवरि का अर्थ आगे आनेवाले खण्डों से ही हो सकता है पूर्वगत से नहीं। और फिर प्रकृत में तो 'उच्चमाण' पद इस अर्थ को बिलकुल ही स्पष्ट कर देता है, क्योंकि, उच्यमान का अर्थ उक्त तो हो ही नहीं सकता, उसका अर्थ केवल प्रस्तुत या आगे आनेवाले खण्ड ही हो सकता है, पहले समाप्त हो गये खण्ड कदापि नहीं। पर यदि आगे कहे जानेवाले तीन खण्डों का यह मंगल है तो इस बात का वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगलाचरण की सूचना से कैसे सामञ्जस्य बैठ सकता है? यही एक विकट स्थल है जिसने उपर्युक्त सारी गड़बड़ी को उत्पन्न किया है। इस पर जरा विचार कीजिये। अवतरण में पहले तो कह दिया गया है कि आगे कहे जानेवाले तीन खण्डों का यह मंगल है और फिर जब यह पूछा कि यह कैसे, तब कहा जाता है कि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल किये जाने से। आगे कहे जानेवाले ये ही तीन वेदना, वर्गणा और महाबंध तो खण्ड हैं जिनका वह मंगल हो सकता है। फिर यदि वर्गणा और महाबंध के आदि में मंगल अलग से किया गया है तो 'उवरि उच्यमान' पद से कौन से तीन खण्डों के मंगलाचरण होने की सूचना की गई होगी? इसी अड़चन से मुख्तारजी ने यहां खुद्दाबंध और बंधसामित्त खण्डों के अभिप्राय की कल्पना की है जो 'उवरि उच्यमाण' तथा विना मंगलाचरण के ग्रन्थ प्रारंभ करने के प्रबल निषेध की स्पष्ट सूचना तथा आगे के शंका-समाधान-क्रम के साथ बिलकुल सामंजस्य नहीं रखती। समस्त प्रकरण पर सब दृष्टियों से विचार करने पर ज्ञात होता है कि धवला की उपलब्ध प्रतियों में यहां एक अशुद्धि है जो मुख्तार जी के ध्यान में नहीं आ सकी और वे उसे नहीं सुधार सके। मेरे विचार से यहां पर 'वग्गणमहाबंधाण-मादीए मंगलकरणादो' की जगह 'वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो' पाठ होना चाहिए। दीर्घ आ के स्थान पर ह्रस्व अ की मात्रा की अशुद्धियां तथा अन्य स्वरों में ऐसे ही व्यत्यय इन प्रतियां में भरे पड़े हैं। हमें इनके संशोधन में इस प्रकार के सुधार सैकड़ों जगह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने पड़े हैं। यथार्थतः प्राचीन कन्नड़ लिपि में ह्रस्व और दीर्घस्वरों में बहुधा विवेक नहीं किया जाता था।* इस सुधार के साथ पढ़ने से पूर्वोक्त समस्त अवतरण का अर्थ, उसका सामञ्जस्य और शंका-समाधानक्रम ठीक बैठ जाता है। उससे उक्त दो अवतरणों के बीच में आये हुए उन शंका-समाधानों का भी अर्थ सुलझ जाता है जिनका मुख्तार जी के अर्थ में बिलकुल सामञ्जस्य नहीं बैठता बल्कि विरोध उत्पन्न होता है और जिन्हें संभवतः इसी अड़चन के कारण उन्होंने अपने अवतरण में छोड़ दिया है, यद्यपि वह अंश प्रकृत विषय के लिये बहुत आवश्यक था। हम उस पूरे पाठ को अपने सुधारसहित यहां उद्धृत करते हैं—

'उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं। कुदो ? वग्गणामहाबंधाणमादीए मंगलाकरणादो। ण च मंगलेण विणा भूदबलिभडारओ गंथस्स पारभदि, तस्स अणाइरियत्तपसंगादो। कधं वेयणाए आदीए उत्त-मंगलं सेस-दो-खंडाणं होदि ? ण, कदीए आदिम्हि उत्तस्स एदस्सेव मंगलस्स सेस-तेवीस-अणियोगद्दारेसु पउत्तिदंसणादो। महाकम्मपयडिपाहुडत्तणेण चउवीसण्हमणियोगद्दाराणं भेदाभावादो एगत्तं, तदो एगस्स एयं मंगलं तत्थ ण विरुज्झदे। ण च एदेसिं तिण्हं खण्डाणमेगत्तमेगखंडत्तपसंगादो त्ति, ण एस दोसो, महाकम्मपयडीपाहुडत्तणेण एदेसिं पि एगत्तदंसणादो। कदि-पास-कम्म-पयडि-अणियोगद्दाराणि वि एत्थ परूविदाणि, तेसिं खण्डगंथसण्णमकाउण तिण्णि चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ण, तेसिं पहाणत्ताभावादो। तं पि कुदो णव्वदे ? संखेवेण परूवणादो।'

अब हम इसका अनुवाद देते हैं। पाठक ध्यान दें—

शंका—आगे कहे जानेवाले तीनों खंडों (वेदना, वर्गणा और महाबंध) में से किस खंड का यह मंगलाचरण है ?

समाधान—तीनों खण्डों का।

शंका—कैसे जाना ?

समाधान—वर्गणाखण्ड और महाबंध खंड के आदि में मंगल न किये जाने से। मंगल किये विना तो भूतबलि भट्टारक ग्रन्थ का प्रारंभ ही नहीं करते, क्योंकि इससे अनाचार्यत्व का प्रसंग आ जाता है।

शंका—वेदना के आदि में कहा गया मंगल शेष दो खंडों का भी कैसे हो जाता है ?

समाधान—क्योंकि कृति के आदि में किये गये इस मंगल की शेष तेवीस अनुयोगद्वारों में भी प्रवृत्ति देखी जाती है।

शंका—महाकर्मप्रकृतिपाहुडत्व की अपेक्षा से चौबीसों अनुयोगद्वारों में भेद न होने

* डा० उपाध्ये : परमात्मप्रकाश, भूमिका, पृ० ८३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो उनमें एकत्व है, इसलिये एक का यह मंगल शेष तेवीसों में विरोध को प्राप्त नहीं होता है।
परन्तु इन तीनों खंडों में तो एकत्व है नहीं, क्योंकि इन तीनों में एकत्व मान लेने पर तीनों को एकखंडत्व का प्रसंग आ जाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, महाकर्मप्रकृति-प्राभृतत्व की अपेक्षा से इनमें भी एकत्व देखा जाता है।

शंका—कृति, स्पर्श, कर्म और प्रकृति अनुयोगद्वार भी यहाँ (भूतबलि आचार्य की रचना में, प्ररूपित किये गये हैं, उनकी भी खण्ड-ग्रन्थ-संज्ञा न करके तीन ही खण्ड क्यों कहे जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, उनकी यहां प्रधानता नहीं है।

शंका—यह कैसे जाना जाता है ?

समाधान—उनका संक्षेप से प्ररूपण किया गया है, इससे जाना जाता है।

इस पर से यह बात स्पष्ट समझ में आ जाती है कि उक्त मंगलाचरण का सम्बन्ध बंध-सामित्त और खुद्दाबंधखण्डों से बैठाना बिलकुल निर्मूल, अस्वाभाविक, अनावश्यक और धवलाकार के मत से सर्वथा विरुद्ध है। हम यह भी जान जाते हैं कि वर्गणाखण्ड और महाबंध के आदि में कोई मंगलाचरण नहीं है। इसी मङ्गलाचरण का अधिकार उन पर चालू रहेगा। और हमें यह भी सूचना मिल जाती है कि उक्त मङ्गल के अधिकारान्तर्गत तीनों खण्ड अर्थात् वेदना, वर्गणा और महाबंध प्रस्तुत अनुयोगद्वारों से बाहर नहीं हैं। वे किन अनुयोगद्वारों के भीतर गर्भित हैं यह भी संकेत धवलाकार यहां स्पष्ट दे रहे हैं। खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की शिकायत किन अनुयोगद्वारों से उठायी गई ? कदि, पास, कम्म और पयडि अनुयोगद्वारों की ओर से। वेदना अनुयोगद्वार का यहां उल्लेख नहीं है, क्योंकि, उसे खंडसंज्ञा प्राप्त है। मुख्तारजी ने इस संबन्ध के अवतरण में बंधन का नाम कोष्टक में अपनी ओर से जोड़ दिया है, यह सूचित करने के लिये कि वह नाम उनके मत से वहां छूट गया है। किन्तु यह मालूम नहीं पड़ता कि उक्त शिकायत में शामिल करने में उन्होंने बंधन का ही क्यों पक्षपात किया और शेष अठारह अनुयोगद्वार क्यों छोड़ दिये ? आखर उन्हें भी तो वे वेदनाखण्ड के ही भीतर कृति आदि के साथ समानरूप से स्वीकार करते हैं, और ग्रन्थ का तात्पर्य वे वेदनाखण्ड से ही लेते हैं ? यथार्थतः यहां बंधन-अनुयोगद्वार को शामिल करने की कोई जरूरत नहीं है। धवलाकार ने उसका तथा आगे अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख जान-बूझ कर किसी मतलब से छोड़ा है। और वह मतलब यह है कि बंधन के ही एक अवान्तर भेद वर्गणा से वर्गणाखण्डसंज्ञा प्राप्त हुई है और उसके एक दूसरे उपभेद बंधविधान पर महाबंध की भव्य इमारत खड़ी है। जीवट्ठाण खुद्दाबंध और बंधसामित्तविचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी इसी के ही भेद-प्रभेदों के सुफल हैं। इसलिये उन सबसे भाग्यवान पांच-पांच यशा सन्तानों के जनयिता बंधन को खण्डसंज्ञा प्राप्त न होने की कोई शिकायत ही नहीं थी शेष अठारह अनुयोगद्वारों का उल्लेख न करने का कारण यह है कि भूतबलि भट्टारक ने उनका प्ररूपण ही नहीं किया। भूतबलि की रचना तो बन्धनअनुयोगद्वार के साथ ही महाबन्ध पूर्ण होने पर समाप्त हो जाती है। इस बात की सूचना धवलाकार ने अपनी टीका में स्पष्टतः दी है। उन्होंने भूतबलिकृत बन्धनप्ररूपणा के अन्तिम सूत्र को देशामर्षकसंज्ञा देकर कहा है कि उसी में शेष अठारह अनुयोगद्वारों की सूचना गर्भित है, इसलिये वे उन अठारह की प्ररूपणा संक्षेप में स्वयं करते हैं। यथा—

भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं तेणेदेण सुत्तेण सूचिद-सेस-अट्ठारस-अणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।

धवला अ० पृ० १३३२।

इसके आगे के ग्रन्थ को उन्हों ने इसी कारण पृथक् निर्दिष्ट करनेके लिये चूलिका नाम दिया है—

एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम।

इन अठारह अनुयोगद्वारों की वीरसेनद्वारा रचना का विशद इतिहास इन्द्रनन्दि ने अपने श्रुतावतार में दिया है। देखो सं० प० भूमिका पृ० ३८, ६७।

इसी अवतरण से ऊपर और मुख्तारजी द्वारा उद्धृत निबद्ध-अनिबद्ध मंगल-सम्बन्धी अवतरण से नीचे एक और प्रकरण इसी विषय पर बहुत विशद प्रकाश डालनेवाला वर्तमान है जिसे भी मुख्तारजी ने संभवतः उक्त अड़चन के कारण ही उद्धृत करना उचित नहीं समझा। वह पूरा प्रकरण इस प्रकार है—

तत्थेदं किं णिबद्धमाहो अणिबद्धमिदि। ण ताव णिबद्धमंगलमिदं महाकम्मपयडि-पाहुडस्य कदियादि चउवीस-अणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूद-बलिभडारएण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिबद्धत्त-विरोहादो। ण च वेयणाखंडं महाकम्मपयडीपाहुडं अवयवस्स अवयवित्त-विरोहादो। ण च भूदबली गोदमो विगलसुदधारयस्स धरसेणाइरियसीसस्स भूदबलिस्स सयलसुद-धारयवड्ढमाणंतेवासिगोदमत्तविरोहादो। ण चाणणो पयारो णिबद्धमंगलत्तस्स हेदु-भूदो अत्थि। तम्हा अणिबद्धमंगलमिदं। अथवा होदु णिबद्धमंगलं। कधं वेयणाखंडादि-खंडगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं। ण कदिया (दि) चउवीस-अणियोगद्दारेहिंतो पुधं-तेण पुधभूदमहाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। पदेसिमणियोगद्दाराणं कम्मपयडिपाहुडत्ते संते पाहुड़बहुत्तं पसज्जदे? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो। कधं वेयणाए महा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिमाणाए उवसंहारस्स इमस्स वेयणाखण्डस्स वेयणाभावो? ण, अवयवेहिंतो एयंतेण पुधभूदस्स अवयविस्स अणुवलंभादो। ण च वेयणाए बहुत्तमणिट्ठमिच्छिज्जमाणत्तादो। कधं भूदबलिस्स गोदमत्तं? किं तस्स गोदमत्तेण। कधमण्णहा मंगलस्स णिबद्धत्तं? ण, भूदबलिस्स खण्डगंथं पडि कत्तारत्ताभावादो। ण च अणेण कयगंथाहियाराणं एगदेसस्स पुव्विल्लसद्दत्थ-संदब्भस्स परूवओ कत्तारो होदि अइप्पसंगादो। अथवा भूदबली गोदमो चेव एगाहिप्पायत्तादो। तदो सिद्धं णिबद्धमंगलत्तं पि। उवरि उच्चमाणेसु तिसु खण्डेसु ....
"इत्यादि।

१ शंका—उनमें से अर्थात् निबद्ध और अनिबद्ध मंगलों में से यह मंगल निबद्ध है या अनिबद्ध?

समाधान—यह निबद्ध मंगल तो है नहीं. क्योंकि कृति अनुयोगद्वार आदि चौबीस अवयवों वाले महाकर्मप्रकृतिपाहुड के आदि में गौतम स्वामी द्वारा इसका प्ररूपण किया गया है और भूतबलि स्वामी ने उसे वहां से लाकर वेदनाखण्ड के आदि में मंगल के निमित्त रख दिया है, इसलिये उसमें निबद्धत्व का विरोध है। वेदनाखण्ड कुछ महाकर्मप्रकृतिपाहुड तो है नहीं, क्योंकि अवयव को अवयवी मानने में विरोध आता है। और भूतबलि गौतम स्वामी तो हो नहीं सकते, क्योंकि, विकलश्रुत के धारक और धरसेन आचार्य के शिष्य भूतबलि में सकल श्रुत के धारक और वर्द्धमान स्वामी के शिष्य गौतमपने का विरोध है। और कोई प्रकार निबद्ध मंगलपने का हेतु है नहीं इसलिये यह मंगल अनिबद्ध मंगल है। अथवा यह मंगल निबद्ध मंगल भी हो सकता है।

२ शंका—वेदनाखण्ड आदिखण्डों में समाविष्ट (ग्रन्थ) को महाकर्मप्रकृति प्राभृतपना कैसे प्राप्त हो सकता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि, कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों से सर्वथा पृथग्भूत महाकर्मप्रकृतिपाहुड की कोई सत्ता नहीं है।

३ शंका—इन अनुयोगद्वारों में कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेने पर तो बहुत से पाहुड मानने का प्रसंग आ जाता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात कथंचित् अर्थात् एकदृष्टि से अभीष्ट है।

४ शंका—(गौतम स्वामी रचित) महापरिमाणवाली वेदना के उपसंहार रूप इस भूतबलि-रचित वेदनाखण्ड को वेदना (अनुयोगद्वार कैसे माना जाय?

समाधान—नहीं, क्योंकि, अवयवों से एकान्ततः पृथग्भूत अवयवी तो पाया नहीं जाता। और इससे यदि एक से अधिक वेदना मानने का प्रसंग आता है तो वेदना के बहुत्व से कोई अनिष्ट भी नहीं, क्योंकि, वह बात इष्ट ही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५ शंका—भूतबलि को गौतम कैसे मानलिया जाय ?

समाधान—भूतबलि को गौतम मानने से प्रयोजन ही क्या है ?

६ शंका—यदि भूतबलि को गौतम न माना जाय तो मंगल को निबद्धपना कैसे प्राप्त हो सकता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि, भूतबलि के खण्ड ग्रन्थ के प्रति कर्तापने का अभाव है। कुछ दूसरे के द्वारा रचे गये ग्रन्थाधिकारों में से एक-देश का पूर्व प्रकार से ही शब्दार्थ और संदर्भ प्ररूपण करने वाला ग्रन्थकर्ता नहीं हो सकता, क्योंकि, इससे तो अतिप्रसंग दोष आ जायगा, अर्थात् एक ग्रन्थ के अनेक कर्ता होने का प्रसंग आ जायगा।

अथवा, दोनों का एक ही अभिप्राय होंने से भूतबलि गौतम ही है। इस प्रकार यहां निबद्धमंगलत्व भी सिद्ध हो जाता है।

यहां पर प्रथम शंका-समाधान में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वेदनाखण्ड के अन्तर्गत पूरा महाकम्मपयडिपाहुड का विषय नहीं है, वह उस पाहुड का एक अवयवमात्र है, अर्थात् उसमें उक्त पाहुड के चौबीसों अनुयोगद्वारों का अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता। महाकर्मप्रकृतिपाहुड अवयवी है और वेदनाखण्ड उसका एक अवयव। दूसरे शंका-समाधान से यह सूचना मिलती है कि कृति आदि चौबीस अनुयोगद्वारों में अकेला वेदनाखण्ड नहीं फैला है किन्तु वेदना आदि खण्ड फैले हैं, अर्थात् वर्गणा और महाबन्ध का भी अन्तर्भाव वहीं है। तीसरे शंकासमाधान में महाकर्मप्रकृतिपाहुड के कृति आदि अवयवों में भी एक दृष्टि से पाहुडपना स्थापित करके चौथे शंकासमाधान में स्पष्ट निर्देश किया है कि वेदनाखण्ड गौतमस्वामिकृत बड़े विस्तार वाले वेदना-अधिकार का ही उपसंहार अर्थात् संक्षेप है। यह वेदना धवला की अ० प्रति में पृ० ७५६ पर प्रारंभ होती है, जहां कहा गया है—

वेदना और वर्गणा-खंडों की सीमाओं का निर्णय

कम्मट्ठजणियवेयणा-उवहि-समुत्तिणाए जिणे णमिउं।
वेयणमहाहियारं विविहहियारं परूवेमो ॥

और वह उक्त प्रति के ११०६ वे पत्र पर समाप्त होती है। जहां लिखा मिलता है—

एवं वेयणा-अप्पाबहुगाणिओगद्दारे समत्ते वेयणाखंड समत्ता।

इस प्रकार इस पुष्पिकावाक्य में अशुद्धि होते हुए भी वहां वेदनाखण्ड की समाप्ति में कोई शंका नहीं रह जाती।

पांचवें और छठवें शंका-समाधान में भूतबलि और गौतम में ग्रन्थकर्तृत्वरूप अभिप्राय की अपेक्षा एकत्व स्थापित किया गया है जो सहज ही समझ में आ जाता है और इस प्रकार उक्त मंगल को निबद्ध भी सिद्ध करके बता दिया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार उक्त शंका-समाधान से वेदनाखण्ड की दोनों सीमाएं निश्चित हो जाती हैं। कृति तो वेदनाखण्ड के अन्तर्गत है ही, क्योंकि, उक्त शंका-सम धान की सूचना के अतिरिक्त मंगलाचरण के साथ ही वेदनाखण्ड का प्रारम्भ माना ही गया है।

वेदनाखण्ड के विस्तार का एक और प्रमाण उपलब्ध है। टीकाकार ने उसका परिमाण सोलह हजार पद बतलाया है। यथा—

खंडगंथं पडुच्च वेयणाए सोलस-पद-सहस्साणि।

यह पदसंख्या भूतबलिकृत सूत्रग्रन्थ की अपेक्षा से ही होना चाहिए। अत एव जब-तक यह ज्ञात न हो जावे कि पद से यहां धवलाकार का क्या तात्पर्य है, तथा वेदनादि खण्डों के सूत्र अलग करके उन पर वह माप न लगाया जावे, तब-तक इस सूचना का हम अपनी जांच में विशेष उपयोग नहीं कर सकते। तो भी टीकाकार ने एक अन्य खण्ड की भी इस प्रकार पदसंख्या दी है और उस खण्ड की सीमादि के विषय में कोई विवाद नहीं है, इसलिये हमें उनकी तुलना से कुछ आपेक्षिक ज्ञान अवश्य हो जायगा। धवलाकार ने जीवट्ठाण-खण्ड की पदसंख्या अट्ठारह हजार पद बतलाई हैः—

'पदं पडुच्च अट्ठारह-पद-सहस्सं' (सं० प० पृ० ६०)

इससे यह ज्ञात हुआ कि वेदनाखण्ड का परिमाण जीवट्ठाण से नवमांश कम है। जीवट्ठाण के ४७५ पत्रों का नवमांश लगभग ५३ होता है, अतः साधारणतया वेदनाखण्ड की पत्र-संख्या ४७५ – ५३=४२२ के लगभग होना चाहिये। ऊपर निर्धारित सीमा के अनुसार वेदना की पत्रसंख्या प्रत्यक्ष में ६६७ से ११०६ तक अर्थात् ४३९ है जो आपेक्षिक अनुमान के बहुत समीप पड़ती है। समस्त चौबीस अनुयोगद्वारों को वेदना के भीतर मान लेने में तो जीवट्ठाण की अपेक्षा वेदनाखण्ड तिगुने से भी अधिक बड़ा हो जाता है।

वर्गणाखण्ड-निर्णय

जब वेदनाखण्ड का उपसंहार वेदनानुयोगद्वार के साथ समाप्त हो गया, तब प्रश्न उठता है कि उसके आगे के 'फास' आदि अनुयोगद्वार किस खण्ड के अंग रहे? ऊपर वेदनादि तीन खण्डों के उल्लेखों के विवेचन से यह स्पष्ट ही है कि वेदना के पश्चात् वर्गणा और उसके पश्चात् महाबन्ध की रचना है। महाबन्ध की सीमा निश्चित रूप से निर्दिष्ट है, क्योंकि धवला में स्पष्ट कह दिया गया है कि 'बन्धन' अनुयोगद्वार के चौथे प्रभेद—बन्धविधान के चार प्रकार प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबन्ध का विधान भूतबलिभट्टारक ने महाबन्ध में विस्तार से लिखा है, इसलिये वह धवला के भीतर नहीं लिखा गया। अतः यहीं तक वर्गणाखण्ड की सीमा समझना चाहिये। वहां से आगे के निबंधनादि अठारह अधिकार टीकाकार की सूचनानुसार चूलिकारूप हैं। वे टीकाकार-कृत हैं, भूतबलिकृत नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त खण्डविभाग को सर्वथा प्रामाणिक सिद्ध करने के लिये अब केवल उस प्रकार के किसी प्राचीन विश्वसनीय स्पष्ट उल्लेखमात्र की अपेक्षा और रह जाती है। सौभाग्य से ऐसा एक उल्लेख भी हमें प्राप्त हो गया हैं। मूडविद्री के पं० लोकनाथजी शास्त्री ने वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्तभवन की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) में मूडविद्री की ताडपत्रीय प्रति पर से महाधवल (महाबंध) का कुछ परिचय अवतरणों सहित दिया है। इससे प्रथम बात तो यह जानी जाती है कि पण्डितजी को उस प्रति में कोई मंगलाचरण देखने को नहीं मिला। वे रिपोर्ट में लिखते हैं—'इसमें मंगलाचरण श्लोक, ग्रन्थ की प्रशस्ति वगेरह कुछ भी नहीं है'। पं० लोकनाथजी की यह रिपोर्ट महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पण्डितजी ने ग्रन्थ को केवल ऊपर नीचे ही नहीं देखा—उन्होंने कोई चार वर्ष तक परिश्रम करके पूरे महाधवल ग्रन्थ की नागरी प्रति-लिपि तैयार की है, जैसा कि हम प्रथम जिल्द की भूमिका में बतला आए हैं। अत एव उस ग्रन्थ का एक-एक शब्द उनकी दृष्टि और कलम से गुजर चुका है। उनके मत से पूर्वोक्त 'मंगलकरणादो' पद में हमारे 'मंगलाकरणादो' रूप सुधार की पुष्टि होती है।

दूसरी बात जो महाधवल के अवतरणों में हमें मिलती है, वह खण्ड-विभाग से संबन्ध रखती है। महाबन्ध पर कोई 'पंचिका' भी उस प्रति में ग्रथित है, जैसा कि अवतरण की प्रथम पंक्ति से ज्ञात होता है:—

'वोच्छामि संतकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं'

इसी पंचिकाकार ने आगे चल कर कहा है —

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि वेदणाओ (दि) चौव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि वेदणा त्ति अणियोगद्दाराणि जाणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास (कम्मपयडिबंधणाणि) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि पुणो बंधविधाण-मणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहितो सेसट्ठारसाणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्सइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धएण पंचियसरूवेण भणिस्सामो'।

इस अवतरण के शब्दों में अशुद्धियां हैं। कोष्टक के भीतर के सुधारे या जोड़े हुए पाठ मेरे हैं। पर उस परसे, तथा उससे आगे जो कुछ कहा गया है उससे यह तो स्पष्ट जान पड़ता है कि यहां निबंधनादि अट्ठारह अधिकारों की पंचिका दी गई है। उन अट्ठारह अधिकारों का नाम 'संतकम्म' था, जिससे इन्द्रनन्दि के 'सत्कर्म' संबन्धी उल्लेख की पूरी पुष्टि होती है। प्राप्त अवतरण पर से महाधवल की प्रति वा उसके विषय आदि के संबन्ध में अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रति की परीक्षा की बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किन्तु उस सब का नियन्त्रण करके प्रकृत विषय पर आने से उक्त अवतरण में प्रस्तुतोपयोगी यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि कृति और वेदनाअनुयोगद्वार बेदनाखण्ड के तथा फास-कम्म-पयडि और बन्धन के बन्ध और बन्धनीय भेद वर्गणाखण्ड के भीतर हैं। इससे हमारे विषय का निर्विवादरूप से निर्णय हो जाता है।

प्रथम जिल्द की भूमिका में ठीक इसी प्रकार खण्ड-विभाग का परिचय कराया जा चुका है। उस परिचय की ओर पाठकों का ध्यान पुनः आकर्षित किया जाता है।

इस विवेचना को मैं श्री पं० जुगलकिशोरजी के शब्दों से अच्छे शब्दों में समाप्ति नहीं कर सकता—'आशा है सत्य के अनुरोध और भ्रामक सूचनाओं के प्रचार को रोकने की सद्भावना से लिखे हुए इस लेख से बहुतों का समाधान होगा, और वे सब इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भविष्य में इस प्रकार की गलत सूचनाओं का अवरोध होवे, वे फैलने न पायें और हमारी लेखनी अधिकाधिक सावधान हो कर उन्नत, पुष्ट एवं निर्भ्रान्त साहित्य तय्यार करने में समर्थ हो सके।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध विषय

(१)

हरिवंशपुराण का रचनास्थान

भास्कर की पिछली दो किरणों (भाग ६, किरण २-३) में श्रीयुत के० भुजबली शास्त्री ने श्रुतकीर्ति-रचित हरिवंशपुराण को प्रशस्तियां प्रकाशित की हैं। इसकी अपभ्रंश प्रशस्ति में लिखा है कि यह ग्रन्थ जेरहट नगर में समाप्त हुआ। उस समय मालव देश के मंडवगढ़ में गयासुद्दीन राज्य करता था। संस्कृत-प्रशस्ति निम्नलिखित है:—

'सिद्धि सम्वत् १५५३ वर्षे क्वारवदि २ दूजगुरौ दिने अद्येह श्रीमण्डपाचलदुर्गे सुलितान गयासुदीनराज्ये प्रवर्तमाने श्रीदमोवादेसे महाखानभोजखानवर्तमाने जेरहटस्थाने सोनी-श्रीईसुरप्रवर्तमाने .... हरिवंशपुराणं परिपूर्णं कृतम्।' दोनों प्रशस्तियों में कुछ भिन्नता अवश्य है, परन्तु वह स्थान-विषयक नहीं कही जा सकती। दोनों में फर्क इतना ही है कि एक दूसरे से कुछ अधिक विस्तृत है। संस्कृत-प्रशस्ति में रचना-स्थान का पूर्ण विवरण दिया गया है, और अपभ्रंश प्रशस्ति में कुछ सामान्य। संस्कृत का मण्डपाचल और अपभ्रंश का मंडवगढ एक ही नगर है। ये मेवाड़ प्रान्तान्तर्गत मांडलगढ़ नहीं अपि तु मालवे की पुरानी राजधानी मांडू है जो किसी समय धारा नगरी से कुछ दूरी पर स्थित था और इस समय प्रायः निर्जन पड़ा हुआ है। खिलजी सुल्तान गयासुद्दीन यहीं राज्य करता था। इसी मालवा राज्य के अन्तर्गत दमोवा नामक देश अर्थात् प्रान्त था। उसका प्रान्ताधिकारी अर्थात् सूबेदार भोजखान था। दमोवा देश सम्भवतः मध्य प्रदेश का दमोह जिला है। शास्त्रीजी ने लिखा है कि सागर जिले में जेरठ नामक प्राचीन स्थान है। दमोह और सागर जिलों की सीमाएं मिलती हैं, इसलिये यह बहुत संभव है कि गयासुद्दीन के समय जेरठ दमोह प्रान्त के अन्तर्गत हो। अपभ्रंश-प्रशस्ति केवल मालव देश का नाम देकर ही रह गई। परन्तु संस्कृत-प्रशस्ति में रचयिता अपने स्थान के प्रान्ताधिकारी का नाम देकर भी सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि नगराधिकारी का भी नाम देता है। जेरहट नगर का तत्सामयिक अधिकारी (सम्भवतः कोतवाल) सोनी श्री ईसुर था। इस प्रकार संस्कृत-प्रशस्ति में कर्ता ने यथाशक्ति हरिवंश के रचनास्थान का विवरण दिया है। जेरहट नगर दमोवा प्रान्त में था और दमोवा प्रान्त गयासुद्दीन-द्वारा शासित मण्डपाचल-राज्य अर्थात् मालवे के अन्तर्गत था। जेरहट का शासक सोनी श्री ईसुर, दमोवा अर्थात् दमोह का भोजखान और मण्डपाचल अर्थात् मालवा का शासक गयासुद्दीन था।

—दशरथ शर्मा, एम० ए०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

गोमट शब्द पर विचार

'विवेकाभ्युदय' में आस्थान-विद्वान् न्यायतीर्थ श्रीयुत पं० शान्तिराजजी शास्त्री मैसूर ने गोमट शब्द पर जो अपना विचार प्रकट किया है, उसका हिन्दी अनुवाद ज्यों का त्यों नीचे दिया जाता है। इस पर श्रीयुत गोविन्द पैजी तो अपना विचार प्रकट करेंगे ही। साथ ही साथ अन्यान्य अधिकारी विद्वानों को भी इस पर अपना अपना अभिमत अवश्य अभिव्यक्त करना चाहिये जिससे इस विषय का सम्मिलित अन्तिम निर्णय हो जाय।

"श्रीबाहुबलिस्वामी का 'गोमट' यह नाम अर्वाचीन है। ई० सन् ९७३-९८६ में तलकाड में राज्य करनेवाले गंगवंश के शासक राचमल्ल के मंत्री चामुण्ड राय के द्वारा श्रवणबेळगोल के विन्ध्यगिरि पर बाहुबलिस्वामी की मूर्ति प्रतिष्ठित होने के बाद ही यह गोमट नाम प्रसिद्ध हुआ। सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य चामुण्डराय के द्वितीय धर्मगुरु थे। उन्हों ने चामुण्डराय को सिद्धान्त-सम्बन्धी बातों को संग्रहरूप में समझाने के लिये रचे गये ग्रन्थ का नाम 'गोमटसार' रक्खा हैं। परन्तु सिर्फ इधर के ही कुछ ग्रन्थों में गोमट शब्द का प्रयोग देखने को मिलता है ; पूर्व के किसी पुराणादि ग्रन्थों में यह दृष्टिगोचर नहीं होता। नेमिचन्द्राचार्य प्राकृत भाषा के अद्वितीय विद्वान् थे। उनकी सभी कृतियां प्राकृत भाषा-बद्ध ही हैं। उस भाषा के त्रिविक्रम व्याकरण के "गुम्म गुम्मडौ मुहेः" (३-४-१३१) इस सूत्रानुसार 'मोहक' इस अर्थ में णिजन्तार्थ में 'मुह' धातु का 'गुम्मड' आदेश होता है*। इस शब्द के डकार के स्थान में उसी व्याकरण के "गजडदब चमठधभां कचटतप खछठथफाल् (३-२-६५) सूत्रानुसार टकार आकर 'गुम्मट' शब्द बनता हैं। इस मूल रूप में ही उच्चारण भेद से गोमट और गोम्मट शब्द बन गये हैं। तुळु देश (South Kanara) में "गुम्मड देवर्" यों कहने की रूढि भी इसी बात को समर्थन करती है।

ज्ञात होता है कि चामुण्डराय के द्वारा श्रवणबेळगोल में निर्मापित ५७ फीट उन्नत बाहुबली की मूर्ति अनुपम सुन्दर एवं जगन्मोहक होने से ही नेमिचन्द्राचार्य ने उस विग्रह को 'गोमट' यह नाम रखा और "गुणरत्नभूषण" "सत्ययुधिष्ठिर" "सम्यक्त्वरत्नाकर" इन उपाधियों से चामुण्डराय भी अपने गुणों से तथा गोमटविग्रह के प्रतिष्ठापक होने के नाते संसार को मोहक अर्थात् संतुष्ट करनेवाला होने से गोमट इस प्रशस्ति से उन्हीं के द्वारा विभूषित किये गये। नेमिचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थ में बाहुबलिस्वामी एवं चामुण्डराय को "गोमट" नाम से सम्बोधित किया है।

*हेमचन्द्र-कृत प्राकृत व्याकरण (४, २०७) से भी इस बात की पुष्टि होती है। —के० बी० शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीयुत गोविन्द पंजो का पक्ष है कि "गोमट" शब्द मन्मथ अर्थ में निष्पन्न हुआ है। आप का कहना है कि 'प्राकृत-मंजरी' के "मन्मथे वः" "न्मो मः" इन सूत्रों से मन्मथ शब्द के प्रथम मकार का वकार, न्मकार के नकार का मकार (थकार का वकार) आदेश हो कर "वम्मह" होता है। फिर अन्तिम थकार ठकार हो "गोम्मठ" बनता है। मगर अन्तिम थकार मन्मथ शब्द में है; 'गोम्मह' शब्द में तो अन्त्याक्षर हकार है। थकार के स्थान में ठकार आने पर "मम्मठ" रूप होना चाहिये। पता नहीं है कि यह "गम्मट" "गुम्मठ" एवं "गुम्मट" कैसे हुए। साथ ही साथ ज्ञात नहीं होता है कि ऊपर दिखलाये गये "वम्मह" रूप का सार्थक्य क्या है। बाहुबल्यर्थ में मन्मथ शब्द ही अगर "गुन्मट" शब्द व्यवहृत हुआ है तो इस मूर्ति-निर्माण के तथा नेमिचन्द्राचार्य के ग्रन्थ में इसके प्रयुक्त होने के पूर्व इस शब्द का प्रयोग क्यों नहीं हुआ—ये बातें विचारणीय हैं। क्योंकि मन्मथ शब्द पहले भी मौजूद था।

चामुण्डराय को "वीरमार्तण्ड" "वैरिकुलकालदण्ड" "समरधुरन्धर" "प्रतिपक्षराक्षस" आदि उपाधियों के होने से वह अप्रतिम पराक्रमी था यह बात स्पष्ट है। पराक्रमी पराक्रम-गुण को अपनाना पसन्द करता हैं। अत एव वह इह में अतुल पराक्रमी हो कीर्तिशाली बन कर कैवल्य-साधक श्रीबाहुबलिस्वामी को अपना अभीष्टदेव चुन कर उनकी लोकोत्तर सुन्दर मूर्ति को स्थापित कर धन्य हुआ है।"

— के० भुजबली शास्त्री

(३)

श्रीपुराण

पहले मैंने समझा था कि 'श्रीपुराण' आचार्य सकलकीर्त्ति की रचना है। इस समझ के दो कारण थे—पहला जनश्रुति, दूसरा सकलकीर्त्ति की कृतियों में भी 'आदिपुराण' नामक ग्रन्थ का पाया जाना। फिर भी श्रीपुराण के मंगलाचरण आदि को देख कर मुझे सन्देह हुआ था अवश्य। इसीलिये भवन से प्रकाशित 'प्रशस्ति-संग्रह' के अन्तर्गत इस ग्रन्थ के परिचय में मैंने स्पष्ट लिख दिया था कि इस ग्रन्थ के रचयिता का प्रकृत पता लगाने के लिये भगवज्जिनसेन एवं आचार्य सकलकीर्त्ति के आदिपुराणों को तुलनात्मकदृष्टि से अवश्य देखना चाहिये। सकलकीर्त्ति का आदिपुराण 'भवन' में नहीं था, इसलिये उस समय मैं उससे इस श्रीपुराण का मिलान करने में असमर्थ रहा। साथ ही साथ प्रशस्ति-संग्रहान्तर्गत सभी ग्रन्थों को आमूलाग्र देखने को मुझे अवकाश मिलता नहीं है। खैर, अभी हाल में आये हुए श्री पं० नेमिराजजी शास्त्री मैसूर के पत्र से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञात हुआ है कि इसमें जिनसेनकृत आदिपुराण के श्लोक ही संगृहीत हैं जिनके द्वारा श्रीऋषभदेव की संक्षिप्त जीवनीमात्र संकलित है। परन्तु पता नहीं है कि इनके संग्रह-कर्त्ता कौन हैं। कुछ भी हो संक्षेप में श्रीभगवान् ऋषभदेव की जीवनी जाननेवालों के लिये यह विशेष उपयोगी है। बल्कि यह ग्रन्थ उक्त शास्त्रीजी के द्वारा कन्नड अनुवाद के साथ कन्नड लिपि में मैसूर से शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। हिन्दी अनुवाद के साथ नागरी लिपि में भी इसके प्रकाशन की आवश्यकता है। इससे मूल्य की अधिकता के कारण जो व्यक्ति आदिपुराण नहीं खरीदना चाहते हैं वे भी इसे अल्प मूल्य में खरीद कर लाभ उठा सकते हैं। खास कर व्यापारिकदृष्टि से जो ग्रन्थ प्रकाशन का व्यवसाय करते हैं उनका तो इस ओर अवश्य ध्यान जाना चाहिये।

—के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४३) ग्रन्थ नं० ५४/क

प्रतिष्ठा-तिलक

कर्त्ता—ब्रह्मसूरी

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्र-संख्या ११२

प्रारम्भिक भाग —

जिनाधीशमहं वन्दे विध्वस्ताशेषदोषकम् ।
सर्वज्ञं सर्वशास्त्रस्य कर्त्तारं त्रिजगत्प्रभुम् ॥१॥
गणाधीशं श्रुतस्कन्धमपि नत्वा त्रिशुद्धितः ।
प्रतिष्ठातिलकं वक्ष्ये पूर्वशास्त्रानुसारतः ॥२॥
जिनेन्द्रप्रतिमान्यासः प्रतिष्ठेति निगद्यते ।
तत्पूर्विका जिनेज्या हि भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ॥३॥

× × ×

मध्यम भाग (पूर्व पृष्ठ ६४, पंक्ति १२)—

अथाकारशुद्धिविधानम् ।
वेदिबाह्यप्रदेशे मरुदमरकुमाराद्युपस्कारयुक्ते
कूटादावष्टपत्राम्बुजलिखितपरब्रह्मगुग्रामराढ्ये ।
विन्यस्य स्नानपीठे कुशनिहितजिनार्चामुपानीय भक्त्या
संस्थाप्याग्रस्थकुम्भांबुभिरहमुचिताकारशुद्धिं विधास्ये ॥
ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं भूः स्वाहा । जन्माभिषेकस्थानीयमाकार-
शुद्ध्यभिषेकप्रारम्भे स्नानपीठाग्रतः पुष्पाञ्जलिं कुर्यात् ।
भेरीगंभीरनादेत्यादि पद्यपठनानन्तरं बाह्ये पृथग्वाद्यघोषणम् ।

× × × ×

अन्तिम भाग—

देशेषु सर्वेष्वधिकः सुपाण्ड्यदेशो नदीमातृकदेवमातृकः ।
चोचाम्रमोचादिसुपूगवृक्षैः संवर्द्धमानो बहुशालिभिश्च ॥१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानाविधैर्वर्द्धितधान्यवर्गैर्वृक्षैरशेषैः फलदैः सुयोग्यैः ।
बाभाति सत्पद्मसरोवरैश्च श्रीराजहंसैर्विहगैर्नरैश्च ॥२॥
द्वीपं गुडीपत्तनमस्ति तस्मिन् हर्म्यावलीतोरणराजिगोपुरैः ।
मनोहरागारसुरत्नसंभृतैरुद्यानजैर्भात्यमरावतीव ॥३॥
तद्राजराजेन्द्रसुपाराङ्यभूपः कीर्त्या जगद्व्यापितवान् सुधर्मा ।
रराज भूमाविति निस्सपत्नः कलान्वितः सद्भिर्बुधैः परीतः ॥४॥
तत्रास्ति सद्रत्नसुवर्णतुंगचैत्यालये श्रीवृषभेश्वरो जिनः ।
विशोखनन्दीशमुनीन्द्रमुख्याः सच्छास्त्रवन्तो मुनयो वसन्ति ॥५॥
श्रीमूलसंघव्योमेन्दुर्भारते भावितीर्थकृत् ।
देशे समन्तभद्राख्यो मुनिर्जीयात्पदर्द्धिकः ॥६॥
तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्त्तकः ।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥७॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरेण्यौ ।
कृत्स्नं श्रुतं श्रीगुरुपादमूले ह्यधीतवन्तौ भवतः कृतार्थौ ॥८॥
तदन्वयेऽभूद्विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः ।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः ॥९॥
तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ।
यद्वाङ्मयं पुरोरासीत् पुराणं प्रथमं भुवि ॥१०॥
तदीयप्रियशिष्योऽभूत् गुणभद्रमुनीश्वरः ।
शलाकाः पुरुषाः यस्य सूक्तिभिर्भूषिताः सदा ॥११॥
गुणभद्रगुरोस्तस्य माहात्म्यं केन वर्ण्यते ।
यस्य वाक्सुधया भूमावभिषिक्ता जिनेश्वराः ॥१२॥
तच्छिष्यानुक्रमे जातेऽसंख्येये विश्रुतो भुवि ।
गोविन्दभट्ट इत्यासीद् विद्वान् मिथ्यात्ववर्जितः ॥१३॥
देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शनान्वितः ।
अनेकान्तमतं तत्त्वं बहु मेने विदांवरः ॥१४॥
नन्दनास्तस्य संजाता वर्धिताखिलकोविदाः ।
दाक्षिणात्या जयन्त्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादतः ॥१५॥
श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभः ।
उद्यद्भूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानकः ॥१६॥
वर्द्धमानकविश्चेति षडभूवन् कवीश्वराः ॥१६॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्यक्त्वं सुपरीक्षितुं मदगजे मुक्ते सरायांपुरे-
-शस्या:(?) पाराड्यमहीश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागते ।
शैलूषं जिनमन्त्रवारिणमुपास्यास्मिन्मदं ध्वंसति
श्लोकेनागतहस्तिमल्ल इति यः प्रख्यातवान् सूरिभिः ॥१७॥
श्रीवत्सगोत्रजनिभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात् ।
नानाकलाम्बुनिधिपाराड्यमहीश्वरेण श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव ॥१८
तद्धस्तिमल्लतनुजो भुवि सुप्रसिद्धः सद्धर्मपालकमहोज्ज्वलकीर्तिनाथः ।
तद्धर्म (?) वर्द्धयितुमप्यखिलागमज्ञः श्रीपार्श्वपरिडतबुधोऽविशदन्यराजकम् ॥१९॥
श्रीवत्सकाश्यपवशिष्ठप्रशस्तभारद्वाजोल्लसद्गौतमभार्गवैश्च ।
आत्रेयकौरिडनिमहत्सम्मगस्त्यविश्वामित्रैः सुगोत्रैः सह बन्धुभिश्च ॥२०॥
एकैकस्मात्कारणात्तां पुरीं तद्धित्वा गत्वा विषयसंमंगलं च ।
तस्मात्तैः सार्द्धं सदाचारनिष्ठो देशं चागाद् होय्सालाख्यं प्रतीतम् ॥२१॥
पृथ्वीतले होय्सलदेशनाम्नि छत्रत्रयाभिख्यपुरी च तस्याम् ।
संराजते चाष्टमतीर्थनाथो विचित्रचित्रान्वितचैत्यगेहे ॥२२॥
तच्चन्द्रनाथजिनपादसरोजभृङ्गस्तां पार्श्वपरिडतबुधोऽप्यविशत्सबन्धुः ।
तत्सूनवश्चन्द्रपचन्द्रनाथवैजय्यजीयाश्च क्रमाद्बभूवुः ॥२३॥
चन्द्रनाथसुताद्याश्च सर्वे हेमाचले स्थिताः ।
तस्यानुजौ यथायोग्यदेशे वासं गतौ च तौ ॥२४॥
सद्वर्तनानुचरितोज्ज्वलचन्द्रपार्यसूनुः सुशास्त्रविद्भूद्विजयद्विजोत्तमः ।
तत्संभवः सकलशास्त्रकलाधिनाथो नाम्नेन्द्र× × ×विजयो जिनयाजजूकः ॥२५॥
शास्त्राम्भोजातभास्वज्जिनपदनखसच्चन्द्रिकासच्चकोरम्
विजयेन्द्रं सुषुवे हि तत्प्रणयिनी श्रीनामधेया च यम् ।
सद्धर्माब्धिसुपूर्णचन्द्रमम सम्यक्त्वरत्नाकरम्
तत्पुत्रं खलु ब्रह्मसूरिणमिति ख्यातभाग्योदयम् ॥२६॥
षट्कर्मवैद्यागमशब्दशिल्पज्योतिष्ककाव्योचितनाटकश्च ।
सङ्गीतसाहित्यकवित्वछन्दोऽलङ्कारशास्त्रं स विवेद सर्वम् ॥२७॥
वृत्तानुयोगाद्युदितप्रपञ्चविस्तारवेदी सकलानुवादी ।
ततश्चतुर्धाहतवेदशास्त्रकलागुरुः स्वकुलमलञ्चकार ॥२८॥
श्रीचन्द्रप्रभतीर्थनाथपदपद्मामोदसंसक्तभृङ्गः ।
सर्वकलाविचारचतुरः संसेव्यमानो नृपैः ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार्वाकादिसुवादिपर्वतपविः सर्वज्ञसंस्थापकः ।
वाग्देवीभजनादितीदमवदत् तद्ब्रह्मसूरी मुदा ॥२९॥
सारं सारं प्रोक्तमित्यत्र शास्त्रे सर्वं लक्ष्यं लक्षणान्त्वेतदेव ।
छन्दोऽलङ्कारादितश्चानघं सज्जीयाल्लोके बन्धुरं सर्वकालम् ॥३०॥
इति प्रतिष्ठातिलकोदितक्रमात् करोति यो भव्यजनप्रमोदताम् ।
जिनप्रतिष्ठां परमार्थनिष्ठां सद्ब्रह्म यास्यत्यचिरात् सुसौख्यम् ॥३१॥

इस प्रतिष्ठातिलक के कर्त्ता ब्रह्मसूरी ने अपना वंश-परिचय निम्नलिखित रूप से दिया है :—

पाण्ड्यदेश में गुडिपत्तन नाम का एक नगर है। यहाँ का राजा पाण्ड्यनरेन्द्र है। यह बड़ा ही धर्मिष्ठ, शूर-वीर, कला-कुशल तथा पण्डित-सेवी है। यहीं श्रीवृषभ तीर्थङ्कर का एक मनोज्ञ रत्नजटित सुवर्णमय मन्दिर है। इसमें विशाखनन्दी आदि अनेक विद्वान् मुनिगण वास करते हैं। कवि ने आगे प्रख्यात पुराणप्रणेता भगवज्जिनसेनाचार्य की परम्परागत श्रीगोविन्द भट्ट को ही अपना पूर्वज बतलाकर निम्न प्रकार से अपनी वंश-तालिका अंकित की है :—

गोविन्दभट्ट के श्रीकुमार, सत्यवाक्य, देवरवल्लभ, उदयभूषण, हस्तिमल्ल और वर्द्धमान नाम के छः लड़के थे। सुप्रसिद्ध कवि हस्तिमल्ल के पुत्र पण्डित पार्श्व हुए। वह अपने पिता के समान यशस्वी, धर्मात्मा एवं शास्त्रमर्मज्ञ विद्वान् थे। पीछे पार्श्व पाण्ड्य देश से काश्यप, वशिष्ठ आदि अपने गोत्रज बन्धुओं के साथ होय्सलदेश में आकर रहने लगे। यह होय्सलवंश पश्चिमी घाटी की पहाड़ियों में कडूर जिले के मदूगिरि तालुक में अंगडि नामक स्थान से प्रादुर्भूत हुआ था। इसका प्राचीन नाम शशकपुर है। यहां पर सळ नामक एक सामन्त ने एक व्याघ्र से जैनमुनि की रक्षा करने के हेतु होय्सळ नाम प्राप्त किया था। विद्वानों का कहना है कि प्रारंभ में होय्सळवंश पहाड़ी था। पीछे विनयादित्य के उत्तराधिकारी ने अपनी राजधानी शशकपुरी से बेलूर में हटाली। द्वारसमुद्र (हळेबीडु) में भी उनकी राजधानी थी। इस वंश के विष्णुवर्द्धन के समय होय्सळ नरेशों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसी समय गंगवाडि का पुराना राज्य सब उनके अधीन हो गया था और इन्होंने कई अन्य प्रदेशों को भी जीत लिया था। प्रारंभ में विष्णुवर्द्धन जैनधर्मावलम्बी रहा; किन्तु पीछे वैष्णव हो गया था। फिर भी जैनधर्म से उसकी सहानुभूति बनी ही रही। होय्सळ राज्य पहले चालुक्य-साम्राज्य के अन्तर्गत था। पीछे नरसिंह के पुत्र वीरबल्लाल के समय में वह स्वतन्त्र हो गया। यह वंश जैनियों का विशेष रूप से पृष्ठपोषक था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उल्लिखित राज्य की राजधानी ग्रन्थकर्ता ने छत्तत्रयपुरी लिखी है। ऐतिहासिक प्रमाणों से इस वंश की राजधानी केवल तीन स्थानों में थी, जिनके नाम क्रम से शशकपुर, बेलूर और द्वारसमुद्र थे। पता नहीं कि छत्तत्रयपुरी से ब्रह्मसूरी जी किस स्थान का संकेत करते हैं। बहुत संभव है कि द्वारसमुद्र को ही इन्होंने छत्तत्रयपुर लिख दिया हो।

अस्तु, उक्त पार्श्वपण्डित को चन्द्रप, चन्द्रनाथ और वैजय्य नाम के तीन पुत्र थे। इनमें से चन्द्रनाथ और इनके परिवार पीछे हेमाचल में जा बसे। शेष दो भाई अन्यान्य स्थानों में चले गये। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुए और इन्हीं के लड़के इस ग्रन्थ के रचयिता परम धार्मिक सर्व शास्त्र-निष्णात एवं चारित्रचंचरीक श्रीब्रह्मसूरी जी हैं।

---

(४४) ग्रन्थ नं० ५५/भ्क

प्रतिष्ठाकल्प

कर्त्ता—भट्टाकलंक

विषय—प्रतिष्ठा

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौड़ाई ६।।। इञ्च पत्र-संख्या ८०

प्रारम्भिक भाग—

विज्ञानं विमलं यस्य विशदं विश्वगोचरम्।
नमस्तस्मै जिनेन्द्राय सुरेन्द्राभ्यर्चितांघ्रये ॥१॥
वन्दित्वा च गणाधीशं श्रुतस्कन्धमुपास्य च।
ऐदंयुगीनानाचार्यानपि भक्त्या नमाम्यहम् ॥२॥
अथ श्रीनेमिचन्द्रीयप्रतिष्ठाशास्त्रमार्गतः।
प्रतिष्ठायास्तदाद्युत्तरांगानां स्वयमङ्गिनाम् ॥३॥
इन्द्रप्रतिष्ठावभृथाद्यन्तानां कृत्स्नकर्मणाम्।
अवान्तरक्रियाणां च लक्षणप्रतिपादकः ॥४॥
प्रतिष्ठाकल्पनामासौ ग्रन्थः सारसमुच्चयः।
भट्टाकलंकदेवेन साधु संगृह्यते स्फुटम् ॥५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरातनेषु तन्त्रेषु किञ्चित्सूत्रसमुच्चितम् ।
किञ्चित्प्रयोगसंसिद्धं किञ्चित्कर्मान्तरस्थितं ॥६॥
मंत्रकाण्डगतं किञ्चित् किञ्चित्तन्त्रान्तरोदितम् ।
इत्येवं विप्रकीर्णं तल्लक्ष्म नैकत्र सञ्चितम् ॥७॥
अवगम्य तदेकत्र नेयं प्रकृतकर्मणः ।
सिद्धयर्थं प्रौढसाध्यं तन्मन्दानां नैव गोचरः ॥८॥
अतो मन्दावबोधार्थं लक्ष्म यद्यत्र योजितम् ।
तत्रैव क्रियतेऽत्रेति सफलो मे परिश्रमः ॥९॥
श्लोकाः पुरातनाः केचिद्विलिख्य लक्ष्मबोधकाः ।
प्रायस्तदनुसारेण मदुक्ताश्च क्वचित्क्वचित् ॥१०॥
यत्साक्षाद्यच्च लक्ष्मैषद्व्यवधानेऽप्यपेक्षितम् ।
संगृह्यते तदेवात्र न पारंपर्यवाञ्छितम् ॥११॥
पारम्पर्यावेशात्र संहिता-शास्त्र-भाषितम् ।
नोच्यते किन्तु तद्वैव (?) यच्छास्त्रान्तरगोचरः ॥१२॥
तथाहीह प्रतिष्ठांगक्रियानिर्वहणाय हि ।
तत्कर्तुर्नियमेनात्रोपासकाध्ययनागमे ॥१३॥
पुराणाद्यात्मशकुनवास्तुज्योतिषशास्त्रगम् ।
सामान्यैरपि राजाद्यैर्महामुकुटशोभिभिः ॥१४॥
ज्ञानमावश्यकं तत्तु संख्या व्याकरणाद्विना ।
न भवेदिति तल्लक्ष्म वेद्यं तत्रैव नात्र तु ॥१५॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ३१, पंक्ति ६)—

अथैवमङ्कुरारोपस्तद्रात्रौ होमकर्म च ।
इत्युक्तं प्राक् ततोऽत्रैव तद्विधानं निरूप्यते ॥
मण्डपस्य च वेद्याश्च कुण्डानां चापि लक्षणम् ।
वक्ष्यतेऽग्रे प्रपञ्चेन यागशालाप्रवेशने ॥
अत्र कर्मानुपूर्वी च तत्तल्लक्ष्म च केवलम् ।
पूर्वसूरिवचो दृष्ट्वा कथ्यते साधु तद्यथा ॥
होमकर्मणि पूर्वांगत्वेन पुण्याहवाचना ।
कर्त्तव्या सापि संकल्पपूर्विका नवकेवला ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इति संकल्प्य पुण्याहे क्रियमाणे तदन्तरे।
अस्ति क्रियाविशेषोऽतः साबम्बप्राग्निरूपिते ॥
होतुरासनविन्यासः कुण्डात् प्रागिति वक्ष्यते।
तस्य कुण्डस्य चेत्येतद्द्भयोरन्तरालके ॥
प्रस्थं प्रस्तीर्य शालीनां तदूर्ध्वं तण्डुलानपि।
तत्र स्वस्तिकमालिख्य कोष्ठगश्रीचतुष्टयम् ॥
मायाक्षरं वृतं तत्र तीर्थाम्बुपरिपूरितम्।
पल्लवादर्शशोभाढ्यगन्धपुष्पाक्षताश्चितम् ॥
तण्डुलामात्रपिहितं कुशकूर्चोपलक्षितम्।
श्वेतसूत्रावृतं पञ्चरत्नकाञ्चनगर्भितम् ॥
श्रीखण्डपंकसंलग्नाक्षतविक्षेपलक्षितम्।
धौतप्रत्यग्रधवलवासोमण्डितकन्दरम् ॥

× × ×

अन्तिम भाग—

इत्यार्षे श्रीमद्भट्टाकलंकदेवसंगृहीते प्रतिष्ठाकल्पनाम्नि ग्रन्थे सूत्रस्थाने प्रतिष्ठाद्वितीय-तृतीयदिवसविधिनिरूपणीयो नामैकोनविंशः परिच्छेदः।

प्रतिष्ठाकल्प, अकलङ्कसंहिता अथवा अकलङ्कप्रतिष्ठापाठ के नाम से प्रसिद्ध यह ग्रन्थ राजवार्तिक, अष्टशती आदि ग्रन्थों के रचयिता विक्रम की ८वीं शताब्दी के विद्वान् भट्टाकलङ्कदेव की कृति माना जाता है। इस ग्रन्थ में तो इसकी रचना का समय नहीं दिया है, परन्तु ग्रन्थों की सन्धियों में ग्रन्थकर्त्ता का नाम 'भट्टाकलङ्कदेव' अवश्य दिया है। सन्धियों में ही नहीं, पद्यों में भी ग्रन्थकर्त्ता ने अपना नाम भट्टाकलङ्कदेव प्रकट किया है। इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में पण्डित जुगलकिशोर जी मुख्तार का कहना है कि सन्धियों और पद्यों में भट्टाकलङ्कदेव का नाम लगा होने से ही यह ग्रन्थ राजवार्तिक के कर्त्ता का बनाया हुआ समझ लिया गया है। अन्यथा, ऐसा समझने में और कथन करने की कोई दूसरी वजह नहीं है। भट्टाकलङ्कदेव के बाद होनेवाले किसी माननीय प्राचीन आचार्य की कृति में भी इस ग्रन्थ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्राचीन शिलालेख भी इस विषय में मौन हैं। साथ ही साथ भट्टाकलंकदेव के साहित्य और उन की कथन-शैली से इस ग्रन्थ के साहित्य और कथनशैली का कोई मेल नहीं है। इसका अधिकांश साहित्य-शरीर ऐसे ग्रन्थों के आधार पर बना हुआ है, जिनका निर्माण भट्टाकलङ्कदेव के अवतार से बहुत पीछे के समयों में हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्तार साहब ने अपनी इस बात को प्रमाणित करने के लिये भगवज्जिनसेन (वि० ९वीं शताब्दी)-प्रणीत आदिपुराण, आचार्य शुभचन्द्र (लगभग वि० ११वीं शताब्दी)-कृत ज्ञानार्णव, भट्टारक एकसन्धि (वि० १३वीं शताब्दी)-रचित एकसंधि-संहिता, पण्डित आशाधर (वि० १३वीं शताब्दी)-प्रणीत जिनयज्ञकल्प, श्रीब्रह्मसूरि (लगभग वि० १५वीं शताब्दी)-विरचित प्रतिष्ठापाठ, श्रीनेमिचन्द्र (लगभग वि० १६वीं शताब्दी)-अङ्कित प्रतिष्ठातिलक, श्रीसोमसेन (वि० १७वीं शताब्दी)-प्रणीत त्रिवर्णाचार के पद्यों को उद्‌धृत किया है। इन पद्यों में मंगलाचरण भी गर्भित है। पं० जुगल किशोर जी के ख़याल से इसकी रचना विक्रम की १६ वीं या १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई है और यह अकलंक या अकलंकदेव नाम के किसी भट्टारक या विद्वान् की रचना है। मालूम होता है कि इन्होंने अपने नाम के साथ स्वयं ही 'भट्ट' की महत्त्वसूचक उपाधि को धारण करनी पसन्द किया है। इस सम्बन्ध में विशेष बात जानने के लिये 'ग्रन्थ-परीक्षा' भाग ३य का अवलोकन करना चाहिए।

---

(४५) ग्रन्थ नं० ५७/झ

परसमय ग्रन्थ

कर्त्ता—(संगृहीत)

विषय—जैनाचारमण्डन

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८॥ इञ्च चौड़ाई ६॥। इञ्च पत्र-संख्या २०

प्रारम्भिक भाग—

श्रूयतां धमसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥
कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मो विवर्द्धते ।
कथं संस्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो विनश्यति ॥
सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्द्धते ।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद्विनश्यति ॥
अहिंसासत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम् ।
पञ्चस्वेतेषु धर्मेषु सर्वे धर्माः प्रतिष्ठिताः ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन.. उपाध्ये.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोहम्मसु दस्स य वाहणदेवा हुवंति चित्तरया।
दक्खिणउत्तरपासेसु तिए(?) वरदिव्वरूवधरा ॥१४३॥
अभियोगपुराहिंतो गंतूणं पंचजोयणाणि तदो।
दसजोयणवित्थिण्णं वेयड्ढगिरिस्स वरसिहरं ॥१४४॥
तियसिंदचावसरिसं विसालवरवेदियाहिं परियरियं।
बहुतोरणदारजुदं[1] विचित्तरयणम्मि रमणिज्जं ॥१४५॥
तत्थ समभूमिभागे [2]पुरंतवररयणकिरणणियरम्मि।
चेट्ठंते णव कूडा कंचणमणिमंडिया दिव्वा ॥१४६॥
णामेहिं सिद्धकूडो पुव्वदिसंतो तदो भरहकूडो।
खंदप्पवादणामो तुरिमो तह माणिभद्दो त्ति ॥१४७॥
विजयड्ढकुमारो पुण्णतिमिस्सं गुहाविधाणो य।
उत्तरभरहो कूडो पच्छिमयंतम्मि वेसमणा ॥१४८॥
कूडाणं उच्छेहो पुहपुह छज्जोयणाणि इगिकोसं।
तेत्तियमेत्तं णियमा हुवेदि मूलम्मि विक्खंभा ॥१४९॥

जो ६ को १ जो ६ को १ जो ४ को १ जो ३ $\frac{1}{2}$

तस्सद्धं वित्थारो पत्तेक्कं होदि कूडसिहरम्मि।
मूलसिहराणि रुंदं मेलियदलिदम्मि मज्झस्स ॥१५०॥
आदिमकूडे[3] चेट्ठदि जिणिंदभवणं[4] विचित्तधयमालं।
वरकंचणरयणमयातोरणजुत्तं विमाणं च ॥१५१॥
दीहत्थमेक्ककोसो विक्खंभो होदि कोसद्धसम्मेत्तं।
गाउतियचरणभागो उच्छेहो जिणणिकेदस्स ॥१५२॥

को १ । $\frac{1}{2}$ । $\frac{3}{4}$ ।

कंचणपायारत्तयपरियरिओ गोउरेहिं संजुत्तो।
वरवज्जणीलविज्जुमम[5] रगयवेरुलियपरिणामो ॥१५३॥
लंबंतरयणदामो णाणाकुसुमोपहारकयसोहो।
[6]गोसीसमलयचंदणकालागुरु[7]धूवगंधड्ढो ॥१५४॥

1 D हारजुदं; 2 पुरत्त (फुरंत ?); 3 D कूडो; 4 D जिणंद; 5 विद्दुम(?); 6 ABS गोसीर; 7 ABS कालागरु।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वरवज्जकवाडजुदो बहुविहदारेहिं सोहिदो विउलो ।
वरमाणथंभसहिओ जिणिंदगेहो णिरुवमाणो ॥१५५॥
भिंगारकलसदप्पणचामरघंटादवत्तपहुदीहिं ।
पूजादव्वेहिं तदो विचित्तवरवत्थसोहिं वा ॥१५६॥
पुण्णायचंपयअसोयबउलादिरुक्खपुण्णेहिं ।
उज्जाणेहिं सोहदि विविहेहिं जिणिंदपासादो ॥१५७॥
सच्छजलपूरिदाहिं कमलुप्पलसंडमंडणधराहिं ।
पोक्खरणीहिं रम्मो मणिमयसोहाण[1]मालाहिं ॥१५८॥
तस्सिं जिणिंदपडिमा अट्ठमहामंगलेहिं संपुण्णा
सीहासणादिसहिदा चामरकरणागजक्खमिहुणजुदा ॥१५९॥
भिंगारकलसदप्पणवीयणधयछत्तचमरसुपइट्ठा ।
इय अट्ठमंगलाइं पत्तेक्कं अट्ठअधियसयं ॥१६०॥
कित्तीए वणिज्जइ जिणिंदपडिमा य सासदद्वीए[2] ।
जो हरइ सयलदुरियं सुमरणमेत्तेण भव्वाणं ॥१६१॥
एवं हि रूवं पडिमं जिणस्स तत्थट्ठिदं भत्तिए सच्छचित्ता ।
झायंति केई सुविणट्ठकम्मा ते मोक्खमाणं सकलं लहंते ॥१६२॥
एसा जिणिंदप्पडिमा जणाणं[3] झाणं ति णिच्चं सुबहुप्पयारं ।
भावाणुसारेण अणंतसोक्खं[4] णिस्सेयसं अब्भुदयं च देदि॥१६३॥
भरहादिसु कूडेसुं अट्ठसु वेंतरसुराण पासादा ।
वररयणकंचणमया वेदीगोउरदुवारकयसोहा ॥१६४॥
उज्जाणेहिं जुत्ता मणिमयसयणासणेहिं परिपुण्णा ।
णच्चंतधयवडाया बहुविहवण्णा विरायंति ॥१६५॥
बहुदेवदेविसहिदा वेंतरदेवाण होंति पासादा ।
जिणवरभवणपवणिणदपासादसरिच्छरुंदादी ॥१६६॥

को १ । ११३ ।

२ ४

भरहे कूडे भरहो विंदपवादम्मि णट्टमालसुरो ।
कूडम्मि माणिभद्दे अहिवइदेवो अ[5] माणिभद्दो त्ति ॥१६७॥

1 सोवाण (?); 2 ABS सासदरिद्धीए; 3 D जिणाणं; 4 D सोक्खं पि; 5 य (?)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदड्ढकुमारसुरो वेयड्ढकुमारणामकूडम्मि ।
चेट्ठेदि पुराणभद्दो अहिणामो होइ पुराणभद्दम्मि ॥१६८॥
तिमिसगुहम्मि य कूडे देवो णामेण वसदि कदमालो ।
उत्तरभरहे कूडे अहिवइदेवो भरहणामो ॥१६९॥
कूडम्मि य वेसमणे वेसमणो णाम अहिवरो देवो ।
दसधणुदेहुच्छेहो सव्वे ते एक्कपल्लाऊ ॥१७०॥
वेगाऊवित्थिरणा दोसु वि पासेसु गिरिसमायामा ।
वेयड्ढम्मि गिरिंदे वणसंडा होंति भूमितलिं ॥१७१॥
दोकोसुं वित्थारो पणसयचावा पमाणरुंदो उ ।
वणवेदीआयारो[1] होंति (?) हु तोरणदारेहिं संजुत्तो ॥१७२॥
चरियट्टालयचारू णाणाविहजंतलक्खसंछरणा !
विविहवररयणखचिदा णिरुवमसोहा हि वेदीओ ॥१७३॥
सव्वेसु उववणेसुं वेंतरदेवाण होंति वरणयरा ।
पायारगोउरजुदा जिणभवणविभूसिया विउला ॥१७४॥
रजदणगे दोरिण गुहा पराणासा जोयणाणि दीहाओ ।
अट्ठं उव्विद्धाओ बारसविक्खंभसंजुत्ता ॥१७५॥

५० । ८ । १२ ।

पुव्वाए तिमिसगुहा खंदपवालादिसाए अवरधरा ।
वज्जकवाडाहि जुदा अणादिणिहणा हि सोहंति ॥१७६॥
जमलकवाडा दिव्वा होंति हु छज्जोयणाणि वित्थिरणा ।
अट्ठेवयसद्धाओ[2] दोसु वि गुहासु दाराणि पत्तेक्कं ॥१७७॥
पण्णासजोयणाणिं वेयड्ढणगस्स मूलवित्थारो ।
तं भरहादो सोधय सेसद्धं दक्खिणद्धं तु ॥१७८॥
दुसया अट्ठत्तीसं तिरिण कलाओ य दक्खिणद्धम्मि ।
तस्स सरिच्छपमाणो उत्तरभरहो हि णियमेण ॥१७९॥

२३८ । ३ ।
१९

रुंदद्धं इसुहीणं वग्गिय अवणिज्ज रुंददलवग्गे ।
सेसं चउगुणमूलं जीवाए होदि परिमाणं ॥१८०॥

1 A आयारा; 2 D सिद्धाओ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाणजुदरुंदवग्गो[1] रुंदकदी सोधिदूण दुगुणकदो।
जं लद्धं तं होदि हु करणीचावस्स परिमाणं ॥१८१॥
जीवकदी तुरिमं सासावद्धकदी य सोहिदूण पदं।
रुंदद्धम्मि विहीणो अद्धं बाणस्स परिमाणं ॥१८२॥
जोयणा य णवसहस्ससत्तसया अट्ठतालसंजुत्ता।
बारसकलाओ अधिओ रजदाचलदक्खिणो जीओ[2] ॥१८३॥

९७४८ । १२ ।
१९

तंजीवाए चावं णव य सहस्साणि जोयणा होंति।
सत्त सया छासट्ठी एक्क कला किंचि अधिरेक्को[3] ॥१८४॥

९७६६ । १ ।
१९

वीसुत्तरसत्तसया दस य सहस्साणि जोयणा होंति।
एक्कारसकलअहिया रजदाचलउत्तरे जीवा ॥१८५॥

१०७२० । १० ।
१९

एदाए जीवाए धणुपट्ठं दससहस्ससत्तसदा।
तेदालजोयणाइं पण्णरसकला य अधिरेओ[4] ॥१८६॥

१०७४३ । १५ ।
१९

जेट्ठाए जीवाए मज्झे सोहसु जहण्णजीवस्स।
सेसदलं चूलीओ हुवेदि वंसेयसेले उ[5] ॥१८७॥
चत्तारि सयाणि तहा पणुसीदीजोयणेहिं जुत्ताइं।
सत्ततीसद्धकला परिमाणं चूलियाइरिमं ॥१८८॥

४८५ । ३७ ।

जेट्ठम्मि चावपट्ठे सोहेज्ज कणिट्ठचावपट्ठं ति।
सेसद्दलपयसभुजा हुवेदि वरिसम्मि सेले य ॥१८९॥
चत्तारि सयाणि तहा अडसीदीजोयणेहिं जुत्ताणि।
तेत्तीसद्धकलाओ गिरिस्स पुव्वावरम्मि पस्स भुजा ॥१९०॥

1 D वग्गे; 2 D दीउ; 3 D अधिवेको; 4 D अधिवेओ; 5 सेले य (?)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४४ । ३३ ।
२
१९

। पदा[1] सम्मत्ता ।

चोद्दससहस्सजोयणचउस्सया एक्कसत्तरीजुत्ता ।
पंचकलासा[2] सेसे जीवा भरहस्स उत्तरे भाए ॥१९१॥

१४४७१ । ५ ।
१९

भरहस्स चावपट्ठं पंचसयावहियचउदससहस्सा ।
अडवीस जोयणाइं हुवंति एक्कारस कलाउ ॥१९२॥

१४५२८ । ११ ।
१९

जोयणसहस्समेक्कं अट्ठसया पंचहत्तरीजुत्ता ।
तेरसअद्धकलाओ भरहखिदीचूलिया एसा ॥१९३॥

१८७५ । १३ ।

१९

एक्कसहस्सट्ठसया वाणउदी जोयणाणि भागा वि ।
पण्णारसद्धं एसा भरहखेत्तस्स एस्स भुजा ॥१९४॥

१८९२ । १५ ।
२
१९

हिमवंताचलमज्झे पउमदहो पुव्वपच्छिमायामो ।
पणसयजोयणरुंदो तद्दुगुणायामसंपरणो ॥१९५॥

५०० । १००० ।

दसजोयणावगाढो चउतोरणवेदियाहिं संजुत्तो ।
तस्सिं पुव्वदिसाए णिग्गच्छदि णिम्मगा गंगा ॥१९६॥
[3]छज्जोयणेक्ककोसा णिग्गदठाणम्मि होदि वित्थारा ।
गंगातरंगिणीए उच्छेदो[4] कोसदलमेत्ता ॥१९७॥

1 ABS एद्दा ; 2 कलंसा (?) ; 3 BS छजोयणे ; 4 B उच्चेदो, A उव्वेदो ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगाणइए[1] णिग्गमद्वाणे चिट्ठेदि तोरणो दिव्वो ।
णवजोयणाणि तुंगो दिवड्ढकोसादिरित्तो य ॥१९८॥

९ । ३ ।
२

चामरघंटाकिंकिणिवंदणमाला सहेइ कयसोहा ।
भिंगारकलसदप्पणपूयणदव्वेहिं रमणिज्जा ॥१९९॥
रयणमयथंभजोजिदविचित्तवरसालभंजियारम्मो ।
वज्जिंदणीलमरगयकक्केयणपउमरायजुदा ॥२००॥
ससिकंतसूरकंतप्पमुहमईखेहि[2] णासियतमोघो ।
लंबंदकणयदामो अणाइणिहणो अणुवमाणो ॥२०१॥
छत्तत्तयादिसहिदा वररयणमईओ फुरिदकिरणोधा ।
सुरखेयरमहिदाओ जिणपडिमा तोरणुवरि णिवसंति ॥२०२॥
तम्हि समभूमिभागे पासादा विविहरयणकणयमया ।
वज्जकवाडेहिं जुदा चउतोरणवेदियाजुत्ता ॥२०३॥
एदेसु मंदिरेसुं होंति दिसाकण्णयाउ देवीओ ।
बहुपरिवाराणुगदा[3] णिम्मललावण्णरूवगदा ॥२०४॥
पउमदहादु दिसाए पुव्वाए थोवभूमिमेत्तंमि ।
गंगाणईण मज्झे उब्भासदि एउ मणिमयकूडो ॥२०५॥
वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालसंजुत्तो ।
तस्स दला अहिरत्तो पत्तेक्कं कोसदलमेत्तं ॥२०६॥
सलिलादु[4] वरीउदओ एक्कं कोसं हुवेदि एदस्स ।
दोकोसो वित्थारो चामीयरकेसरेहिं संजुत्तो ॥२०७॥
इगिकोसोदयरुंदो रयणमई तस्स कणिणया होदि ।
तीए उवरिं चेट्ठदि पासादो मणिमओ दिव्वो ॥२०८॥
तप्पासादा णिवसदि वेंतरदेवी बलेत्ति विक्खादो[5] ।
[6]एक्कपलिदोवमाऊ बहुपरिवारेहि संजुत्ता ॥२०९॥
एवंपउमदहादो पंचसयाजोयणाणि गंतूणं ।
गंगाकूडमपत्तो[7] जोयणअद्धेण दक्खिणावलिया ॥२१०॥

1 B गंगाइए; 2 मऊखेहि (?); 3 A S B मदा; 4 D सलिलाओ दुवरी; 5 विक्खादा (?); 6 ASB एक्का; 7 D कूडपत्तो ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुल्लहिमवंतरुंदे णइरुंधस्सोधिदूण[1] अद्धकदी ।
दक्खिणभागे पव्वदउवरिम्मि हवेदि णइदीहं ॥२११॥

पंचसयातेवीसं अट्ठहिदा ऊणतीसभागा या ।
दक्खिणदो आगच्छिय गंगागिरिजिब्भियं पत्ता ॥२१२॥

५२३ । २९ ।
१९

हिमवंतयंतमणिमयवरकूडमुहम्मि वसहरूवंमि ।
पविसिय णिवलइ दारा दसजोयणवित्थरा य ससिधवला ॥२१३॥

वज्जोयणेक्ककोसा पणालियाए हुवेदि विक्खंभा ।
आयामा बेकोसा [2]तेत्तियमेत्तं च बहलत्तं ॥२१४॥

६ । को १ । को २ । को २ ।

सिंगमुहकण्णजिहालोयणभूदाओणहिगासरिसो ।
वसहो त्ति तेण भण्णइ रयणामरजीहिया तत्थ ॥२१५॥

पणुवीस जोयणाणि हिमवंते तत्थ अंतरेदूण ।
दसजोयणवित्थारे गंगाकूडम्मि णिवसदे गंगा ॥२१६॥[3]

पणुवीसजोयणाइं दारापमुहंमि होदि विक्खंभा ।
सव्वाणिकत्ताए य एवं णियमा परूवेदि ॥२१७॥

२५ ।

पाठान्तरम्—

जोयणसट्ठीरुंदं समवट्टं अत्थि तत्थ वरकुंडं ।
दसजोयणउच्छेदं मणिमयसोवाणसोहिल्लं ॥२१८॥

६० । १० ।

बासट्ठिजोयणाइं दो कोसा होदि कुंडवित्थारो ।
संगोयणिकत्तारो एवं णियमा णिरूवेदि ॥२१९॥

६२ । को २ ।

पाठान्तरम्—

चउतोरणवेदिजुदो सो कुंडो तत्थ होदि बहुमज्झे ।
दीवा रयणविचित्ता चउतोरणवेदिया हि कयसोहा ॥२२०॥

1 D ण्हाधिदूण ; 2 AB तत्तियं; 3 AB repeat this verse.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसजोयणउच्छेहो सो जलमज्झम्मि अट्ठवित्थारो ।
जलउवरिं दो कोसो तंमज्झे होदि वज्जमयसेलो ॥२२१॥
१० । कोस २ ।

मूले मज्झे उवरिं चउदुगएक्का कमेण वित्थिण्णा ।
दसजोयणउच्छेहो चउतोरणवेदियाहि कयसोहा ॥२२२॥
तप्पव्वदस्स उवरिं बहुमज्झे होदि दिव्वपासादो ।
वररयणकंचणमओ गंगाकूडं ति णामेण ॥२२३॥
चउतोरणेहिं जुत्तो वरवेदीपरिमदो[1] विचित्तयरो ।
बहुविहजत्तसहस्सो सो पासादो णिरूवमाणो ॥२२४॥
मूले मज्झे उवरिं तिदुमेक्कसहस्सदंडवित्थारा ।
दोण्णिसहस्सोत्तुंगो सो दीसदि कूडसंकासो ॥२२५॥
३००० । २००० । १००० । २००० ।
तस्सब्भंतररुंदो पण्णासब्भहियसत्तसयदंडा ।
चालीसचाववासं असीदिउदयं च तद्दारं ॥२२६॥
७५० । ४० । ८० ।

मणितोरणरमणिज्जं वरवज्जकवाडजुगलसोहिल्लं ।
णाणाविहरयणपहाणिच्चुज्जोयं विराजदे दारं ॥२२७॥
वरवेदीपरिखित्ते चउगोउरमंदिरम्मि पासादे ।
रम्मुज्जाणे तस्सिं गंगादेवी सयं वसइ ॥२२८॥
भवणोवरि[2] कुंडम्मि य जिणिंदपडिमादि सासदद्दीउ ।
चेट्ठंति किरणमंडलउज्जोइदसयलदिसओ ॥२२९॥
आदिजिणप्पडिमाओ तोओजडमउडपासेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिंमि गंगा अभिसित्तू[3]मणप्पसा पडदि ॥२३०॥
पुव्विदपंकजपीडाकमलोदरसरिसवण्णवरदेहा ।
पढमजिणप्पडिमाओ भरंति जे ताण देंति णिव्वाणं ॥२३१॥
कुंडस्स दक्खिणेणं तोरणदारेण णिग्गदा गंगा ।
भूमिविभागे वक्का होदूण गदा य रजदगिरिं ॥२३२॥
[4]रम्मायाए गंगा संकुलिदूणं पि दूरदो पत्ता ।
विजयड्ढगिरिगुहाए परिसदि भेदाभिलेभुजंगिद्धं (?) ॥२३३॥

1 D परमदो; 2 AB भवणोवर; 3 ABS अभिसत्तू; 4 D रम्माआए ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VI JUNE, 1940. No. I.

Edited by

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., LL.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A., D. Litt.
Babu KAMTA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSHANA

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription:
INLAND Rs. 4. FOREIGN Rs. 4-8. SINGLE COPY Rs. 1-4

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CONTENTS.

PAGES.

JAINA LITERATURE IN TAMIL. By Prof A Chakravarti, M.A. I E.S. ... ... 1—8

ASOKA AND JAINISM. By Kamta Prasad Jain, M.R.A S. ... 9—16

PRESIDENTIAL ADDRESS. By Prof. J. C. Jaina, M.A. ... 17—24

BAHUBALI GOMMATESVARA. By K. P. Mitra, M.A, B.L. ... 25—34

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

Vol. VI. No. 1 | ARRAH (INDIA) | June 1940.

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof A. Chakravarti, M.A, I.E.S.

Continued from Vol. V, No. III, page 74.

The scene of the story is laid in Rājapura in Ouḍaya Deśa, in Bhārata Khaṇḍa. Māridatta is the name of the king. There is a Kāli temple in the city dedicated to Caṇḍa Māri Dēvī. It was the time of a great festival for this Caṇḍa Māri Dēvī. For the purpose of sacrificing, there were gathered in the temple precincts, pairs of birds and animals, male and female, such as fowls, peacocks, birds, goats, buffaloes and so on. These were brought by the people of the town as their offerings to the Devī. The king Māridatta, to be consistent with the status and position of Rāja, wanted to offer as sacrifice not merely the ordinary beasts or birds but a pair of human beings as well. So he instructed his officer to fetch a pair of human beings, a male and a female, to be offered as sacrifice to the Kālī. The officer accordingly went about in search of human victims. Just about that time a Jaina Saṅgha consisting of 500 ascetics presided over by Sudattācārya came and settled at the park in the outskirts of the city. In this Saṅgha there were two youths Abhayaruci and Abhayamti, brother and sister. These two young apprentices, since they were not accustomed to rigorous discipline

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

characterstic of the grown up monks in the Saṅgha, were very much fatigued on account of the long travel and were permitted by the head of the Saṅgha to enter the town for obtaining the alms for themselves. The officer of the king, who went about in search of human victims, was very glad to capture these two beautiful youths and marched them to the Kālī temple and informed the king of his capture. The king Māridatta gladly went to the Kālī temple with the object of offering his sacrifice with these beautiful youths. The people assembled there asked these two beautiful youths to pray to Kālī that, as a result of this great sacrifice, blessings must be showered on the king and the land. The two ascetics smiled at this request; and they themselves blessed the king that he might be weaned from this cruel form of worship, so that he might have the pleasure of accepting the noble Ahiṁsā Dharma which would lead him to a safe spiritual haven. When they pronounced this with a smile on their beautiful faces, the king was nonplussed for he could not understand how two such young and beautiful persons, in the face of death, could have such peace of mind as to laugh at the whole game as if it were none of their own concern. Therefore the king wanted to know the reason why they laughed at such a grave moment and expressed a desire to know who they were, and why they came to the city, and so on. The sword drawn for sacrifice was sheathed again, and the king was in a mood to know the reason of the queer behaviour of the two youths. As desired by the king the brother Abhayaruci began to answer. "The reason why we laughed, without being in fright, was the result of knowledge that everything that happens to an individual is but the fruit of his previous Karma. Fear to escape the fruits of one's own Karma is but the result of ignorance. Hence we were not afraid of our own fate which is the consequence of our own previous action. We have to laugh simply because the whole scene here is steeped in so much ignorance. As a result of our own conduct that we sacrificed a fowl made of rice flour, we had to suffer and endure for seven births successively taking the form of lower animals and suffering all sorts of pain. Only in this period, we have the good fortune to regain our human form. We know very well that all

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

suffering was the result of our silly desire to offer sacrifice to still, though the actual victim of sacrifice was merely an imitation and made of flour. After realising this, when your people asked us to pray to Caṇḍa Māri Devī for the propsperity and welfare of yourself and your kingdom as a result of sacrifice of several animals and birds together with human beings, we could not but laugh at the simplicity and ignorance of people here."

When the king heard this, he gave up the idea of sacrifice and wanted to know more about the life of the two victims who exhibited such magnificent peace of mind even in the very jaws of death. Thus ends the first section.

In the second section is narrated the story of these two youths and how they brought upon themselves all the troubles on account of sacrificing a mock fowl. The scene is laid in Ujjain, the capital of Avanti of Mālavadēśa. The ruler of the country was one Aśōka. His queen was Candramatī. Yaśōdhara was their son. It is this prince Yaśōdhara that is the hero of this story. This Yaśōdhara married a beautiful princess by the name of Amṛtamati. This beautiful queen gave birth to a son Yaśōmati. The old king Aśōka abdicated the kingdom in favour of his son Yaśōdhara and instructed him to observe the principles of righteous rule according to Rājanīti. He instructed his son how he should safeguard Dharma, Artha and Kāma, the three Puruṣārthas. He should maintain religion and religious worship at a high level of purity based upon Ahiṁsā doctrine. Having given all this advice and establishing his son as the king of the land, the old king adopted the life of an ascetic and spent his time in an Āśrama. While king Yaśōdhara and queen Amṛtamati were living happily, one early morning the queen heard the the sweet music of the elephant-keeper singing in Mala-pañcama-rāga. The queen was attracted by the music and sent her attendant Guṇavatī to procure the person who was responsible for such sweet music. This information created a surprise in that attendant who advised the queen to remember her status and prestige; but as she insisted on having the person with whom she fell in love, the attendant had to bring the keeper of the elephant

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

who was a detestable leper. Even in spite of this deformity, the foolish queen entered into an intimacy with that wretch. The king was at first ignorant of the whole affair. But soon the king came to know of this disgusting behaviour of the queen. Noticing the peculiar estrangement in her behaviour, he himself grew weary of worldly riches and was trying to discard the kingly pleasures and renounce the world. Just then he had an ominous dream in which the moon from the high skies was observed to fall down towards the earth losing all her light and glory. The king feared that this was symbolic of some calamity and wanted to know how to avoid the evil foretold in this dream. The queen-mother was consulted by the king who was advised to offer some animal sacrifice to Kāli for the purpose of warding off such a calamity. The king, because he was a faithful follower of Ahiṁsā Dharma, could not reconcile himself to animal sacrifice. Hence the king and his queen-mother both arrived at a compromise according to which the king had to offer a fowl made of rice-flour as a sacrifice to the Kāli. So the mock fowl was offered as a sacrifice to Kāli Thus troubles began. In the meanwhile, the queen knowing that her conduct was discovered by the king and the queen-mother, hated them both and finally succeeded in killing them by poisoning them Thus, after disposing off the king and his mother, this wicked queen Amṛtamati made her own son Yaśomati king of Āvantidēśa. After the death of Yaśodhara and his queen mother Candramati as a result of the sin of the sacrificing to Kāli, they were born as lower animals for seven births in succession.

The third section is the description of the various Janmas taken by king Yaśodhara and his mother as lower animals and birds, and the grief and suffering that they had to undergo.

In the fourth section the narrative of the new king Yaśomati is given and also the story of Abhayaruci and Abhayamati who were in their previous births Yaśodhara and his queen mother Candramati. Finally, when Māridatta learnt the whole story, he desired to know more about this noble Truth Ahiṁsā; and he was taken to the Guru who was camping in the Udāyna in the outskirts

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of the city where the king had the initiation into the noble faith of Ahiṁsā. Thereafter, he not only gave up the offering of animal sacrifice to Kālī himself, but also proclaimed to his people that such a sacrifice should not be offered any longer. Thus he elevated the religion and temple worship to a higher and nobler level all over his land. This is the story of the Yaśodhara Kāvya in Tamil about whose author we know nothing The story is found even in Sanskrit literature. There is a Sanskrit Yaśodhara Kāvya dealing with the same story. But it is not clearly known which is earlier, the Tamil or the Sanskrit one.

This Tamil Yaśōdhara Kāvya was first published by late T. Venkaṭarāma Iyengar an esteemed friend of the present writer. Unfortunately the edition is out of print and hence not available to readers at present.

(2) Cūḷāmaṇi.—It is composed by the Jaina author poet Tolāmoḷittēvar. He was evidently under the patronage of the chief Vijaya of Kārvetnagar. The editor of this work, Damodaram Piḷḷai, is of opinion that it must be earlier than some of the Major Kāvyas. His conclusion is based upon the fact that several stanzas from Cūḷāmaṇi are quoted by Amṛtasāgara, the author of Yāpparuṅgala-kārikai. Cūḷamaṇi is based upon a Purānic story contained in Mahāpurāṇa by Jinasena. The hero of the story is one Tiviṭṭan one of the nine Vāsudevas according to the Jaina tradition of whom, Kṛṣṇa of Bhārata fame, is one. Cūḷāmaṇi resembles Cintāmaṇi in poetic excellence It contains 12 sargas and 2131 stanzas on the whole. The story runs as follows. Prajāpati, King of Suramaidēśa, whose capital was Pōtanapura had two principal queens Mṛgapati and Jayavati. Tiviṭṭan, the hero, was the son of Mahādevī Mṛgapati, Vijaya the son of Jayavati and this was the elder of the two. Vijaya and Tiviṭṭan were exactly corresponding to Balarāma and Kriṣṇa, the former fair, and the latter dark in complexion. A soothsayer told the king Prajāpati that his son Tiviṭṭan would marry a Vidyādhara princess very shortly The Vidyādhara king of Rādā-nūpura had a daughter by name Svayamprabhā who was very beautiful. This Vidyādhara king also had a prediction made by a

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

soothsayer that his daughter Svayamprabhā would marry a Kṣatriya prince of Pōtanapura. The Vidyādhara Monarch sent one of his ministers with a letter to king Prajāpati offering his daughter in marriage to Tiviṭṭan. King Prajāpati of Potanapura, though surprised at first at this offer from the Vidyādhara king, consented to the marriage. In the meanwhile, the matter was known to the Vidyādhara emperor Aśvagrīva to whom both king Prajāpati and the father of Svayamprabhā were subordinates Aśvagrīva, the Vidyādhara emperor, demanded from the father of Tiviṭṭan the usual tribute. King Prajāpati fearing the wrath of the Vidyādhara emperor ordered the tribute to be paid immediately. But his son Tiviṭṭan would not permit this He denied allegiance to the Vidyādhara emperor and sent the messenger back saying " No tribute will be paid hereafter." One of the Vidyādhara ministers attached to Aśvagrīva's court, wanted to kill this foolhardy Kṣatriya youth Tiviṭṭan by a stratagem He assumed the form of a lion and destroyed the cattle of the land Suraṃai belonging to the king Prajāpati. The sons of Prajāpati, Tiviṭṭan and Vijaya, set out to slay the lion. The lion which is the assumed form of the Vidyādhara minister cleverly decoyed Tiviṭṭan into a cave. Tiviṭṭan pursued the lion into the cave. There was a real lion which devoured the Māyā lion and wanted to have Tiviṭṭan also Tiviṭṭan was not to be frightened by this The Vidyādhara lion having disappeared into the mouth of the real lion of the cave, he caught hold of the head of the real lion and killed it easily. This killing of the lion was a part of the prediction given by the sooth-sayer to the king of Rādānūpura, the father of Svayamprabhā, who was to be given in marriage to Tiviṭṭan Therefore the king of Rādānūpura set out with his daughter Svayamprabhā for Pōdanapura where the Vidyādhara princess was given in marriage to the gallant Tiviṭṭan. Vidyādhara emperor Aśvagrīva, boiling with wrath, because of the treatment meted out to his messenger by his subject's son Tiviṭṭan, had now his anger aggravated because of the marriage with a Vidyādhara princess. He could not brook the idea of an ordinary Kṣatriya prince, and that too the son of his own subordinate, marrying a Vidyādhara princess of his own noble race. He marched with his

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

mighty force against Tiviṭṭan. A war ensued. Tiviṭṭan being a Vāsudeva, was in possession of divine magic powers, and with his Cakra made a clean sweep of the Vidyādhara army and finally slew the Vidyādhara emperor Aśvagrīva himself. The result of this victory made Tiviṭṭan's father-in-law suzerain lord for the whole of Vidyādhara land. Tiviṭṭan himself inherited his father's domain and lived happily with his Vidyādhara bride Svayamprabhā together with his several thousand other spouses. He had a son by his Vidyādhara bride Svayamprabhā named Amṛtasena. He gave his sister in marriage to his brother-in-law Arkakīrti and by his sister a daughter was born called Sudārai and also a son. Tiviṭṭan had another daughter by name Jōtimālai for whose marriage he proclaimed a Svayaṁvara. This daughter chose as her husband her maternal uncle, Arkakīrti, whereas the Vidyādhara princess chose his own son Amṛtasena. Thus by these two marriages the alliance between Pōdanapura dynasty and the Vidyādhara dynasty was further strengthened. Thus, when the two countries were living in happiness and the people were enjoying prosperity, the old king Prajāpati renounced the kingdom in favour of his son and passed the remainder of his life in Yōga and meditation. But as a result of this Jinadīkṣā and spiritual penance king Prajāpati escaped from Saṁsāra and attained Mukti. Thus ends the story of Cuḷāmaṇi, a very important work included in the category of the five minor kāvyas.

(3) Neelakēśi.—This is also one of the five minor kāvyas which is evidently by a Jaina philosopher poet about whom we know nothing. It is a controversial work dealing with the system of Indian philosophy and it has an excellent commentary called Samaya Divākara by one Vāmana Muni. This Vāmana Muni is the same as the author of another classic called Mērumandirapurāṇam. Neelakēśi appears to be a refutation of the Buddhistic work called Kuṇḍalakēśi which is unfortunately lost now. This Kuṇḍalakēśi was included under the category of the five Mahākāvyas. Though the Tamil classic of this name is lost to the world, the story of Kuṇḍalakēśi as found in the Buddhistic work is given below for the simple reason that the related story of Neelakēśi is modelled after Kuṇḍalakēśi

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and is intended to be a refutation of Kuṇḍalakēśi's philosophy. The story of Kuṇḍalakēśi is as follows taken from "The Buddhist Legends" (H. O. S.)

A rich merchant of Rājagṛha, it seems, had an only daughter who was about sixteen years of age, and she was exceedingly beautiful and fair to see. When women reach this age, they burn and long for men. Her mother and father lodged her on the topmost floor of a seven-storied palace in an apartment of royal splendour, and gave her only a single slave-woman to wait upon her.

Now one day a young man of station was caught in the act of robbery. They bound his hands behind his back and led him to the place of execution, scourging him with lashes at every cross-road. The merchant's daughter heard the shouts of the crowd, said to herself, "What is that?", looked down from the top of the palace, and saw him.

Straightaway she fell in love with him. So great, in fact, was her longing for him that she took to her bed and refused to eat. Her mother asked her, 'What does this mean, my dear daughter.' 'If I can have that young man who was caught in the act of committing robbery and who was led through the streets, life will be worth living; otherwise I shall die here and now.' 'Do not act in this manner, my dear daughter; you shall have someone else for your husband, someone who is our equal in birth and family and wealth.' 'I will have no one else; if I cannot have this man, I shall die."

The mother, unable to pacify her daughter, told the father, but the father likewise was unable to pacify his daughter. 'What is to be done?', thought he. He sent a thousand pieces of money to the king's officer who had captured the robber and who was accompanying him to the place of execution, saying, 'Take the money and send the robber to me.' 'Very well' said the king's officer. He took the money and released the robber, had another man put to death, and sent word to the king, 'The robber has been executed, Your Majesty.'

Contd.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.

Continued from Vol. V. No. III, page 88.

Thus we may conclude that the monuments of Asoka and their symbols betray the influence of Jainism on Asoka; and as he closely followed and copied Jaina ideas in his buildings, it may be regarded that he actually had the knowledge of Jainism and most probably professed it.

Technical terms of Jainism in Asokan Edicts.

It seems that Asoka, also, used the language of the Jainas in composing his edicts; as is evident from the opinions of various scholars.[78] Yet not only the language but many a technical term of Jainism with their very sense and meaning has been also used by him. We may point some of them herein below:—

1. *Śrāvaka* (श्रावक) or *Upāsaka* (उपासक) words are used in the 1st minor Rock Edit of Rûpnāth and also in those of Vairāṭ and Sahasrāma. In Jainism these words are reserved to indicate a layman;[79]

2. *Prāṇa* (प्राण) Aśoka used the term (प्राण) in his Brahmagir (2nd minor) edict (हेमेत्र गुरुत्वं प्राणेषु द्रोग्धव्यम्) while he exhorted the people to honour the *prāṇas* (of the living beings). Jainism characterises and classifies the mundane souls according to the *prāṇas* they possess and the injury *hiṁsā* (हिंसा) of living beings

---

78. E. Senart, Les Inscriptions de Piyadasi, pp. 505—513 & A. Weber, Uberein Fragment der Bhagwati Sect. I &c.

79. In the following verse the word श्रावक is used to describe the Dharma of a layman :—

'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ।'—अष्टपाहुड P. 99.

Likewise the word " उपासक " is used for a layman in the उपासकदशासूत्र and other texts.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

also depends on hurting these *prānas.*[80] Which are ten in
as are named in the following verse :—

'पंचवि इन्दिय पाणा मणवचिकाया य तिण्णि बल पाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दस पाणा ॥५७॥'

Such use of the word *prāṇa* is not perhaps traceable elsewh

3. *Jîva* (जीव)—We find this word in the first Girnar Rock E and it is the very first *Tattva* of Jainism,[81] Jain king Khārv while observing penances on the Kumarihill discerned the differe of Jîva and Ajîva.[82]

4. Śramaṇa श्रमण—The word Śramaṇa is traceable in the th and many other Rock Edicts. Jainism and Jaina ascetics a styled as Śramaṇa-Dharma and Śramaṇa.[83]

5. *Pāṇā-Anālaṃbha* (पाणाअनालंभ) term is found in the th Rock Edict. In Jaina texts it can be traced profusely.[84]

6. *Kalpa* (कल्प) term is used in the fifth Rock Edict to den a certain period. While calculating time Jainās also use the ter Kalpakāla.[85]

80. Outlines of Jainism, p. 82.
"पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हु जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण वलमिंदियमाऊ उस्सासो ॥३०॥" —पंचास्तिकाय
81. Tattwarthadhigama-Sutra (S. B. J.) p. 6.
82. J.B.R.O.S., Vol. XIII pp. 234—235.
83. " 'He who teaches the great vows (of monks) and the small vows (of the laity) the five *āśravas* and the stoppage of *āśravas* a control, who avoids Karman in this blessed life of śramaṇas him I cal śramaṇa."

Sutrā Kratanga, 2.6

'Kalpa-Sutra' p. 83.
'समणोत्ति संजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति ।
णामाणि सुविहि दाणं अणगार भदंत दंतोत्ति ॥८८६॥' —मूलाचार ।
'समयाए समणो होइ' -
'से णं लेवे नामं गाहावई समणोवासए यावि होत्था ।' —सूयगडांग
84. In "Mûlāchāra," 41 it is found in an affirmative sense.
"'सव्वं पाणारंभं पचक्खामि अलीयवयणं च ।
सव्वमदत्तादाणे मेहूण परिग्गहं चेव ॥४२॥"
85. Vrahad—Jaina—Śabdāravṇa, pt. II p. 415.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. *Ekadeśa* एकदेश—Aśoka mentions this term in his 7th Rock lict to denote the partiality of Dharma. In a similar sense and aning this term is used in Jainism.[86]

8. *Sambodhi* (संबोधि)—This Term is used in the 8th Rock lict; which is also traceable in Jainism.[87]

9. *Vachnagupti* (वचनगुप्ति) : Asoka used the term वचिगुत्ति in 12th Rock Edict, while exhorting the people to honour other cts and do not belittle them without cause.[88] In Jainism only we d three kinds of *guptis* (1) *Managupti* (2) Vachanagupti (3) and āyagupti and every Jain Śramaṇa is required to observe them lly well.[89] Aśoka is anxious of unity among various sects and so advises the people to regulate their speech and if they had an casion to criticise the other sect they should do so with great re. Indeed Asoka's this injunction is quite in agreement with e Jain teaching.[90]

86. 'निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तो भवति यतिः समयसारभूतोऽयं ।
यात्येकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥' —पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

87. सेयं भवभय महणी बोधी गुणवित्थडामगे लद्धा ।'—मूलाचार ।
'पयलिय माणकसाओ, पयलियमिच्छत्त मोहसमचित्तो ।
पावइ तिहुवणसारं बोही, जिणसासणे जीवो ॥७८॥'—मूलाचार ।

88. Mookerjee, Asoka p. 158 ff.

89. Outlines of Jainism, p. 97—Sarvartha-Siddhi—Tika of Tattvartha-higama—Sutra, Ch IX, sl. 4..

90. Cf. "Sramanas and Brahamanas blame one another when they teach eir doctrines). But we (Nirgranthas) blame only (the wrong) doctrines d not at all (those who entertain them)."—Sûtra—Kratāng, 2-6 12 S.B.E. XLV. 414).

In the Jaina Purāṇas we meet with such instances where Jaina śramaṇas dergo prāyaśchitta प्रायश्चित्त for not properly observing the Vachanagupti चनगुप्ति and offending other sects; e g., Muni Viṣṇu Kumāra-Carita, in which Śramaṇa Śrutakîrti is made to undergo prāyaśchitta प्रायश्चित्त for using harsh nguage against a Brahmaṇa antagonist,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

10. *Vedanîya* (वेदनीय,—This term is used in the 13th Ro[ck] Edict in the meaning of pain. In Jainism, too, it is used in th[e] very sense and is one of the eight Karmas.[91]

11. *Dhamma-Mangala*—(धम्म-मंगल). It is referred to in the 9[th] Rock Edict and in Jainism, too, it has the same significance a[nd] use.[92]

12. *Dāna and Pûjā* (दान व पूजा)—Asoka used this phrase in h[is] 12th Rock Edict (G), while he expressed his catholicity in honouri[ng] all the sects. The Dharma of a lay man in Jainism is described [by] this very phrase.[93]

13. *Dharma-Vijay* (धर्म-विजय)—Asoka mentions this word in hi[s] 13th Rock Edict. Jaina kings like Samprati, Śāliśuka and Khārave[la] too made such Dharmavijayas in their own capacity and fashio[n] respectively.[94]

14. *Chaturmāsi-Posaha* (चातुर्मासि पोसह) in R. E. 2. It seem[s] that 8th (अष्टमी) and 14th (चतुर्दशी) of each fortnight in every mont[h] are more sacred to Jainas than other sects. Among the Jaina[s] the last eight days of all the three seasons, styled as ashṭānhik[a] (अष्टाह्निका) are counted very sacred and are called as कार्तिक चातुर्मास[ा], फाल्गुण चौमासा and अषाढ़ चौमासा[95]. During these days all kind of *Hinsā* is prohibited. It seems that Asoka refers to this very पोस[ह] in his above phrase.

91. Tattwārtha-Sûtra (SBJ), p. 160.

92. "चत्तारि मंगलं, अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मोमंगलं।

—नित्यपूजा

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो।" दश०, अ० १ गा० १

93. "दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो, ण सावगो तेण विणा।"

—कुंदकुंदाचार्यः।

94. JBORS., Vol. III p. 453 ff. and Vol. XVI. p. 24 ff.

95. The "Jaina" Silver Jubilee Number, Bhavanagar, p. 78.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

15. *Pākhaṇḍa* (पाखंड) is used by Asoka in R. E. 13. In Jainism this word is found,[96] while it is absent in Buddhism.[97]

16. *Samacariyaṃ* (समचरियं) is also to be found in Rock Edict 13 as in Jainism[98].

17. *Kalyāna* (कल्याण) This word is also traceable in the 13th R. E. and it finds place in Jaina texts[99].

18. *Apāsinave* (अपासिनवे) term is used in the 2nd pillar edict and it is also found in Jaina texts.[100]

19. *Dvipada-catuṣpadeṣu-pakṣivāricareṣu*—(द्विपद चतुष्पदेषु पक्षिवारि-चरेषु)—This phrase is also found in the 2nd P. E. and by it are denoted those animals which received protection from Asoka. In Jainism too, the animals are classified in three kinds, which are similar to that mentioned in the phrase.[101]

---

96. *Ibid*, p. 77.

97. "It (पाखंड) is not found in Buddhism."—Wilson (JRAS., XII. p. 236).

98. 'जं छेयं तंसमायरे ।'—'समो अ सव्वभूएसु; तसेसु थावरेसु य ।'—समवाए समणो-होइ ।'

Asoka used the word Samāvāya 'समावाय' in the 12th R. E.

99 'कल्लाण पावगाओ पावगाओ पोओ विचिणोदि जिणमदुमुविच्च ।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहेय ॥४००॥ 'मूलाचार'
'सोच्चा जाणई कल्लाणं, सोच्चा जाणह पावगं ।
उभयं पि जाणइ सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥' —दशवैकालिक अ० ४ गा० १०

100. In Tattvārthadhigam—Sûtra (S. B. J, series, p. 124) *Āsrava* is described twofold—good and bad. Apāsrava is bad Āsrava.

101. Prasna-Vyākarṇa Sûtra (Hyderabad ed: p. 7.)
"भगवंचणं ......धम्ममाइक्खइ..... तेसिं सव्वेसिं... ..
दुप्पय-चउप्पय-मिय-पसु-पक्खि सरीसिवाणं .....।"
—समवायाङ्ग,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

20. *Jîva-nikāya* (जीवनिकाय) – For it see 5th P. E. and this term is traceable in this very form in the Jaina texts [102]

21. *Proṣadha* (प्रोषध)—For this term also the 5th P. E. may be referred to. In Jainism this term has a great importance, since one of the vows of layman is also styled as Prōshadhōpaivsā (प्रोषधोपवास[103].)

22. *Dharma-vriddhi* (धर्मवृद्धि) term is used in 8th P. E. Jaina ascetics use this term at large even to this day and the Jainas are always alert for the sacred cause of dharma-vridhi (धर्मवृद्धि.) We find Kṣapaṇaka (Jaina monk Jîvasiddhi using this term in the "Mudrā-Rākṣasa-Nāṭaka.)" [104]

23. *Pchûpagamana* (पचूपगमन) is used in 6th P. E. It is synonymous to Jaina Pratikramāṇa (प्रतिक्रमण) which has a special place in Jainism [105]

24. *Devānāmpriya* (देवानां प्रियः) and *Priyadarśana* (प्रियदर्शन) Both the terms are used in the 7th P. E. and also in others. The Jaina narrative accounts abound with these terms. [106]

25. *Āsinava* (आसिनव)—It is mentioned with the word *Pāpa* in the III P. E. This distinction of *āsrava* and *Pāpa* is clear in Jainism and the five *āsavas* named by Asoka also find place

102. 'ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादादेकेंद्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा, इत्यादि ।'
—प्रतिक्रमणपाठ ।

103. "चतुराहारविसर्ज्जनमुपवासः प्रोषधः सकृदभुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासः यदुपोष्यारम्भमाचरति ॥१९॥४॥"
—रत्नकरण्डकम् ।

See also Kalpasûtra (S.B.E.) pt. I and Uvāsagadasāo

104. Hindu Dramatic Works, p. 89 & Pravachanasāra (Bombay 1935), Intro

105. Mulāchāra, p. 11. ;

'Pratikramaṇa, self-analysis and repentance for faults.'—Tattvārthādhigama-Sûtra, p. 184.

106. Kalpasûtra p. 54 & 126-30.—"This same term of Devānāmaprya or beloved of the Gods should prove to have been an established and conventional title among the Jains" JRAS-IX-206,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

in the *āsava* of Jainas. In Buddhism it is not traceable in this sense.[107]

26. *Bhûta* and *Prāṇa* (भूतप्राण) 13th R. E. " Asoka does contrast," says Dr. Bhandarkara " from *prāṇa* when he enumerates his ethical practices, as in *anārambho paṇānaṃ, avihisa bhūtānam.* Buddhists no where distinguishes between *prāṇa* and *bhūta*, whereas Jaina scriptures does not only distinguish them one from the other but also both from Jîva and Sattā.[108]' Thus it is clear that Asoka used the terms *bhūta* and *prāna* in the sense of Jainas. We come across the phrase *pāṇa-bhūya-jiva-satta* in Jaina Scriptures and though Asoka did not use them together,[109] but he had mentioned all the four in his edicts.[110]

The above-mentioned technical terms of Jainism used by Aśoka also signify his belief in that religion.

Teachings of Asoka.

Asoka was convinced like a Jaina that " the best work is instruction in Dharma," (R. E. 4. G.) and he considered it to be a duty of a king (R. E. 6, I). Accordingly he proclaimed that " no other duty is more important than promoting the welfare of all men," (R. E. 6) and he set himself heart and soul to fulfill his this duty. Concerning this he speaks that " I shall issue proclamations of Dharma and shall order instruction in Dharma to be given Hearing this men will conform to it, will be elevated and will be made to progress considerably by the promotion of Dharma " (P. E. 7 Asoka's this decesion too is in conformity with the Jaina idea on the point, for, it is said in the Jaina scriptures that it is very difficult

107. Bhandarakar, Asoka pp. 126—127 and Mookerjee Asoka, p. 71.
108. Bhandarakar, *loc Cited* p. 130.
109. "पाणा-भूया-जीवा-सत्ता ।"

—Ācārānga Sutta (S. B. E.) XXII p. 26 ;

"पाण-भूय-जीव-सत्ता ।"

—प्रतिक्रमणपाठ ।

110. In Jain scriptures they are used separately.

"जो समो सव्वभूदेसु तसे थावरेसु य ।
जस्स रागो य दोसो य वियऊंण जणेंतिदू ॥५२६॥

—मूलाचार पृ० २०४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for men to hear Dharma and perchance they hear it, they come to know the Right Path of Soul's elevation and progress in Dharma.[111] Asoka is not anxious only for the worldly welfare of his subjects, he is rather more anxious for the good of their souls in the next world; which also, is but a true spirit of Jainism. For the benefit of soul of an individual in the next world Asoka issued the following injunctions and in these also we witness Jaina influence, as we shall see below: -

1. *Animals must not be killed.*—By this prohibition Asoka preaches the most important teaching of Jainism in the shape of Ahimsa and regards it as one of his main precepts similarly to Jainism, (P. E. 7). Asoka stopped killing of animals for sacrifices and even for food Asoka's this special regard for the sanctity of and non-injury to all living beings is akin to Jain spirit of Ahimsā [112]

2. *Superstitious ceremonies condemned*—(R.E. 9B) Asoka's condemnation of superstitious ceremonies on the occasions of marriages and child-birth etc., as offensive and useless and recommendation in their place of the practice of Dharma is just the same what Jainism preaches. *Mithyātva* (superstition) is wholly condemned in Jainism[113] and *Dharma* is called there also as best *Mangalka.*[114]

To be continued.

111. माणुस्सं विग्गहं लध्धु सुई धमस्स दुल्लहां ।
जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिम संसयं ॥८॥३॥ 'उत्तराध्ययन सूत्र'

112. It is only Jainism that wholly condemns hurting of animals; while killing of animals for food by laymen is justified in Buddhism.

113. Ratnakarandakam, 1, 22—23, etc.
"आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥१॥२२॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः ।
देवता यदुपासीत देवतामूढ़मूच्यते ॥१॥२३॥ इत्यादि"—रत्नकरंडकम् ।

114. aśavai kālikasūtra, 1, 1; Nityamahayajna kalpa.
"धम्मो मंगज़ मुक्किट्ठं, अहिंसा संयमो तवो ।
देवा वि तं नमंस्संति जस्स धम्मे सया मणे ॥"—दशवैकोलिक सूत्र अ०१गा०१
"चत्तारि मंगलं—अरहंत मंगलं, सिद्ध मंगलं, साहू मंगलं, केवलिपरणात्तो धम्मो मंगलं ।"
—नित्यमह यज्ञकल्प,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PRESIDENTIAL ADDRESS.*

BY

Prof. J. C. Jaina, M A.

In this highly intellectual world of to-day, very often the validity of religion is questioned. The younger generation is less interested and less inclined towards religion. People say, it is for the sake of religious fanciful ideas that the Catholics and Protestants fought, Orthodox Hindus maltreated Harijans and prohibited them from entering the temple of their God, and in India even now there are communal riots and bloodshed among the Hindus and the Muslims every year. They abuse religion by saying that it is like opium, and it should never be prescribed for the welfare of the masses.

Really outwardly religion may seem as the main root of all disturbances, but it should never be forgotton that the defect lies in the misinterpretation of religious doctrines and not in the religion itself. For instance, science is being misapplied for the destruction of humanity, but we cannot fairly abuse science or scientific knowledge.

Religion is defined by Yogindu, a Jain thinker, thus :—

धम्मु ण पढियइँ होइ धम्मु ण पोत्था पिच्छियइँ ।
धम्मु ण मढियपएसि धम्मु ण मत्थालुंचियइँ ॥
राय रोस बे परिहरिवि जो अप्पाणि वसेइ ।
सो धम्मो वि जिण-उत्तियउ जा पंचम-गइ णेई ॥

i.e., reading is not religion, books and the broom of peacockfeathers do not constitute religion, to live in a monastery is not religion and pulling out of hair is not religion, but by giving up pleasure and displeasure to live in one's own self is called Religion.

---

* It was delivered at the Jainism Section of the First Convention of Religions, held under the auspices of the Indian Research Institute, Calcutta 1937.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

So religion is not any caste, creed or colour, nor is it any superstition, custom or formalism, but it is an innate experience of Reality independent of all historical religions, which distinguishes man from the animal. In the words of Prof. William James, "religion is the feelings, acts and experiences of individual man in their solitude so far as they apprehend themselves to stand in relation to whatever they may consider divine." In our actual life we feel that we are not free to act, the mighty forces of nature are dashing us down the cruel death snatches away our dearest kith and kin in the twinkling of an eye and we are left quite desolate. Religion tries to explain such riddles and it makes an attempt to unveil ourselves. Different thinkers of the world at all times, have tried to conceive the inconceivable and to utter the unutterable under different circumstances and different environments, and hence arises the diversity of religion बहूनि मम नामानि कीर्तितानि महर्षिभिः. Every system of religious thought makes an effort to find out the ways and means to remove suffering and to realise the self in its own way, under different names and under various guises. Just as every individual has his own contribution to the development of society, just as each nation has its own specific civilisation and culture, so each religion has its own share in apprehending the mystery of the Universe. As for instance, if Vedānta takes a monistic or idealistic view of life, Jainism and Sāmkhya philosophers take pluralistic or realistic view of it. Again, if to criticise the materialistic theory, the Upanishadic thinkers propounded the docrine of eternity of soul; Buddha realising that it was being misinterpreted and misunderstood in the sense of self-individuality (अहंकार) which he considered the main root cause of suffering, established his theory of "no soul" (अनात्मवाद). Undoubtedly Buddha never meant thereby self-denial. The same thing can be said with regard to other religions. Thus different religious views contain different aspects of truth. The final goal of all religions is one, *i.e.*, to know the Infinite—to achieve the greatest good for the greatest number. The difference we find in various religions is not in their essence—not in their fundamentals, but it is due to their social, political and historical conditions.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Jain religion has its own contribution to add to the social and cultural life of India. Before Mahāvīra, the twenty-fourth Tirthaṅkara of the Jains, was born, there was no organised religion in the country, different teachers preached different tenets, people used to spend much of their intellectual energy on ceremonies and sacrifices, and the rules of caste were observed very strictly. Under these and many other difficult circumstances, Mahāvīra and Buddha made revolutionary changes in the social and religious life of India. Mahāvīra refused to preach his tenets in Sanskrit, which was considered as the language of the learned, and which could be interpreted in various ways, but he preferred to speak to the masses in their own vernacular, *i.e.*, Ardhamāgdhī. Mahāvīra made no distinction of any caste or creed, and he treated all men and women equal. He said because a man is low born, we have no reason to deny him spiritual knowledge. Every soul is in possession of infinite capacity and every man and woman, leading a holy life, can attain spiritual perfection. Not only this, but it is interesting to note, that in his assembly hall (समवसरण) a compartment was allotted even to the animals. Thus Mahāvīra brushed aside the distinction of high and low, rich and poor, and superior and inferior, very boldly, and declared in plain words :—

कम्मणा बंभणो होई कम्मणा होई खत्तिओ ।
कम्मणो वइसो होई सुद्दो हवइ कम्मणा ॥

That is to say, one's own caste should be determined by one's own action and not by birth. Mahāvīra showed high respect towards women and so included them in his "Saṅgha." He boldly asked why a woman should be backward. Why should she be deprived of any knowledge? Again, Mahāvīra did not believe in God as a creator of this universe and as a revealer of the Vedas. He said that such theories had been a great hindrance in checking the progress of the human intellect and had led us to act according to the sweet will of others. So he proclaimed that man's fate lies in his own hands, and to achieve the highest end of life is possible only through our own strenuous efforts. Thus Mahāvīra laid emphasis on the theory of Karman *i.e.*, as a man has sown so shall he reap,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

we are the makers our own fate; as a man determines so he becomes.

The most important contribution of Jainism is their theory of "Anekāntavāda." It propounds many-sided view of a thing, and emphasises the relativity of truth. Amṛtchandra, a great Jain thinker, has defined Anekāntavāda thus:—

तत्र यदेव तत्तदेवातत्, यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यं इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकांतः।

In other words, the nature of things is extremely complex: we cannot affirm or deny anything absolutely. Every proposition is true only hypothetically. Every object is full of contradictions and oppositions. The plant germinates, blooms, withers and dies. Man is young, mature and old. So to understand a thing fully we should predicate the contradictions of existence and non-existence, one and many, permanence and change and so on. For instance, "let us take the antithesis of the swift and the slow. It would be nonsense to say that every movement is either swift or slow. It would be nearer the truth to say that every movement is both swift and slow; swift by comparison with what is slower than itself, slow by comparison with what is swifter than itself" 'Anekāntavāda' lays emphasis on the fact that "No judgment is true in itself and by itself. Every judgment as a piece of concrete thinking is informed, conditioned to some extent and constituted by the appercepient character of the mind." According to this doctrine, as there is truth in every idea, as there is reality in every existence, so every system of religion has some truth to offer. As long as we claim that we alone are in possession of truth, and others are groping in darkness, we can never achieve the truth, and consequently conflicts are sure to arise. A man who loves his own creed more than truth, ends by loving his own individuality better than his own sect. For instance, one may start by claiming that Hinduism is the only best religion, then he affirms Brahmanism is the only true creed, then he comes to Vaishṇavism, then to Vallabha sect, and finally he claims his own particular standpoint as the only true representation of truth. Jainism affirms that none can claim the ownership of the whole truth. As no system is wholly

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

untrue, similarly no system can be called absolutely true. Truth can be seen only by degrees and partially. So to acquire a sympathetic understanding of our own religion, we should show reverence and the spirit of toleration and trust towards all other creeds. "Anekāntavāda" in this sense, takes a most comprehensive and synthetic view of all systems of religious thought, and declares that the different views propounded by different religions are only to suit the varying conditions of life. Upadhyāya Yaśovijaya, a great scholar of Jainism, writes :—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।
तस्यानेकांतवादस्य क्व न्यूनाधिकश्युषो ।
तेन स्याद्वादमालंव्य सर्व दर्शन तुल्यतां ॥
मो क्षोदेशाविशेषेण यः पश्यति स शास्त्रवित ॥

i.e. a true follower of Anekāntavāda has a sympathetic view towards all other religions, just as a mother has to her babies. Hence one who regards all systems of religious thought with the same eye, one who takes a synthetic view of all other creeds, is called a real knower of the scriptures. Siddhasena Divākara, the famous Jain logician, has emphasised the same view-point, when he affirms that all heretical doctrines combined (मिच्छादंसण समूह) constitute the sayings of lord Jina. Ānandaghana, a Jain mystic, represented the same spirit of compromise and good-will, when he described six systems of Indian Philosophy as the different parts of God Jaina (षड्दरसण जिण अंग भणीजे). In the words of Swāmi Rāmkrishṇa, 'Anekāntavāda' declares "as the same sugar is made into various figures, so one sweet Mother Divine is worshipped in various climes and ages under various names and forms. Different creeds are but different paths to reach the Almighty. Really it was a very great truth, when Jainism said that truth is one and there are various ways of approaching it.

Jainism is as old as human knowledge. Jainism has made substantial contribution in the sphere of Art and Science of India. Jains possess a very rich and vast literature of their own. Some of their important books were translated even into the Persian

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

language. They have got their Rāmāyaṇa and Mahābhārata which possess their own specialities. There were Jain kings and ministers in ancient days; and at the court of Akbar and other Kings, Jains occupied a very important position. Buddhism has totally disappeared from the soil of India, while the Jain religion even now occupies a very important place in Indian life; this fact show that Jains one day had possessed many-sided ability to adjust themselves according to the different circumstances. Nevertheless, Jainism has its own specific beauties, and its contributions to Indian civilisation and culture are immense.

Finally I come to the present needs of the world. The greatest achievement of our age is modern science. Modern science has given us things which we never conceived of in the past, it has brightened and cleansed the human existence in so many different ways, it has provided us with railways, aeroplanes, wireless, televisions, cinemas and what not. The world has become economically a single unit and we do not hear of famine any more. The tendency of science is to dispel superstitious fears and irrational beliefs from our mind. No doubt we are better off a hundred times now than we were before. But unfortunately this is not the whole tale. To quote Bertrand Russell " science has merely increased the power of man to satisfy his desires." On the one hand there is so much over-production of goods that the producers have to destroy them to prevent a fall in prices and on the other, millions of men and women go cold and hungry for want of clothing and food. Every nation wants to sell its productions to all and wants to buy from none. Economic struggle is going on everywhere among the nations. The strong and advanced nations carry on scientific exploitation of the weaker ones by fair or foul means. Love of wealth is increasing more and more, which is cutting short the roots of modern civilisation. Self-indulgence, universal greed and utter disregard of the interests and aspirations of others are becoming the main features of our time. Under these circumsances everybody's eyes are on the next world war, which is thought inevitable. Our science is trying its best to make it most successful, most horrible and thereby helping to bring about a collapse of the civilisation of the West.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Under such circumstances, " tell us what to do " is the common cry of the people. Shall we look towards religion for assistance and work out for an international peace through religion ? According to Prof. Radhakrishnan such an ideal is possible and it seems to him as the most hopeful political instrument for world peace. To put it in his own words " The political ideal for the world is not so much a single empire with a homogeneous civilisation and a single communal will, but a brotherhood of free nations differing profoundly in life and mind, habits and institution existing side by side in peace and order, harmony and co-operation, and each contributing to the world its own unique and specific best, which is irreducible to the terms of the others."

Now, in order that religion may be a living force again, we should pursue our religious studies in a scientific way. To achieve this end, our first duty would be to encourage the comparative study of all religions. We should view different religions from different angles of vision as the different branches of the self-same tree or the broken lights of a single truth. As various rivers crossing the different ways, at the end submerge into one and the same ocean, so all religious systems of the world are spun around the same central conception of the ultimate Reality ; only they develop new ideas and new forms to suit the new enviroments and new conditions of life. This will help us to realise the striking identity of the fundamental teaching of all religions. Our study of religions should also be supplemented by science on different problems of life. In other words, our religion should be a scientific religion, which can fulfil the needs of a modern man. Peace through religion can be brought about only through the spirit of tolerance and trust and by means of starting world-wide campaign to propagate the foundamental principles of religion, the principles of non-violence at its back. So long as we think that we alone have the monopoly of truth and we alone belong to the superior race, so long as the greed for empires and wealth is there and so long as the feelings of conceit and pride are predominant, unity and peace are impossible. Peace can be achieved only through contentment and fellow-feeling.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In spite of the fact that India is a slave-country and there are many religious and communal disturbances every now and then, it may be said that Indian culture is par excellance in many respects. It has always shown the spirit of adaptability and catholicity towards others. At various times a number of invaders descended upon India but Indians were never lacking in showing them the spirit of 'give and take.' Vāśishṭha and Viśvāmitra, although belonging to the different castes, lived in the same forest and contemplated the philosophical problems in the same assembly; many Jain and Buddhistic thinkers originally belonged to the caste of the Brāhmaṇas; and Brāhmaṇas respected Ṛshabha and Buddha as their incarnation of God, so Jaina and Buddhists worshipped Rama and Krishna as their heroes; Kabīra, Dādu, Nānak and many other Hindu saints had a great reverence for both Rāma and Rahīma, and for them there was no difference between Kaba and Kailāsa and Kurāṇa and Purāṇa; Raja Ram Mohan Rai tried to modernise the people of India into the western says and considered British Rule as due to a dispensation of Providence. These evidences are enough to show that Indian culture is a harmony of various cultures and creeds, where every historical group is unique and scientific, and has its own ultimate value. Even in our own times we do have numerous inter-caste marriages. Muslims enjoy the festivals of the Hindus and so Hindus of the Muslims; many Hindus are great scholar of Arabic and Persian, and similarly there are many Muslim scholars who are very efficient in Hindi and Sanskrit. language. This shows really a very broad-minded spirit of Indian culture.

In one word, unity in diversity and diversity in unity had been the main theme of Indian culture. As a Jain and a fellow citizen of the world, I can assure you, gentleman, that Jains will be ever prepared to support the cause of world peace with all their moral strength of religion and philosophy. Surely Jain religion like other religions of the world possesses the all-embracing spirit of Catholicity, tolerance and trust, and it would never be found wanting in the work of uprooting the feelings of discontent, greed, selfishness hatred and bigotry from India and the world at large.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

BĀHUBALI GOMMAṬESVARA

BY

K. P. Mitra, M.A., B.L.

I am giving here a legendary account of the incident that led to the adoption of the statuesque posture by Bāhubali, upon which the colossal statue has been modelled. Bāhubali was one of the sons of Lord Ṛṣabha, who was the first Tīrthaṅkara, the first king, and the first teacher of arts and sciences in the Avasarpiṇī cycle. Ṛṣabhadeva had two wives, Sumaṅgalā (*alias* Nandā), and Sunandā. The former brought forth the twins—Bharata, a boy and Brāhmī, a girl, and the latter, Bāhubali, a boy, and Sundarī, a girl. After reigning for many thousands of years at Vinīta (Ayodhyā) Ṛṣabhadeva left the world in quest of absolute knowledge. Before retiring, however, he crowned his eldest son, Bharata, as king of Ayodhyā, while he placed Bāhubali on the throne of Takṣaśilā. The other sons obtained the kingdoms of Baṅga, Aṅga, Magadha, Koṅkana, Kuṇāla, Kuntala, Avantī and various other countries. Ṛṣabhadeva observed the austerities, underwent the fast, and ultimately broke it with the juice of sugarcane offered to him by Śreyāṃsa, son of Somaprabha, son of Bāhubali, *viz.*, his great grandson. Maintaining silence he wandered through many lands, till after a thousand years of religious exercise, he exhausted his *ghātiya karman* and obtained *kevala jñāna* under a *vaṭa* or nyagrodha tree in the city of Purimatāla (or Purimātala) and was honoured by kings of gods who came and waited upon him with their whole retinue (*samavasaraṇa*). Two men—Jamaga and Samaga—came to king Bharata, the former informing him of the Lord's attainment of *kevala jñāna*, and the latter of the appearance of the jewel of a *cakra* (*cakkarayaṇaṃ*) in the royal armoury, which would enable him to conquer the earth (lit. *chakkhaṇḍa-mahī-pasāhaṇa-sahāyaṃ*). Infatuation insidiously creeping upon him, Bharata debated within himself, "Whom shall I worship first? My father, the Chief of saints or the wonderful discus?" Instantly did he perceive his delusion and

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

he said to himself, "How could I think like this ? Can there be an comparison between (lit. where is) my father, who grants *abhaya* (assurance, lit. fearlessness) to the world, and the discus which is the instrument of destruction of living beings ? Fie on me, that through infatuation, did I think thus unreasonably. I will worship my father first."[1] With good sense thus dawning on him, Bharata mounted Marudevī on an elephant and proceeded with his fourfold army to do honour to Ṛṣabha. Then noting the splendour of *samavasaraṇa* he addressed Marudevī, " Mother, thou didst lament unto me heretofore that thy son abandoned the royal pleasure like a handful of grass and affliated with heat and cold, hunger and thirst was roaming alone. But I said, 'Lament not, mother, no son of a mother hath that glory that thy son hath'. Thou hadst no faith in my words, now look, the very gods of the three worlds are celebrating the Lord's *samavasaraṇa*. They are singing and dancing." Marudevī became overwhelmed with joy at seeing the glory (*ṛddhi*) of her son as Tīrthaṅkara, and being deeply absorbed she became (even while seated on the elephant) an *antakṛt kevalī*... Bharata left behind the royal insignia, entered the *samavasaraṇa*, circumambulated the Jina thrice, saluted him, sat in his own seat and listened to the following discourse of the Jina, " Rare indeed is this human birth ; knowing that indulgence in worldly pleasures brings about its harvest of pain, and that this life is fleeting, perform sagelike duties (*munidhammam*) for the attainment of liberation." Hearing this, five hundred of his sons beginning with Ṛṣabhasena and seven hundred grandsons, adopted *saṃyama* (restraint). Brāhmī and other daughters became female *sādhus*, Bharata and others became *śrāvakas*. Sundarī and others became Śrāvikās ... ... Bharata returned home and worshipped the discus, which instantly came out and proceeded towards the east, covering a *yojana* each day, followed by Bharata, the *cakkī* (the discus-bearer) with his army. In sixty thousand years the whole of Bhārata was conquered. Having returned home Bharata found that Sundarī had become wan and pale, her face had become lustreless and she looked thin

1. Tāyammi pūie Cakka pūiaṃ pūaṇāriho tāo.
Ihaloiaṃ tu cakkaṃ paraloasuhāvaho tāo.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

like a streamlet in summer. Thereupon he reproved his men for their neglect of her. They however explained that she had become disgusted with the world and wanted to take *pabbajjā*, but was prevented by the Lord. Since then she has been following *āyambila.*[2] Knowing that she wanted to be ordained, Bharata gave her permission, and she was ordained by the Lord.

Then Bharata sent messengers to his brothers who were told, "If you want to reign, then worship the feet of Bharata." The brothers met for consultation and said, "Our father has divided his kingdom amongst us, giving Bharata and us our respective portions. But Bharata, out of pride, wants to make us his servants. Then what should do we do? Serve him or resist him in war? Very well, let us ask the Lord and then decide." At this time he was at the Aṣṭāpada hill. So they went to him. He advised, "Serve only *dharma*, the sole bringer of good and happiness. War against the senses and win." Then he discoursed on *taṇhā* (thirst) which can never be assuaged by indulgence in worldly pleasures.[3] He said, "Ye have enjoyed heavenly pleasures for long, yet your thirst has not been slaked ......Now, it behoves you to be restrained for the attainment of imperishable happiness." On hearing this ninetyeight brothers accepted ordination at the hands of the Lord. When Bharata heard this from his messengers, he made their sons kings in those kingdoms.

Bharata was informed by Susena, his commander-in-chief, that the discus, although it had conquered all the directions (*disā-cakkaṃ*), was not entering the city. Bharata said, "Is there, up to this day, any hero who has not been conquered?" The minister replied, "There is no one who has not been conquered by you in war, but your younger brother, Bāhubali, whose mighty arms have suppressed the armies of his adversaries, still remains unwon; hence the *cakra* does not enter the city." Bharata sent an ambassador named Suvega to Bāhubali asking him to submit, but finding the latter

2. A kind of penance, *Anta* 32.
3. Tāhe iṅgāladāhakadittantaṃ kahei.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

unyielding went with his fourfold army to conquer him. Bāhubali came out to meet him. The two armies met, like unto the eastern and the western oceans that transgressed their boundaries; there was a great fight and a great slaughter. The gods, *siddhas*, *yakṣas* and *vidyādharas* hovered in the sky, dreading an untimely end of the *kalpa* (cycle of existence). Noting this unnatural contest the gods addressed them, " Ye are the excellent sons of Ṛṣabha, the Lord of the three worlds, why are ye destroying lives in this fashion? Fight righteously (*uttama-juddheṇa* ..."[4] They assented, and fought with eyes, next with speech, with arms, fists and clubs (*diṭṭhi-girā-bāhu-laṭṭhīhiṃ*), in all of which Bharata was overcome by the mightier Bāhubali. Dejected, Bharata thought, " I wonder if I be a *cakri*." Then the *cakra*, resplendent with rays, came upon the hand of Bharata, and was sent forth so that it might kill Bāhubali. But after circumambulating Bāhubali it returned to his hand, for it was powerless against one of the same kin. Then said Bāhubali, " Thou art proud because of this *cakra*, singlehandad can I crush thee, though armed with the *cakra*, but now, have I nothing to do with worldly objects, which thou art plundering; my brothers have forsaken their kingdoms and have taken the way indicated by father."[5] Then saying to himself, " Oh, the stream of the ever-developing universe subject to pleasures of sense and attachment" he pulled out his hair like grass. Then reflecting for a while what to do, he decided to stand there in statuesque posture intent upon gaining absolute knowledge. Bharata addressed him, " Unconquered art thou, but I have been conquered not only by thee, but by passions (*kasāyehi*, viz., anger, pride, deceit and greed), in that impelled by greed of worldly objects, I am fighting." He then made obeisance to Bāhubali, and instituting the latter's son Somaprabha in the kingdom returned to his city.

4. According to another version, Bāhubali addressed Bharata, " What is the use of killing innocent men, the fight is between you and me, let us fight by eyes etc."

5. Cf. also his speech, " Dhisidhisi purisattaṇaṃ te ahammajujjhapavattassa alaṃ me bhogehi, geṇhāhi rajjaṃ pabbayāmi" tti mukkadaṇḍo pavvaiyo.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Bāhubali remained in that posture (*padimaṃ ṭhio*) for a year without food, and enduring cold and heat, wind and rain, and similar other hardships ....." and the creepers wreathing round the boughs of the trees on the bank clung to his neck and crowned his head with their canopy and the blades of kuśa grass grew between his feet, and he became in appearance like an ant-hill."[6] Subsequently he obtained absolute knowledge.

In one version we find that he stood in the statuesque posture on the very field of battle for one year, when the Lord sent Brāhmī, Sundarī and other nuns who said, "One mounted on the shoulder of an elephant rarely obtains knowledge." Bāhubali reflected, "Pride is the elephant that I am riding. I am going to worship the Lord." As he raised his foot he attained *kevalajñāna*. In another version it is related that he went to the summit of the Kailāsa mountain and stood in that posture.

Bāhubali (also spelt Vāhuvali, Bāhubali) was famous as having mighty and victorious arms with which he overcame his adversaries (*vivakkha-bala-dalaṇa-bāhu-balo, dhṛta-jaya-bāhu*). He was also called Bhujavali (Bhujavalī) and Dorbalī, *i.e.*, one of mighty arms.

In inscription no. 85 *Epigraphia Carnatica* (Vol. II p. 67) he is described as the son of Puru (*Puru-sunu-Bāhubali*) and that "Bharata, the son of Puru Deva, surrounded by all the kings conquered by him, erected, in glee, an image, representing the victorious Bāhubali *kevalī*, which was 525 bows in height, near Podanpura. After a long time, innumerable *kukkuṭa-sarpa*" (dragons having the body of fowl and the head and neck of a snake), terrifying the world, grew up in the place, surrounding (the image of) that Jina, for which the image became known as *kukkuṭeśvara*." This story with slight variations occurs in the writings of later Jaina authors, e.g., the *Ādipurāṇa* of Sakalakīrti, and *Bhujabalicarita* of Doddhiya (who says that Bharata put up a golden statue of Bhujabali which at one time became infested with *kukkuṭa śarpas*),

6. *Āvaśyaka*...Tāhe saṃvaccharaṃ acchai kāyussageṇa, vallīvitāṇeṇam vedhiyo pāyā ya vammīyaniggaehiṃ bhuyaṃgehiṃ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and in Jain Kanarese literature, such as *Aditpurāṇa*, *Bharateśa-vaibhava*, *Bhujabaliśataka*, *Gommateśvaracarita*, *Rājāvalikathe* and *Sthalapurāṇa*.[7]

The sculptural representation of Bāhubali at Sravaṇa-Belgola, Karkala and Yenur, shows the ant-hills from which emerge serpents, and the creeper that twines round his legs and arms. "These details are identical in all three, and supposed to represent so rigid and complete an absorption in penance that ant-hills had been raised around his feet and plants had grown over his body, without disturbing the profoundness of the ascetic's abstraction from mundane affairs."[8]

Bāhubali obtained indeed a victory over his elder brother, Bharata, but this distressed him so greatly that he renounced all temporal power, and subjected himself to the severest austerities in the *kāyotsarga*[9] posture that gained for him the unique distinction of having "obtained omniscience in this Avasarpinī cycle in Bharata-kṣetra even before Lord Ṛṣabha,"[10] and thus presents an ideal of asceticism of unsurpassed sublimity. The huge image of him

7. *Jaina Antiquary*, Vol. III. No. III pp. 57 ff *Podanapura and Takṣasilā* by K P. Jain who says that the story of Bāhubali's victory over Bharata and his subsequent renunciation of the world (as narrated in this article of mine) is related by the authors of *Harivaṃśapurāṇa* (Sarga XI) and *Mahāpurāṇa* (Parva XXXV) who style the capital as Podana, and by Raviṣena, the author of *Padmacarita* (Parva IV sls. 67-77) who styles it as Pautana. These and the other authors mentioned above say that Podanapura was the capital of Bāhubali Mr. Jain does not agree with the editor of *Bhavisayattakahā* (G.O.S. no XX) in his identification of Podanapura with Takṣas'ilā, and endeavours to show that it was somewhere in the northern border of South India. Mr. Govind Pai identifies it with Bodhan in the Nizam's territories.

8. Lewis Rice-*Inscriptions at Sravaṇa Belgola*, Introduction, p. 33.

9. The technical word for standing or statuesque posture of a Jaina image is *kāyotsarga*. See inscription no 2402 of Inscriptions published by the late P. C. Nahar-*Śrī Bāhubali-Mūrtih kāyotsargostha karita*.

10. But *contra* other versions noted above. In the *Āvaśyakasūtram* it has been related that according to some versions Marudevī was the first fo attain *kevalajñāna* (iha Bharahosappiṇie paḍhamasiddhottikāūṇa devehiṃ pūjā kayā...")

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

constructed by Raja Chamuṇḍa Rāya at Vindhyagiri reflects a serene expression of deep concentration. Mr. J. L Jaini in his introduction to *Gommatasāra-Jīvakāṇḍa* observes, "The grandeur of the image, as also its serene looking and peace inspiring presence, are all known to all Jainas and non-Jainas who have had the good fortune of visiting it. When I visited the sacred place in 1910, I met some English men and women missionaries, who out of respect for the Holy Image took off their shoes and visited it in their bare feet. They also held the opinion which I have given above. The image is about 57 feet high and still every limb and minor limb is in exquisite proportion." Unfortunately experts in art are not of the same opinion regarding proportion. Dr. M. H. Krishna, Director of Archaeology in Mysore, observes, "The image on the whole is a very successful piece of sculpture since the spirit of Jain renunciation is fully brought out in it. The naked figure shows absolute renunciation, while its stiff erect posture stands for perfect self-control and the benign smile on the face shows inward bliss and sympathy for the suffering world. But the image could come in for much criticism especially from the point of view of Anatomy," and he points out the defects. It should be borne in mind that statues were made according to the rules and conventions of the *Śilpaśāstra*. The sculptor and his patron were satisfied if the *śastra* was followed, and they did not mind the anatomy. Convention is given precedence over anatomy. Dr. Krishna remarks, "Convention and want of proportion are the two important defects in the figure while its merits are the sublime beauty of the face and the gigantic proportions of the colossal image."[11]

The statue is generally known as that of Gommata, Gommaṭa, Gommaṭasvāmī, or Gommaṭeśvara. Mr. Jaini thinks that the name Gāmmaṭeśvara or the "Lord of Gommaṭa" was given to it by Cāmuṇḍa Rāya who constructed it He was the minister and commander-in-chief of the great Gaṅga kings, Mārasiṃha II, and Rācamalla or Rājamalla II, and had many titles, e.g., *Raṇaraṅga-malla*,

11. *Proceedings of the Eighth All-India Oriental Conference*, pp. 690-91. *The Art of the Gomata Colossus*.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Ashyaparākrāma, *Guṇaratnabhūṣaṇa*, *Samyaktvaratna-nilaya*, etc.,[12] The inscription at the righthand slab at the foot of the image reads thus : –

Śrī-Cāmuṇḍarājaṃ māḍisidaṃ
Śrī-Cāmuṇḍarājan [se] Yv [v] ittāṇ.

The first line is in Kanarese, meaning "Srī-Cāmuṇḍarāja caused to be made," the second line is its Tamil translation, while the inscription on the left-hand slab, which reads,

Śrī—Cāmuṇḍarājeṃ Karaviyaleṃ.

is its Marathi translation.

Mr. Ghoshal thinks that the statue was established by Cāmuṇḍa Rāya between A.D 978 and 984, for though the latter mentions all his military exploits and explains in detail how he gained his numerous titles in his work, the *Cāmuṇḍa-Rāya Purāṇa*, which was completed in A. D. 978, he does not mention the erection of the monumental image, and Rācamalla's reign ended in A D. 984. On astronomical grounds he takes the date to be A. D. 980. Mr. Jaini takes the date to be 983, following the decision of Rao Bahadur R. Narasimhachar who brought out the revised edition of *Epigraphia Carnatica*, Vol. II (Inscriptions at Sravaṇa Belgola). Mr. Govinda Pai takes it to be 981. He says the prevailing notion is that the statue was named after Gommaṭa or Gommaṭa Rāya which was the other name of Cāmuṇḍa Rāya, since he was named so in *Gommaṭa-sāra* composed by Nemicandra Siddhānta-Cakravartī, [13] but this

12. Introduction to *Davva-saṃgaha* edited by S. C. Ghosal (S.B.J. series), pp. xx ff. Mr. Govind Pai says that he was the minister of Rakkasa Gaṅga (brother and successor of Rājamalla) as well.

13. See verses 966 to 972 of *Gommaṭa-sāra-karmakāṇḍa* and verse 734 of *Gommaṭasāra-Jīvakāṇḍa.*

Gommaṭa saṃgahasuttaṃ Gommatasiharuvaṅ Gommaṭa jiṇe ya |
Gommaṭarāyaviṇimmiya dakkhiṇakukkuḍajiṇe jayau ||
Jeṇa viṇimmiya-paḍima-vayaṇaṃ sabbaṭṭasiddhidevehiṃ |
Sabbaparamohiyogihim diṭṭaṃ so Gommaṭa jayau ||

—Karmakāṇḍa, vv. 968-69.

Ajjajjaseṇaguṇagaṇa samūhasaṃghāri Ajiyaseṇagurū |
Bhūvaṇaguru jassa guru so rāyo Gommaṭa jayau ||

—Jīvakāṇḍa, v. 734.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is wrong, in as much as neither in his work *Cāmuṇḍarāya-purāṇa*, nor in *Ajitapurāṇa* (a Kanarese work composed in A.D. 993 by poet Ranna, the protege of Cāmuṇḍa Rāya) is he called Gommaṭa or Gommaṭa-rāya. It is not that the image Gommaṭeśvara was named after Cāmuṇḍa Rāya *alias* Gommaṭa, but that Cāmuṇḍa Rāya was called Gommaṭa Rāya, because he erected the image of Bāhubali who was even before his time called Gommaṭa. Most probably it was Nemicandra who was the first to give the name of Gommaṭa to Cāmuṇḍa Rāya, as the latter erected the statue of Bāhubali who was for special reasons called Gommaṭa, a variation of Skt. Manmatha [Skt. Manmatha = Pkt. *Gammaha*, acc. to Kātāyana's *Prākṛta-mañjarī* 3·42 = Kannaḍa (*tadbhava*) *gammaṭa*, mēaning the Hindu god, Kāmadeva, and therefore 'beautiful'].[14] He substantiates his argument by saying that in works in Sanskrit, Prakrit and Kanarese languages Bāhubali was called the first Kāmadeva of this age, *e.g.*, in *Ādipurāṇa* (Skt, 16-9), *Ādipurāṇa* (Kanarese, by Pampa, 88·52-53) and in Sravana Belgola inscription no. 234 (A.D. 1180).[15] Mr. Ghosal (*op cit.*, intro. xxx ff.) says that in a Skt. work, *Vāhuvali Caritra*, it is narrated that when king Rājamalla (of Madhura) was sitting with his minister Chāmuṇḍa Rāja, " a travelling merchant came there and told them that in the north there is a town called Paudanapurī, where there is an image of Vāhuvali, also called Gommata, established by Bharata." In order to visit it Chāmuṇḍa Rāja accompanied by his mother proceeded and when he had reached the Vindhyagiri hill in Sravaṇa Belgola, he was advised in a dream by a goddess to shoot an arrow at the hill. When he did so, it cleft in twain and revealed the image of Vāhuvali, formerly established by Rāvaṇa. The story is repeated with variations in a recent Kanarese work named Rājāvalı-kathe. There is a similar story in Sthalapurāṇa. All these are legendary in character, hence the attempt to make

14. This is how Mr. Pai derives *Gommaṭa*. The recognised Prākṛta form of *manmatha* is *mammaha* (see *Gāthā-saptaśatī*, 430, and *Abhijñana-śakuntalam*), or *vammaha*, but as to its being *gammaha*, the philologist is the authority.

15. Śrī-Jaina-Sidhanta Beaskara, 42 pp 102 ff.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Chāmuṇḍa Rāya the discoverer, and not the founder of the imag on such weak a basis, cannot be regarded as successful.

The image of Gommaṭeśvara at Karkala was erected by Vir Pāṇḍya in A.D. 1432, and at Yenur by Timmarāja in A. D. 160 Dr. Vincent Smith says that the three statues are " undoubtedly th most remarkable of the Jain statues and the largest free-standin statues in Asia...All three being set on the top of eminences ar visible for miles round, and inspite of their formalism, comman respectful attention by their enormous mass and expression of digni fied serenity."[16] The image at Sravaṇa Belgola is 56½ ft high, that a Karkal is 15 ft. less in height, and that at Yenur is 35 ft. high " The extreme conventionallism of Jain art is well illustrated by th fact that, whereas all the three colossi are substantially identical save for the smile at Yenur, the dates very widely. For fuller details of the statues at Karkala and Yenur see *Jaina-Siddhān Bhāskara* 5-2-92ff and 5-4-234ff.

16. History of Fine Art in India and Ceylon, p. 268.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"INDIAN CULTURE."

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted. der the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. arua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of ch eminent orientalists as Sir D. B Jayatilaka, Drs. S. N. Das upta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee, P. K. Acharya, Ms. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of om represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, ddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and ciology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian lture, etc. Among the contributors are the best orientalists of dia and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, rs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K charya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive t up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price ry moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage)

Among the other publications of the Institute, which aims at wide opagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic, ddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi,

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 27.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute.
170 Maniktala Street.
Calcutta, (India.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued annually in four parts, *i.e*, in June, September, December and March.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta Bhaskara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archæology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology:—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A., D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ... २)

(मू० कम कर दिया गया है)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ... ।)

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १म, २य तथा ३य किरणें ... २)

(५) " २य भाग ... ४)

(६) " ३य " ... ४)

(७) " ४र्थ " ... ४)

(८) " ५म " ... ४)

(९) " ६म " ... ४)

(१०) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ... ।)

(यह अर्ध मूल्य है)

(११) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ... ।।)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ७ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI. No. II

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL. B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1940

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम।

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी त्रैमासिक पत्र है, जो वर्ष में जून, सितम्बर, दिसम्बर और मार्च में चार भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ४) रुपये और विदेश के लिये डाक-व्यय लेकर ४॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १।) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा होगी।

३ केवल साहित्यसंबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। मैनेजर, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक़ पता लगा सकते हैं मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में हेर-फेर क़ी सूचना भी तुरन्त उन्हों को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' नहीं प्राप्त हो, तो इसकी सूचना जल्द आफिस को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना—यह सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक, 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकमण्डल को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'भास्कर' आफिस, आरा के पते से भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफ़ेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफ़ेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ७ मार्गशीर्ष किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल, एम. ए., एल.एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद. एम. आर. ए. एस.
पं० के० भुजवली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ४) विदेश में ४।।) एक प्रति का १।)

विक्रम-सम्वत् १९९७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

पृष्ठ

१ श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम—[श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ... ... ५५
२ जैन रामायणें—[श्रीयुत प्रो० डी० एल० नरसिंहाचार्य, एम० ए० ... ६३
३ 'रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी, लंदन में जैन ग्रन्थ'—[श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ... ... ७६
४ खोज-बीन—[श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी ८१
५ श्री महाधवल में क्या ?—[श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए०, एलएल०बी० ८६
६ मंत्रशास्त्र का एक अलभ्य जैनग्रन्थ—[श्रीयुत अगरचन्द नाहटा ... ९९
७ विविध विषय—'भास्कर' की बात—[श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन एवं पं० के० भुजबली शास्त्री १०२
८ साहित्य-समालोचना—(१) मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि—[पं० के० भुजबली शास्त्री १०४
(२) गौरवगाथा ... " " ... १०४
(३) एकीभाव स्तोत्र (सटीक) " " ... १०५
(४) बृहत्स्वयंभूस्तोत्र " " ... १०५
(५—६) कथामंजरी " " ... १०५

ग्रन्थमाला-विभाग

१ तिलोयपण्णत्ती—[श्रीमुत प्रो० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ११३ से १२०
२ प्रशस्ति-संग्रह—[श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण ... १६९ से १७६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीजिनाय नमः

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ७ | दिसम्बर १९४० । मार्गशीर्ष वीर नि० सं० २४६७ | किरण २

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[लेखक—श्रीयुत कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.]

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में सैद्धान्तिक-सामाजिक-राजनैतिक इत्यादि वार्ताओं के साथ-साथ अनेक भौगोलिक नामों का भी उल्लेख हुआ है। पाठकों के परिचय के लिये हम उन्हें निम्नलिखित पंक्तियों में उपस्थित करते हैं; जिससे उन्हें पता चलेगा कि श्रवणबेल्गोल के लोगों को सारे भारत में फैले हुए स्थानों का परिचय था और वहां की यात्रा करने भारत के दूर-दूर देशों से यात्री आया करते थे। हम इन भौगोलिक नामों को अकारादि क्रमानुसार लिख रहे हैं और जिस शिलालेख में उनका उल्लेख है उसका नं० उसके आगे दे रहे हैं। साथ ही यथासंभव उस स्थान का परिचय भी देने का प्रयास किया है।

अजितसुरनगर १०५ (२५४) 'भक्त्या शक्त्या च मुक्त्यै जितसुरनगरे स्थापयद्भद्रमद्रौ'।

अण्णितटाक ४२ (६६)

अडेयरराष्ट्र-अदेयरेनाडु २ (२०) संभवतः पल्लव देश में था। आधुनिक अडयार (Adyar) से नामसाम्य है।

अन्दमासलु २४ (३५) श्रीकम्वय्यन् के राज्य में एक ग्राम था।

अमेले ३६१ (२५२) नामक एक ग्राम था।

अक्कनकट्ट ५९ (७३) परमगांव की सीमाओं में इसका उल्लेख है।

अनादिग्राम ११७ (२५९) कोंगुनाडु में यह ग्राम था।

अय्यावले ६८ (१५९) 'अय्यावले सम्भवतः बम्बई प्रान्त के बीजापुर (?) जिलान्तर्गत आधुनिक 'ऐहोले' का ही प्राचीन नाम है।' शक सं० १०५९ से पूर्व वहां के एक राज्याधिकारी चट्टि सेट्टि थे। उनकी जैन धर्मपरायणा पत्नी चट्टिकव्वे ने श्रवणबेलगोल में उनकी निषद्या निर्माण कराई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरकेरे १२० (३१८) यहां के वीर वीरपल्लवराय प्रसिद्ध थे।

अर्जुनशीतग्राम ३८२ (२८७) इस ग्राम के निवासी बघेरवाल संघवी जैनियों ने शक १५६७ में यात्रा की थी। यह ग्राम सभवतः कहीं पर मध्यभारत में था।

अवरेहालु १२२ (३२६) शक सं० ११२२ में इस ग्राम को नागदेव हेग्गडे नामक दातार ने गोम्मटदेव की पूजा के लिए दान किया था।

अंगडि ३६१ (२५२) के एक जौहरी ने मोसले के बहुव्यवहारिसेट्टि के प्रतिष्ठित तीर्थंकरों की पूजा के लिए दान दिया था।

आदितीर्थ १२३ (३७५) श्रवणबेल्गोल का उल्लेख इस नाम से हुआ है।

आर्ब ८९ (२३८) यह ग्राम श्रवणबेलगोल के पास में कहीं था।

आईनहल्लि ८३ (२४९) शक सं० १६२१ में मैसूर के राजा कृष्णराज ओडेयर ने यह ग्राम अन्य ग्रामों के साथ गोम्मटदेव को दान दिया था। इसलिये यह ग्राम मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोल के निकट होना चाहिए।

इनुंगुर २३ (२८) शक सं० ६२२ के लगभग इनुंगुर के मेल्लगवासगुरु ने कटवप्र पर्वत पर देहोत्सर्ग किया था।

इस्थानपेठ ३४० (२१०) यहां के अग्रवाल जैनियों ने सं० १८०० में यात्रा की थी॥ यह स्थान उत्तरभारत में कहीं पर था।

उच्चंगि ५३ (१४३) व ९० (२४०) गङ्गवाडि के निकट यह एक मज़बूत किला था। विष्णुवर्द्धनादि कई होयूसलवंशी राजाओं ने इसे विजय किया था।

उज्जयनि (उज्जैन) १ (१) मालव देश की राजधानी।

उत्तनहल्लि ८३ (२४९) संभवतः मैसूर राज्य का एक ग्राम था।

उत्तेनहल्लि ४३४ (३५४) मुम्मडि कृष्णराज ओडेयर की सनद में उल्लेख है।

ऋषिगिरि ३४ (८४) कटवप्रपर्वत (चिक्कबेट्ट) का अपरनाम है।

एडवल्लगेरे १२९ (३३४) शक सं० १२०५ में इस ग्राम को श्रवणबेल्गोल के जौहरियों ने नगरजिनालय के आदिदेव की पूजा के लिए दान किया था।

एरम्बरगे १३० (३३५) होयूसल राज्य का एक देश था।

ओम्मलिगेयहालु ५१ (१४१ शक सं० १०४१ में यहां पर एक पट्टशाला (वाचनालय) चालू थी।

कग्गेरे ९० (२४०) होयूसलनरेश नरसिंह ने बेल्गोल की वंदना कर के सवणेरु के साथ इस ग्राम का भी दान दिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटवप्र (कलवप्पु) २७-२९, ३३, १५२ आदि। चिक्कबेट्ट का अपरनाम है।

कलसतवाडि ४५९—४६० यहां की जिनमूर्तियां मिलती हैं।

कदम्बहल्लि में शान्तीश्वरबस्ति (मंदिर) थी।

कब्बालु ४३३-४३४ कृष्णराज ओडेवर की सनद में इस ग्राम का उल्लेख था और इसे चिक्केरि तालुका में लिखा था।

कवाले ८३ मैसूर नरेश कृष्णराज ओडेयर ने शक सं० १६२१ में बेल्गोल के दर्शन कर के इस ग्राम को भी दान में दिया था।

कब्बुनाडु ५१, ४९२ इस नाम के प्रदेश में ओम्मलि० ग्राम था जहां पर पट्टशाला शापित थी। यह होय्सल नरेशों के राज्य के अन्तर्गत था।

कम्बादुनाथ अरुवण १३७ हुल्लराज मंत्री के दान में इसका उल्लेख है।

कमलपुर, कमुलपुर ११८, ४०५ शक सं० १५७० में यहां के बघेरवाल जीनासा आदि ने बेल्गोल में कोई धर्मकार्य किया था। यह स्थान उत्तर भारत में होना चाहिए। उल्लेख भी नागरीलिपि के लेख में है।

करवध ३४७ सं० १८०० के नागरीलिपि के लेख में पानीपत के साथ इस स्थान का उल्लेख है।

करहाटक ५४ स्वामी समन्तभद्राचार्य ने इस स्थान पर वादभेरी बजाई थी। कोल्हापुर ज़िले का करहाट नामक स्थान यह बताया जाता है।

कर्णाटक, कर्णाटक देश, ८३, १०६, ४३४ दक्षिण भारत का एक प्रदेश, जो वर्तमान के कन्नड जिलों के इर्दगिर्द फैला हुआ था। कन्नड के 'कन-नाडु' शब्द से कर्णाट शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है 'कृष्ण प्रदेश'। वस्तुतः यहां की जमीन की मिट्टी और स्त्री पुरुषों का रंग काला ही है। हुएनसांग के समय में यहां चालुक्यों का अधिकार था और यह साम्राज्य दूर दूर तक फैला हुआ था।

कलन्तूर १५९ के एक मुनि जी ने कटवप्रपर्वत पर १०८ वर्षों तक तप तपा था।

कलले ३२८ इस स्थान से श्री नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती के शिष्य श्री बालचन्द्र का सम्बन्ध था। उनके उपदेश से महदेव सेट्टि ने मल्लिनाथ की प्रतिमा निर्माण कराई थी।

कलस ग्राम ४३४ मैसूरराज्यान्तर्गत था।

कलिङ्गदेश १३८, ४९९, होय्सल नरेश एरेयङ्ग ने कलिङ्गदेश का विजय किया था। इसी वंश के सोमेश्वर नृप के विषय में कहा गया है कि उन्होंने कलिङ्गनरेश का मस्तक विदीर्ण किया था। इन उल्लेखों में कलिंगदेश की गणना अन्य बड़े देशों के साथ की गई है। अतएव यह कलिंगदेश भारत का प्राचीन कलिंग और वर्तमान उड़ीसा के अन्तर्गत प्रकट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है। मगध सम्राटों ने इस देश को कई बार जीता था। जैनपुराणों में कलिंग देश का वर्णन भ० महावीर से भी पहले मिलता है। एक समय यहाँ श्री कृष्ण जी के वंशज जरत्कुमार राज्याधिकारी थे और उनकी सन्तति में भ० महावीर के समय जितशत्रु नामक राजा राज्य करते थे। बीच में चम्पा के करकण्डु राजा के शासनाधिकारी होने का भी उल्लेख मिलता है। स्वयं भ० महावीर ने कलिंगदेश के कुमारीपर्वत पर पधार कर धर्मामृत बरसाया था। मालूम होता है कि उनके समय से ही कलिंग में श्रमण परम्परा दि० मुनियों का संघ) स्थापित हो गई थी, जिसका उल्लेख कलिंग के जैन-सम्राट् खारवेल के शिलालेख में हुआ है। कलिंग में जैनधर्म की महिमा खारवेल और उनके वंशजों द्वारा खूब विस्तृत हुई थी। बौद्धग्रन्थ 'दाठावंश' से भी वहाँ पर मध्यकाल तक जैनधर्म का प्राबल्य प्रमाणित होता है। चीनीयात्री हुएनसांग ने कलिंग राज्य को ५००० ली (८३३ मील) में फैला हुआ बताया था और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) जैनियों का प्राबल्य लिखा था।

कल्कणिनाडु प्रदेश ५३, ५६ होय्सलनरेशों के शासनाधिकारमें यह प्रदेश था।

कल्लेह ग्राम १३६, यहां के बुसुवि सेट्टि ने विजयनगर नरेश बुक्कराय को प्रार्थनापत्र देकर एक शासन का जीर्णोद्धार कराया था। इस उल्लेख से यह ग्राम विजयनगर साम्राज्य के अन्तर्गत प्रमाणित होता है।

कवट्ट ग्राम ३६, पता नहीं दक्षिण देश मे यह कहां था ?

काञ्चीपुर ५४, ९०, १३८, ३६० व ४८६, स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने यहाँ आकर वाद घोषणा और जैनधर्म की प्रभावना की थी। लेख नं० ९० से होय्सल सेनापति गङ्ग का भी सम्पर्क कांची से प्रकट होता है। लेख नं० १३८ व ४८६ बताते है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन ने काञ्चीपुर को कंपा दिया था। प्राचीनकाल से काञ्चीपुर जैनधर्म का केन्द्र रहा है। श्रीसमन्तभद्राचार्य, श्रीअकलङ्कस्वामी प्रभृति जैनाचार्यों ने यहां आकर धर्म की महिमा स्थापित की थी। हुएनसांग चीनीयात्री ने काञ्चीपुर को द्राविड़देश की राजधानी लिखा था और बताया था कि वहाँ अस्सी देवमंदिर और असंख्य (बौद्ध) विरोधी हैं, जिनको निर्ग्रन्थ (दि० जैन) कहते हैं। 'उत्तरपुराण' में काञ्चीपुर को कलिंगदेश के अन्तर्गत लिखा गया है और वहाँ के वणिक्पुत्रों को लंका आदि द्वीपों से व्यापार करते हुए बताया है। कालिदासजी ने 'रघुवंश' (४, ३८-४३) में कलिंग का विस्तार दक्षिण में महेन्द्रपर्वत तक बताया है। यह महेन्द्रपर्वत पूर्वीय घाट पर्वतमाला का एक भाग माना जाता है। ऐसी स्थिति में 'उत्तरपुराण' का उपर्युक्त कथन तथ्यपूर्ण है। लेख नं० ४५५ में काञ्चीदेश का भी उल्लेख है। आधुनिक कांजीवरम् (Conjeevaram) ही प्राचीन कांचीपुर है।

काडलूर ग्राम २४ शक सं० ७२२ में रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्यान्तर्गत यह ग्राम था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कावेरी नदी ५९, गङ्गराज के सम्बन्ध में दक्षिण भारत की इस प्रख्यात नदी का उल्लेख हुआ मिलता है।

काशी ८४, ४३५, ४३६, लेखों में काशी का उल्लेख दान को सुरक्षित रखने के लिए शपथरूप में हुआ है, जिससे उसकी तीर्थजन्य मान्यता और पवित्रता प्रकट होती है। जैनियों का काशी एक पुरातन तीर्थ है। यहीं पर श्रीसुपार्श्वजी और पार्श्वनाथजी का जन्म हुआ था। सब से पहले श्रीऋषभदेव ने विहार कर के यहां पर जैनधर्म का प्रचार किया था। अन्तिम तीर्थकर भ० महावीर ने भी यहाँ की जनता को अपने धर्मोपदेश से कृतार्थ किया था। सारांशतः काशी जैनधर्म का एक प्राचीन केन्द्र रहता आया है।

कित्तूर—कीर्त्तिपुर ७, दक्षिण भारत का यह एक पवित्र स्थान था, जहाँ जाकर लोग समाधिमरण किया करते थे।

किल्केरे २४ महासामन्त रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्यान्तर्गत था।

कुम्भकोण ४३५, ४३६, ४३७ यहां पर शक सं० १७७८ में श्री अनन्तनाथ भगवान् की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी। यहीं की श्रीनेका श्राविका शुभा ने चन्द्रनाथ स्वामी की प्रतिमा और शान्तरण श्रेष्ठी ने नेमिनाथ स्वामी की प्रतिमा उसी समय प्रतिष्ठित कराई थी। ज्ञात होता है कि शक सं० १७७८ में यहां एक बिम्बप्रतिष्ठोत्सव सम्पन्न हुआ था।

कुम्मट १३०, होय्सलनरेश बल्लाल द्वि० ने इस स्थान को विजय किया था।

कुम्बेयनहल्लि ग्राम ४९५ होय्सल साम्राज्यान्तर्गत था।

कुरुक्षेत्र ५३, ५६, ५९, ८३, ४८६ लेखों में कुरुक्षेत्र का उल्लेख दान को सुरक्षित रखने के लिये शपथ दिलाने में किया गया है। जैनग्रन्थों में इस क्षेत्र का ही उल्लेख कुरुजांगल नाम से हुआ प्रतीत होता है। 'उत्तरपुराण' (६३।३४२ में इस प्रदेश को आर्यक्षेत्र के मध्य में सब से बड़ा लिखा है। इस देश में श्रीऋषभदेव के समान भ० महावीर का भी विहार हुआ था। हरिवंश० (३।३७) कुरुवंशी राजाओं ने इस प्रदेश पर दीर्घकाल तक राज्य किया था। उन राजाओं में ही तीर्थंकर-चक्रवर्त्ती श्रीशान्ति, कुन्थु और अरह नामक चक्रवर्त्ती हुए थे। कुरुक्षेत्र में ही जरासंध से यादवों का युद्ध हुआ था; जिसमें भ० अरिष्टनेमि ने भी भाग लिया था। (?) (हरि० ५०।६४) कुरुक्षेत्र की रणभूमि आजकल थानेश्वर से दक्षिण की ओर बताई जाती है। वह अम्बाला और पानीपत के बीच में है। 'महाभारत' (आदि० १०९,१) के अनुसार कुरुदेश तीन भागों में विभक्त था; (१) कुरुक्षेत्र (२) कुरुस (३) कुरुजांगल। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। हुएनसांग ने भी थानेश्वर के पास कुरुक्षेत्र (धर्मक्षेत्र) को स्थित बताया था। उसके समय में भी लोग कुरुक्षेत्र को पवित्र मानते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कृष्णावेण्णा १३८ यह दक्षिण की कृष्णा नदी है।

केल्लङ्गेरे ग्राम ४०, १३७ श्रवणबेल्गोल के निकट था।

केल्लङ्गनेहल्लि ग्राम ४८६ यह भी श्रवणबेल्गोल के निकट था।

कैलासशैल ४२ संभवतः वही कैलाशपर्वत है जहां पर भरत महाराज ने रत्नमयी जिन-प्रतिमाएं निर्मापीं थीं और यहीं से तीर्थंकर ऋषभदेव मुक्त हुए थे। (हरि० १२।८१) कहते हैं। बाहुबली स्वामी ने यहीं एक वर्ष तक प्रतिमायोग में स्थित रह कर तप तपा था। (हरि०११।९७) भरत महाराज के बनाये हुये रत्नमयी २४ चैत्यालयों के चहुंओर सगर के पुत्रों ने गंगा का प्रवाह बहाया था। (उत्तर पु० ४८।१०७—१०८) चक्रीपुत्र भगीरथ वरदत्त को राज्य देकर कैलाश पर्वत पर आये थे और शिवगुप्त मुनि से दीक्षा ले वहीं तप तपने लगे थे तथा केवल-ज्ञानी हुए थे। (उपु० ४८।१३८—१३९) 'आराधना कथाकोष' से (१।७४) प्रकट है कि अंजनचोर यहीं से मुक्त हुए थे। सारांशतः कैलाशपर्वत जैनियों का अति प्राचीन तीर्थ रहा है और वहां पर भ० महावीर के समय तक मनुष्यों का गमनागमन होता था। उपरान्त वह मनुष्य के लिए अगम्य हो गया।

कोंगुनाडु प्रदेश ११७ के अनादि ग्राम की गणना शक सं० १५३१ में की गई थी।

कोङ्गलि ग्राम ५६, शान्तल देवी ने इस ग्राम का दान किया था।

कोंगुप्रदेश ५६, १२४, १३०, १३७, १४४ इत्यादि यह प्रदेश होय्सलनरेश विष्णुवर्द्धन के आधीन था। अन्य होय्सल राजाओं का भी इस प्रदेश पर अधिकार रहा था।

कोट्टर ९ दक्षिण भारत के इस स्थान के गुणसेन गुरु ने समाधि मरण किया था।

कोट्टसा, ३७९ यदि यह कोई स्थान था तो महाराष्ट्र में होना संभव है।

कोपण कोपल ४७, २३७, १४४ दक्षिण भारत का कोपण एक मुख्य तीर्थ था। दानवीर गङ्ग, हुल्ल आदि ने यहां पर असंख्य जिन मन्दिर आदि बनवाकर अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग किया था। निजाम राज्यान्तर्गत रायचूर से नैऋत्य दिशा में स्थित वर्तमान कोप्पल ही प्राचीन कोपण हैं। यहां ई० पूर्व ३री शताब्दी की प्राचीन कीर्तियां उपलब्ध हैं। महाराज नृपतुंग और महाकवि रन्न ने कोपण को एक महानगर और पवित्र तीर्थ लिखा था। 'चामुण्डराय पुराण' से स्पष्ट है कि तत्कालीन जैनी कोपण में सल्लेखनापूर्वक देह त्याग करना विशेष पुण्यप्रद मानते थे। कई शिलालेखों में कोपण को क्रमशः तीर्थ, आदितीर्थ तथा महातीर्थ कहा गया है। श्रवणबेल्गोल के शि० नं० ४७५ में लिखा है कि 'कोपण तीर्थ के उच्चारण मात्र से मानो कैवल्य की प्राप्ति होती है।' सारांशतः कोपण की पवित्रता और महत्ता इन उल्लेखों से स्पष्ट हैं। यही नहीं यहीं पर आहवमल्ल और राजेन्द्रदेव चोल में युद्ध हुआ था, जिसके कारण यह क्षेत्र कर्मवीरों के लिए आकर्षण की वस्तु है। ई० दसवीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ताब्दी के लगभग इस स्थान पर सिलाहारवंश के राजाओं की एक शाखा का राज्याधिकार ...। ११वीं शताब्दी के सिलाहारवंशी महामंडलेश्वर गोवणरस ने अपने को कोपणपुरवराधीश्वर ...ला था। एक समय कोपण महातीर्थ में जैनियों का प्राबल्य सर्वोपरि था। यहां पर ...ंख्य जिन मंदिर थे, जिनमें से लगभग एक दर्जन जिन मंदिरों का पता अब भी चलता ...है। हुल्ल सेनापति ने यहां के 'चतुर्विंशति जिन मुनिसंघ' के लिये स्वर्ण का दान दिया ...। कोपण की तुलना में बहुधा श्रवणबेलगोल आदि को जैन कविगण उपस्थित करते ...—यह उसके महत्व को बताता है। यहां से कन्नड भाषा के कई शिलालेख एवं ...नमूर्तियां उपलब्ध हुईं हैं। उनका परिचय हैदराबाद पुरातत्व-विभाग द्वारा प्रकाशित ...नं० १२ कोपूवल' नामक ग्रन्थ में कराया गया है। सन् ८८१ ई० के लेख से स्पष्ट है कि ...नन्दी भट्टारक ने यहां आकर समाधिमरण किया था। वह नगर के महान् उपकारक ...। लगभग १३वीं शताब्दी का एक शिलालेख बताता है कि मूलसंघ सेनगण के किन्हीं ...ट्टारक के शिष्य पट्टन स्वामी पायकगण थे, जिनकी वहां निषधि बनाई गई। १८वीं शताब्दि ...के एक लेख में देवेन्द्रकीर्ति भट्टारक के शिष्य वर्द्धमानदेव द्वारा 'छाया-चन्द्रनाथ-स्वामिन्' ...की प्रतिमा उकेरी जाने का उल्लेख है। ईस्वी दसवीं शताब्दि के एक लेख में चावय्य द्वारा ...र्यसिंहनन्दी आचार्य के चरण चिन्ह स्थापे जाने का जिक्र है। यहां के शिलालेख नं० ७ ...सिंहनन्द्याचार्य के समाधिमरण का विशेष वर्णन है जो पश्चिमी चालुक्यनरेश विक्रमादित्य ...पंचम (सन् १००९—१०१७) के समय का है। श्री 'सिंहनंदितम्मदिगल्' ने एक मास में ...इङ्गिणिमरण किया था ×। इस अवधि में श्रीसिंहनन्दी अण्ण, मतिसागर अण्ण, नरलोका-...मित्र और ब्रह्मचारी अण्ण ने उनकी वैयावृत्ति की थी। इस बीच में सामिकुमार ने ...जिनबिम्ब की पूजा की थी। सिंहनन्द्याचार्य के समाधि ग्रहण कर लेने पर उपरान्त विछुकुंडे ...श्री नागदेव बस्ति के श्रीकल्याणकीर्ति जिनशासन के नायक हुये थे। वह देशीगण और ...कुंदकुंदान्वय के मुनिराट् थे। उन्होंने 'चन्द्रायण' आदि अनेक व्रत-उपवास किए थे। उनके ...सत्संग से अनेक भव्यों ने अपने कर्मों का क्षय किया था। उनके उत्तराधिकारी इन्डोली ...के श्री रविचंद्राचार्य हुए थे। उनके पश्चात् क्रमशः गुणसागर मुनिपति, गुणचन्द्र मुनीन्द्र, ...अभयनंदि मुनीन्द्र और गणदीपक माघनंदी हुये थे। कल्याणकीर्ति आचार्य ने सिंहनन्द्याचाय ...के तपःस्थल पर जिनेन्द्र-चैत्य निर्मापा था और विच्छुकुंड ग्राम में शान्तिनाथ भ० की मूर्ति ...स्थापी थी। नं० ८ का शिलालेख विजयनगर सम्राट् कृष्णदेवराय के समय का है और

*विशेष के लिए "जैन-सिद्धान्त-भास्कर" भा० ६ कि० २ पृ० ११० देखो।

× डा० कृष्णमाचर्लू ने 'इङ्गिणिमरण' को एक स्थान लिखा है, वह ठीक नहीं है। वह एक प्रकार का समाधिमरण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें भंडारद तिम्यप्पय्य के दान का उल्लेख हैं। नं० ९ का शिलालेख चतुर्विंशतिजिन प्रतिमा के आसन पर अंकित है जो कोप्पल से उपलब्ध हुई हैं और नबाब सालारजंग के महल में रक्खी हुई है। उसमें लिखा है कि रायराजगुरु मंडलाचार्य माघनन्दी सिद्धांत-चक्रवर्ती के समृद्धिशाली कोप्पणतीर्थ के निवासी बोप्पण और उनकी धर्मपत्नी मलउव्वे ने चौबीस तीर्थङ्करों की प्रतिमा निर्मापण कर के मादण दंडनायक द्वारा निर्मित बस्ति में विराजमान की। नं० १० का लेख एक अन्य प्रतिमा जो पंचपरमेष्ठी की हैं और उपर्युक्त स्थान पर हैं, पाद आसन पर अंकित है। उसमें लिखा है सिद्धचक्रद नोंपि (व्रत) और श्रुतपंचमी नोंपि का पालन कर के एरमबरगे के कुलाग्नि-सेनबोव देवण्ण ने पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा निर्मापी थी। कहते हैं कि कोपण एक छोटी-सी पहाड़ी के पास बसा हुआ था और वहां ७७२ बसदि (मंदिर) थे। यहां होयूसल नरेश विष्णुवर्द्धन की रानी शांतल देवी ने भी एक जिन मंदिर बनवाया था, जिसको तमोली लक्खय्य ने दान दिया था। इस लेख में अरसिय बसदि, तीर्थद बसदि और तिम्मव्वरसिय बसदि का उल्लेख है। ७वीं ८वीं शताब्दी में यहां जिन यात्रियों ने वंदना की थी, उनके नाम एक गुफा में लिखे हुए हैं। निस्सन्देह कोपण दक्षिण भारत का एक प्रमुख तीर्थ और जैनकेन्द्र था। वहां एक आचार्य पट्ट था, जिसका उत्तराधिकारी आसपास के ग्रामों में से योग्यतम जैनमुनि बनाया जाता था। उन आचार्यों द्वारा कोपण का महान् उपकार हुआ था + ।

कोलार (कुवलाल) ५६ गंगवंशी राजाओं की प्राचीन राजधानी, जो पूर्वी मैसूर में पालार नदी के तट पर है।

कोलिपाक ४०८ यहां के आदिनाथ प्रसिद्ध थे।

कोल्लापुर (कोल्हापुर) ४०, ४२२, ४७१ जैनों का प्राचीन केन्द्र है। वहां पुरातन जैनी किसान ३६००० की संख्या में हैं। जैनियों का यहां विशेष प्रभाव था। यहां सिलाहार वंश के राजा जैनी थे। इसका अपरनाम क्षुल्लकपुर है। यहां का प्रसिद्ध अंबाबाई मंदिर मूलतः जैनियों का है। लेख नं० ४० में यहां के श्रीरूपनारायण जैन मंदिर का उल्लेख है। स्वयं कोल्हापुर के शिलालेख (शक १०६५) में इस मंदिर के जीर्णोद्धार किये जाने का उल्लेख है। लेख नं० ४२२ में कोल्लापुर के पट्टाचार्य भट्टारक जिनसेन का ज़िक्र है। लेख नं० ४७१ से स्पष्ट है कि शान्तीश्वरबस्ति में शान्तीश्वर भगवान् की प्रतिमा कोल्लापुर की सावन्तबसदि में पट्टाधीश सागरनंदी द्वारा प्रतिष्ठित की गई थी।

क्रमशः—

+ मूल शिलालेखों के लिए "The Kannada Inscriptions of Kopbal" (Hyd. Ar. Series) No. 12 देखिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन रामायणें

[लेखक—श्रीयुत प्रो० डी० एल० नरसिंहाचार्य, एम. ए.]

'रामायण' का विकास एक ही कवि के मस्तक की उपज है और 'महाभारत' एक से अधिक लेखकों के प्रयास का फल है। भारतीय साहित्य के इतिहास को जानने वाले यह जानते हैं। किन्तु 'रामायण' के प्रथम और अन्तिम परिच्छेद प्रक्षिप्त हैं। 'जैन रामायणों' का अध्ययन भी 'रामायण' के विकास-वर्णन को बतलाने के लिए मनोरंजक है।

किसी राष्ट्र के प्रचलित गीतों का विकसित रूप ही काव्य होता है। वह एक ही दिमाग़ की उपज होती है। राम-कथा के गीत वाल्मीकिजी से पहले भी अवश्य प्रचलित कहे जा सकते हैं। उन्हीं गीतों के आधार से 'वाल्मीकि रामायण' रची गई प्रतीत होती है। वाल्मीकि के उपरान्त 'रामायण' का और भी विकास हुआ। सम्प्रदाय और मतमतान्तरों के वशवर्ती होकर भी राष्ट्र की एक कथा अनेक रूप धारण कर लेती है। ये रूप कालान्तर में स्वाधीन भी हो जाते हैं। 'जैन रामायण'—'अद्भुत रामायण'-'वशिष्ठ रामायण' और 'अध्यात्म रामायण' के विषय में यही कहा जा सकता है। इस लेख में यही बताया गया है कि ई० प्रथम शताब्दि में परिपूर्ण हुई वाल्मीकि रामायण से निकल कर किस तरह जैन रामायणें' विकसित हुई हैं। यह रामायण-साहित्य में एक नया प्रयास होगा*। जैनों की मान्यता के अनुसार 'जैन रामायण' १८वीं शताब्दी तक प्रचलित थी। 'रामकथावतार' (१७९७ ई०) के लेखक देवचंद्र+ ने 'रामायण' का विकास तीर्थंकर आदिदेव द्वारा हुआ बताया है। इन प्रथम तीर्थंकर ने भरत महाराज को रामकथा सुनाई थी। गुरुपरम्परा से यह कथा प्रचलित रही और अन्त में अन्तिम तीर्थंकर महावीर को उपलब्ध हुई। भ० महावीर ने वह रामकथा मगध के राजा श्रेणिक को सुनाई। तब से कूचि भट्टारक, नंदिमुनि, कवि परमेष्ठी, रविषेण, वीरसेन, सिद्धसेन, पद्मनन्दी, गुणभद्र और सकलकीर्ति ने उस पर रचनायें रचीं। कन्नड भाषा में चामुंडराय, नागचंद्र, माघनंदि सिद्धांती, कुमुदेन्दु, नयसेन आदि ने रामायण की रचना की थी। देवचंद्र ने अपने ग्रन्थ के अन्तिम भाग में लिखा है कि उन्होंने गुणभद्राचार्य के 'त्रिषष्ठिलक्षणमहापुरुषपुराण' एवं अन्य जैन पुराणों के आधार से किन्हीं संदिग्ध स्थलों को स्पष्ट कर दिया है।

*प्रो० चक्रवर्ती ने "जैनरामायण" पर एक लेख इसके पूर्व अंग्रेजी 'जैनगजट' में प्रकट कराया था—लेखक

जब रामकथा के गीत वाल्मीकि 'रामायण' से पहले लोगों में प्रचलित थे, तब यह कैसे माना जाय कि उन गीतों के आधार से नहीं बल्कि वाल्मीकि रामायण के आधार से जैन रामायण सिरजी गई ?

—अनुवादक

+Lives of Kannada Poets, Vol. III, 150. इन्हीं लेखक ने कर्नल मेंकेन्जी सा० को प्राचीन साहित्य की खोज में सहायता दी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस मान्यता का वह अंश कि रामकथा आदि तीर्थंकर ने बताई थी अनैतिहासिक समझना ठीक है। क्योंकि जैनपुराणानुसार रामकथा का अवतरण बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में हुआ है। हां, महावीर जी के पश्चात् जो मान्यता देवचन्द्र ने बताई है, उसका आधार प्रायः ऐतिहासिक है, क्योंकि उल्लिखित कवियों में से किन्हीं की रचनायें उपलब्ध हैं। कूचि भट्टारक और नन्दिमुनि के विषय में अधिक नहीं जाना जाता; तो भी चामुंडराय (९७८ ई०) ने लिखा है कि प्रत्येक ने एक एक 'महापुराण' रचा था‡। पंप कवि (९४१ ई०) ने जिनकी प्रशंसा की है वह संभवतः उपर्युल्लिखित कवि परमेष्ठी थे। कहा जाता है कि कवि परमेष्ठी ने 'त्रेसठ' शलाका पुरुषों के चरित्र का परिचायक एक पुराण लिखा था*। चामुंडराय यह भी बताते हैं कि जिनसेन (७८३ ई०) ने अपना 'आदि पुराण' कवि परमेष्ठी के 'महापुराण' के आधार पर रचा था। अतः यह स्पष्ट है कि कवि परमेष्ठी सन् ७८३ ई० से पहले इस धरातल को सुशोभित करते थे। उनके पुराण में रामकथा अवश्य होना चाहिए क्योंकि ६३ शलाका पुरुषों में राम-लक्ष्मण की भी गणना है। रविषेण प्रख्यात 'पद्मपुराण' अर्थात् 'महारामायण' के कर्त्ता हैं, जिसे उन्होंने सन् ६७८ ई० में रचा था‡। वीरसेन और सिद्धसेन का परिचय अज्ञात है। पहले संभवतः वही वीरसेन हों जो जिनसेन के गुरु थे। दूसरे सिद्धसेन संभवतः वही हों जिनकी प्रतिभा की प्रशंसा चामुंडराय ने खूब ही की है+पद्मनंदी का भी कुछ परिचय अप्राप्त है। प्रथम शताब्दी के कुंदकुंदाचार्य का अपर नाम भी पद्मनंदी था, परन्तु वह तो शायद यह पद्मनंदी नहीं हो सकते। जैनसाहित्य में गुणभद्राचार्य का नाम प्रसिद्ध ही है। सकलकीर्ति नामक एक लेखक का अस्तित्व ईस्वी १५वीं शताब्दी में विदित है, किन्तु उन्होंने कोई 'जैन रामायण' लिखी हो इसका पता नहीं*। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यहां किस सकलकीर्ति से अभिप्राय है। देवचन्द्र ने जिन कन्नड कवियों का उल्लेख किया है वे सर्वज्ञात हैं। हां, यह द्रष्टव्य है कि माघनन्दी और नयसेन की रचीं हुई रामायणें उपलब्ध नहीं हैं।

इस विवत्ता से स्पष्ट है कि जैन साहित्यक इतिहास से उपर्युक्त मान्यता का समर्थन होता है। यद्यपि बहुत से ग्रन्थ आज अनुपलब्ध है, फिर भी रविषेण और गुणभद्र की रचनायें अवशिष्ट है। मजे की बात यह है कि प्राकृतभाषा में रची हुईं रामायणों के लेखकों का उल्लेख इस मान्यता में नहीं हुआ है। इन लेखकों में विमलसूरि सर्व प्राचीन हैं। अन्य

‡चामुंडरायपुराण, श्लोक २४
*Ibid verse 5
‡Hiralal's Catalgue, XXI.
+ चामुंडरायपुराण, श्लोक ४
*History of Indian Literature, II, 496, 592.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…भाषा में रामायण के लेखक हेमचन्द्र और चौमुह थे। संभव है कि देवचन्द्र इनसे …चित न हों। जो हो, निस्सन्देह जैन 'रामायणों' का बाहुल्य उल्लेखनीय है।

वाल्मीकि की 'रामायण' के प्रति इन जैनलेखकों का रुख क्या रहा है? इसको विमलसूरि …र उनके निकटवर्ती रविषेण ने अपने आदर्श से स्पष्ट कर दिया है। विमलसूरि ने अपना …चरियं' महावीर निर्वाण के ५३० वर्ष बाद रचा था, यह वह स्वयं कहते हैं। दूसरे …ों में उनकी यह रचना ईस्वी ३री व ४थी शताब्दी की है, क्योंकि भ० महावीर की …ण तिथि ५२७ ई० पू० मानी जाती हैं। जैनसाहित्य के अपने वर्तमान ज्ञान के आधार …हम कह सकते हैं कि विमलसूरिजी पहले जैन महाकवि थे जिन्होंने वाल्मीकि 'रामायण' …ा निरीक्षण जैनधर्म और जैनाचार की दृष्टि से किया था। यह बात सम्राट् श्रेणिक के …ख से निरूपी गई हैं। श्रेणिक का मन प्राचीन रामायणों के संदिग्धस्थलों से द्विविधा में …ड़ा हुआ था। उन्होंने भ० महावीर के प्रमुख गणधर गौतम से उनका समाधान चाहा। …णिक यों सोचने लगे कि "राक्षसों में महान् बलवान् की पराजय वानरों द्वारा कैसे हो सकती …? क्या यह अविश्वसनीय नहीं है कि कुम्भकर्ण साल के प्रथम छः महीनों तक बराबर …ना भूख प्यास की बाधा के पड़े सोते रहे—यहां तक कि उनके कानों के पास घोर शब्द …ये जाने पर उनकी निद्रा भङ्ग नहीं होती थी? और उससे भी अधिक अविश्वसनीय …ह कथन है कि सोकर उठते ही कुम्भकर्ण हाथी और भैंसे निगल जाते थे? भला रावण और …न्य राक्षस जो जैनी थे वह कैसे मनुष्य का रक्त पी और मांस भक्षण कर सकते थे? …ाह! यह 'रामायण' तो असत्य, गन्दी और संदिग्ध है। अपनी शंकाओं को निवृत्त …रने के लिये संसार में आज अनेक ज्ञानी पुरुष हैं।" अतः श्रेणिक गौतम स्वामी के पास …हुंचते हैं और उनके सम्मुख अपनी शङ्काओं को उपस्थित करते हैं। गौतमस्वामी इसी …संग में रामायण की कथा को निरूपते हैं। और कहते हैं 'श्रेणिक नृप! ध्यान से सुनो। …मैं वही कहूंगा जिसे पहले केवली भगवान् कह चुके हैं। रावण मांस भक्षक राक्षस नहीं है। …दुष्ट और मूर्ख कवियों द्वारा कही गईं सब ही बातें नितान्त असत्य हैं।"

यह कथन पौराणिक क्षेत्र का है, परन्तु इसमें अपना कुछ महत्त्व भी है। विमलसूरि जैसे त्यागी महात्मा जैनी को राक्षसों के भयानक दुराचार पूर्ण व्यवहार जैसे कि वाल्मीक ने …ा है, पूर्णतया अमानुषिक तथा क्षोभदायक प्रतीत हुए। उनकी विचारशक्ति पर एक प्रबल प्रहार हुआ। इतना होने पर भी वह अपने सहधर्मियों को वाल्मीक रामायण की तरह एक रामायण प्रदान करने के कार्य्य से दूर न रह सके क्योंकि रामायण उन दिनों इतनी ही प्रचलित हो चुकी थी जितनी कि आधुनिक काल में है। साधारण जनता का इस से रक्त-मांस जैसा घनिष्ट सम्बन्ध हो गया था। लोगों के चरित्र पर इसका अत्यधिक उत्तम प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता था जिसके लिये यह ग्रन्थ जगत विख्यात हो चुका था। इसीलिये प्रत्येक धर्मावलम्बियों ने इसको अपने धार्मिक ग्रन्थों तथा पाठ्य पुस्तकों में स्थान दिया था। बौद्धधर्मानुयायियों ने ऐसा ही किया प्रतीत होता है। "दशरथ जातक" में रामायण का एक भाग ले लिया गया है। उस कथा में रावण का नाम भी नहीं है। बौद्धों की दृष्टिकोण में रामायण का महत्त्व उसके प्रमुख पात्र रामचन्द्र के भोलेभाले स्वभाव त्यागभाव तथा कर्त्तव्य परायणता के ही कारण था। उन्होंने केवल सदाचार पर ध्यान दिया जो कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म का एक प्रधान अंग था। वह यहां तक विश्वास करते हैं कि बुद्ध ने ही इससे प्रथम राम के रूप में जन्म लिया था। रावण के चरित्र को अपने धर्मानुकूल बनाने में उनको बड़ी कठिनता उपस्थित हुई इसीलिये वह उसे अपने इस ग्रन्थ में स्थान न दे सके। परन्तु कुछ शताब्दियों के उपरान्त लंकावतार के रावण को जो ४४३ ई० पू० में लिखा गया था, एक बौद्ध महायान का रूप दिया गया है, जो कि बुद्ध जी का एक अनुयायी धर्मात्मा था। मगर इसमें उसके सीता जी के अनुराग का कथन पूर्णरूप में उड़ा दिया गया है। कहानियों के रूप में यह बौद्धों का कथन सरसता से बहुत दूर है।

जैनों का दृष्टिकोण बड़ा मनोरंजक है। यह सत्य है कि जैन धर्म के पवित्र ग्रंथ प्रायः शुष्क भाषा में लिखे गये हैं और जहाँ तक मुझको ज्ञान है उनमें साधारण सांसारिक बातों का वर्णन जैसा कि बहुत सी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में मिलता है, नहीं है। जैन रामायण इनसे विपरीत है और जैनधर्मावलम्बियों की महान उदारता का दिग्दर्शन कराती है। जैनशास्त्रकार रावण के चरित्र को मानुषिक तथा अति उच्च सिद्ध करने में वहाँ तक सफलीभूत हुए जहाँ तक बौद्धों का ध्यान भी न पहुंच सका। यह वर्णन कि यह परिवर्तन कैसे हुआ उल्लेखनीय है।

जैनधम अपने को सार्वभौम धर्म सिद्ध करता है। जैनधर्म कहता है कि मनुष्य ही नहीं तिर्यंच और नारकी तक पक्के जैनी हो सकते हैं अगर वह इस धर्म में श्रद्धान करें। चाहे जैसा दुष्ट तथा तिरस्कृत पुरुष क्यों न हो यदि वह उचित समय पर कर्म बंधनविच्छेद करना प्रारंभ करता है तो वह अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होगा। आत्मा की जन्ममरणयात्रा में कर्म का प्रधानतया हाथ है। इस मतानुसार रावण किसी भी प्रकार घृणा अथवा तिरस्कार का पात्र नहीं है। इसके प्रतिकूल वह हमारी सहानुभूति प्राप्त करने योग्य है। विमल सूरि ने भी अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। प्रारम्भ में ही उन्होंने कह दिया है कि रावण दुष्ट प्रकृति वाला राक्षस नहीं था। वाल्मीकि के अनुसार वह एक राक्षस अनार्य्य तथा मनुष्य व देवताओं का प्रबल शत्रु था। उनके मतानुसार उस के कालिमायुक्त-चरित्र में कोई भी उज्ज्वल स्थान नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह संसार के सम्पूर्ण दुराचारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुतला था। परन्तु विमलसूरि ने एक अलहदा ढङ्ग से उसका चरित्र चित्रण किया जो कि पूर्णतया मानुषिक है। मनुष्य की प्रकृति पूर्णतया मानुषिक या अमानुषिक नहीं हो सकती। मनुष्यप्रकृति सदाचार व दुराचार का मिश्रण होती है। इन दो में से किसी एक का दूसरे से बढ़ जाना मनुष्य को भला या बुरा बना देती है। इसलिये वाल्मीकि द्वारा उपस्थित किया गया रावण का चित्र अतिशयोक्तियों से परिपूर्ण है। यह आर्य्य की एक अनार्य्य की ओर घृणा प्रदर्शित करता है। विमलसूरि ने इस अन्याय को जान कर एक ही बार में, (लेखनी द्वारा ही नहीं वरन् विचारों द्वारा भी) उसको मनुष्य बना दिया। राक्षस का भद्दा बाह्यरूप क्षण भर में एक श्याम घटा के समान विलीन हो गया। वह रूप बड़ा सुन्दर हो गया और अब रावण सर्वगुण सम्पन्न बन गया। विमलसूरि उसको इस प्रकार वर्णन करते हैं। "शरीर गेहुंआ, रत्न के समान कान्तिवान्, मुख पूर्णविकसित कमलस्वरुप, दीर्घकाय वक्षःस्थल, बलवान् लम्बी भुजायें पतली कमर, सिंह के समान पुट्ठे हाथी के समान रानें, ग्राह के समान पैर, रत्नजटित नवीन आभूषणों से विभूषित यह रावण संसार के पुरुषों के राजा इन्द्र के समान ऐश्वर्यवान प्रतीत होता था।" वास्तव में यह रूप एक हद तक मानने योग्य है। उसके असाधारण शिर तथा भुजायें विलीन हो जाती हैं और वह एक साधारण मनुष्य का शरीर धारण करता है। विमलसूरि के जादू भरे स्पर्श से न केवल रावण को मनुष्यरूप प्राप्त हो गया वरन् मनुष्य हृदय भी प्राप्त हुआ। उसके हृदय में कोमल एवं सुन्दर विचारों का वास हो गया। "पउम चरिय" में बहुत से उदाहरण हैं, जिन से रावण के हृदय की उच्चता सिद्ध होती है। एकाध उदाहरण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं:—

एक बार त्रैलोक्य विजय में संलग्न रावण ने वरुण को परास्त कर के बन्दी बनाया। वरुण के प्रजागण शोकातुर होकर विलख विलख रो रहे थे। रावण ने उनका विलाप सुना और दयार्द्र होकर वरुण को स्वतन्त्रता तथा उसका राज्य सौंप दिया। उसके जीवन की अंतिम घड़ियों में जब कि मृत्यु और अपमान उसकी शोकाकुल आत्मा के निकट मँड़रा रहे थे, वह पछताता है उस दुश्कार्य्य के लिये जो उसने सीता के साथ उसको उसके पति से दूर रखने तथा दुःख आदि देने में किया था। वह स्वयं अपने से घृणा करता है विलाप करता है, अपनी माता से बिछुड़े हुए बालक के समान बेचारी सीता के दुखों पर रोता है। कविताद्वारा विमल सूरि रावण को सर्वोच्च मनुष्य से भी उच्च मानने के लिये हमें बाध्य करने के प्रयास में पूर्ण सफलीभूत हुए हैं।

कवि एक पग आगे और बढ़ता है रावण को जैनधर्मानुयायी बनाता है। इसका अर्थ यह है कि रावण हिंसा से दूर अथवा किसी जीवधारी को दुःख अथवा क्षति पहुंचाने से दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है। रावण की लड़ाइयों के वर्णन में कवि ने इस बात का विशेष ध्यान रक्खा है। रावण सब राजाओं को मार कर तीन खण्ड का चक्रवर्ती राजा नहीं बनता है केवल उनको हराकर और दासता स्वीकार कराकर छोड़ देता है। शायद ही कोई राजा उसके हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ हो। वह अहिंसा के सिद्धांत का विशेष ध्यान रखता था। एक बार राजपुर का शासक मारुत बलि दे रहा था। जब रावण ने सुना तो वह वहाँ गया। उसको मारने के विचार से नहीं वरन् इस दुष्कर्म को रोकने के लिये। यह कार्य्य उचित ही था क्योंकि बलि में प्रत्यक्ष रूप में हिंसा होती है। वाल्मीकि के रावण के विपरीत जो कि साधुओं का शत्रु था, विमलसूरि का रावण जैन मुनियों का अनन्य भक्त था। वह उनको साष्टांग प्रणाम करता है और उनसे धर्मश्रवण करता है। एक बार वह श्रीमुनि अनन्तवीर्य केवली के समीप गया और उनका धार्मिक व्याख्यान श्रवण किया। वह हरिषेण की पवित्र कथा सुनकर बहुत हर्षित हुआ। तीन खण्ड की विजय के पश्चात् उसने जैन तीर्थंकरों के मंदिरों की स्थापना के द्वारा जैनधर्म का प्रचार किया। इस प्रकार विमल सूरि ने उसको जैनधर्मावलम्बी बना कर उसका आचरण अति उच्च कर दिया है।

इन बातों पर ध्यान देने के पश्चात् विमलसूरि का यह कथन कि रावण एक श्रेष्ठ तथा संपूर्ण राज्यगुणविभूषित राजा था पाठकों को आश्चर्य में नहीं डाल सकता एक राजा की अपेक्षा वह शक्तिवान्. महान् तथा अद्वितीय शासक था। विमल सूरि रावण को एक महान् राजा के समान ऐश्वर्यवान् वर्णन करते हैं। अपनी विजय यात्रा समाप्त करने के पश्चात् रावण अतुल सम्पत्ति, कीर्त्ति तथा वैभव का स्वामी बन गया, अनेक विद्याधर उसके दास हो गये। तीन खंड में उसका कोई भी शत्रु नहीं रहा, उसकी राजधानी के नागरिक उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगे। जिस देश में उसका शुभागमन होता है वह देश स्वर्ग के समान धन, धान्य तथा रत्न से पूरित हो जाता है। वहाँ पर फिर अकाल का भय नहीं रहता। उस देश में पुण्य का वास हो जाता। हरी-भरी पर्वतीय झरनों सहित, 'कुटज' पुष्पों से सुशोभित भूमि एक नवयौवना सुन्दरी के अनुरूप दशानन के शुभागमन पर मधुर मुस्कान से उसका स्वागत करती। पूर्वजन्म के शुभ कर्म्मों के परिणाम स्वरूप रावण इन सुख, कीर्त्ति तथा ऐश्वर्य को भोगता। विमल सूरि एक शब्द में ही रावण की संपूर्ण महत्ताओं का वर्णन करते हैं, वह शब्द है 'प्रवरपुरुष' अर्थात् सर्व श्रेष्ठ पुरुष।

मैंने विमलसूरि के रावण के आचार के कथानक का संक्षिप्त परिचय दिया है। उन्होंने उसे सर्वश्रेष्ठ पुरुष, एक जैनी तथा पूर्ण राजा वर्णन किया है। परन्तु ऐसा शक्तिवान् राजा भी मृत्यु को प्राप्त होना चाहिये। यहाँ पर यह सिद्धांत आता है। विमल सूरि उसको प्रति वासुदेव (प्रतिनारायण) त्रेसठ शलाकाधारी पुरुषों में से एक बताते हैं। उसकी मृत्यु अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तु वसुदेव के ही द्वारा होनी अनिवार्य्य है। उनके मध्य शत्रुता का भी कोई कारण होना आवश्यक है। अस्तु, रावण द्वारा सीता की चोरी ही उसके विनाश का कारण बनती है। यह बात रावण को नारद मुनि के द्वारा पूर्णतया ज्ञात हो चुकी थी। यह भविष्यवाणी थी कि रावण की मृत्यु राजा जनक की पुत्री सीता के कारण राजा दशरथ के पुत्रों के द्वारा होगी। रावण ने दशरथ और जनक को मारकर ऐसी मृत्यु से बचना चाहा मगर दुर्भाग्यवश वे दोनों विभीषण के हाथ से निकल गये और विभीषण उनकी मोम की बनी हुई मूर्त्तियों को ही वास्तविक दशरथ व जनक जान काट कर चला आया।

इसी प्रसंग में हमको एक दूसरी बात पर भी ध्यान देना है। रावण की मृत्यु का कारण उसका सीता के प्रति अनुचित अनुराग था। विमल सूरि ने रावण के चरित्र चित्रण के द्वारा ब्रह्मचर्य्य रहित जीवन के भयानक विनाशकारी परिणामों को पाठकों के सम्मुख उपस्थित करना चाहा। ब्रह्मचर्य्य जैनियों के पाँच व्रतों में से एक व्रत है। चाहे जैसा महान् व चरित्रवान् पुरुष हो यदि किसी समय वह ब्रह्मचर्य्य पथ से डिग जाता है तो उसकी मृत्यु बड़े दुःख व घोर अपमान सहित होती है। यदि कोई मनुष्य स्वभाव से ही दुराचारी हो तो उसकी दुर्दशा में किसी प्रकार की शंका करना घोर मूर्खता है, इसलिये विमलसूरि सीता के मिलाप के पूर्व तक रावण के ब्रह्मचर्य्य का ध्यान रखते हैं। मन्दोदरी के अतिरिक्त रावण के अनेक विवाहिता रानियाँ थीं। अपनी विश्वविजय की यात्रा में एक बार नलकूबर की राजधानी में उसका आगमन हुआ। नलकूबर की पत्नी उपरम्भा जो कि अपने पति से प्रसन्न नहीं थी रावण से लड़कपन से ही प्रेम करती थी। जब उसको यह ज्ञात हुआ कि रावण उसके इतने समीप है तो उसने अपने रूपद्वारा रावण को अपने वश में करना चाहा, परन्तु रावण उसके जाल में न फँसा। इसके अतिरिक्त उसने उपरम्भा को समझाया कि उसको अमूल्य शीलरत्न की रक्षा करना चाहिए और अपने कुल की मर्यादा नहीं खोना चाहिये। रावण इस परीक्षा में पूर्ण सफल रहा। रावण को अपने ब्रह्मचर्य्य में किसी प्रकार की दुर्बलता का आभास मिला और इसलिये उसने अनन्तवीर्य्य के निकट एक व्रत पराङ्गनाविरत ग्रहण किया। और नारी रूपी शत्रु से अपनी रक्षा करने के लिये एक सुदृढ़ दुर्ग की स्थापना की। उसका सीता पर आसक्त होना उसकी दुर्बलता का द्योतक है और इस दुर्बलता का दंड उसे अच्छी तरह भोगना पड़ा। वह पूर्ण त्यागी न था।

अब यह स्पष्ट हो जाता है कि विमल सूरि का वाल्मीकि कृत रामायण के रावण के चरित्र को जैनधर्म के सिद्धांतों के अनुरूप कविताबद्ध करना एक अनोखी सूझ है। यूनानी विद्वान् अरिस्तू का यह सिद्धांत है कि दुःखान्त कथा के नायक का अद्वितीय त्याग और सत्यप्रियता को प्रधानता न देना चाहिये। परन्तु उस पर आई हुई विपत्ति का कारण उसके पाप न बताकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दृष्टि की त्रुटि होना बताना चाहिये।' यह विमल सूरि के रावण के लिए पूर्णतया उचित सिद्ध होता है। विमलसूरि के कथन का महत्त्व वहां पर बढ़ जाता है जब कि रावण की दुःखद घटना उनके हृदय में दया का संचार करती है। एक कवि व कलाकार की अपेक्षा विमलसूरि की निपुणता रावण के चरित्र चित्रण में पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है। रावण को उन्होंने अपनी कथा का प्रधान नायक माना है यद्यपि वह अपनी कथा का नाम 'पउमचरिय' रखते हैं जो कि रामचन्द्रजी का उपनाम है। रामचन्द्र की अपेक्षा रावण हमारा ध्यान अधिक आकर्षित करता है और हमारे मस्तिष्क में सदा के लिये वास कर जाता है। रावण का चरित्र मनुष्योपयोगी बातों से परिपूर्ण है।

मैं विमल सूरि के वाल्मीकि रामायण के आधार पर लिखने का कारण और इस आधार पर रची हुई कविता की सुन्दरता पर एक संक्षिप्त प्रकाश डाल चुका हूं। उन्होंने हमको एक नवीन रावण दिया है जिसके साथ हमको सहानुभूति हो सकती है। उनका अदम्य साहस एक नई रचना को जन्म देता है, उनका कार्य्य एक कवि की विचारशक्ति की उड़ान की अपेक्षा कवियों के लिए एक उदाहरण है। उन्होंने बाद के कवियों के लिए एक मानचित्र छोड़ दिया जिसके आधार पर कि वह अन्य रचनायें रच सकें। इस प्रकार उन्होंने एक नवीन 'पद्धति' को जन्म दिया। प्राकृत भाषा के लेखकों में जिन्होंने श्रीविमल सूरि का अनुसरण किया है, उनमें 'पउमचरिय' के रचयिता 'चौमुंह' वर्णन करने योग्य हैं। दशम शताब्दी में रचित 'हरिवंश पुराण' ग्रंथ के रचयिता धवल ने उनके बावत् कुछ वर्णन किया हैं। उसी नाम का एक ग्रंथ के १२००० श्लोकों का एक भाग स्वयंभू देव ने रचा है, वह भाग उपलब्ध है। वह अपनी रचना समाप्त न कर सके अतः त्रिभुवन स्वयंभू नामधारी एक दूसरे लेखक द्वारा वह पूर्ण हुआ। परन्तु वह दूसरा भाग जो इस प्रकार पूर्ण हुआ अब उपलब्ध नहीं है। ग्वालियर के यशःकीर्त्ति भट्टारक ने उपरांत उसको पूरा किया है। स्वयंभू देव का अस्तित्वकाल सप्तम व दशम शताब्दी के मध्य है। मैं इन दोनों ग्रंथों को प्राप्त करने में असमर्थ रहा। यद्यपि मेरा इन ग्रन्थों को विमल सूरि पद्धति के अनुसार कहना केवल अनुमान पर है परन्तु इस आधार पर कि उनके नाम एक से हैं और उनमें एक ग्रन्थ का उपलब्ध भाग विमल सूरि की रचना से मिलता हैं इस कल्पना को सत्य सिद्ध करता है।

विमलसूरि के अनुसरण करने वालों में सर्व प्राचीन संस्कृत रचनाकार 'पद्मपुराण' अथवा 'महा रामायण, के रचियता रविषेण हैं। उन्होंने विमलसूरि की रामायण को एक वृहत् रूप दे दिया है। वर्णित अध्यायों का अधिक संख्या में होने से ग्रन्थ को बढ़ा दिया गया है। उनका कार्य्य सरल और सीधा है। कहीं २ पर उनके श्लोक विमलसूरि के श्लोकों का केवल अनुवाद रूप ही मिलते हैं। उनकी रचना विमलसूरि की रचना से पूर्णतया मिलती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...न्द्र की रामायण का नाम दूसरे नम्बर पर आता है जो विद्वानों की पूर्वपरिचित है। ...जय गणी ने एक रामचरित की संस्कृत गद्य में रचना की। उन्होंने हेमचन्द्र का ...रण किया है। कन्नड साहित्य में विमलसूरि के अनुयायिओं में जैन रामायणों के ...य में नागचन्द्र का नाम प्रमुख है, जिनका कि दूसरा नाम अभिनव पम्प है। ...कथा की रचना में बड़ी योग्यता का परिचय दिया है और अनावश्यक बातों में काट ...कर के उसको असली रामायण से अधिक सुन्दर बना दिया है। उनकी शैली सरस और ...है। उसने कन्नड़ भाषा की अन्य जैन रामायणों के लिए एक मानचित्र तय्यार कर दिया ...उनमें कुमुदेन्दु का नाम मुख्य है, जिसके नाम पर ही उसकी रचना का नाम कुमुदेन्दु ...यण रख दिया गया है। यह ग्रन्थ तेरहवीं शताब्दी में रचा गया था। यह सुपरिचित ...द छन्दों में रचा गया है। इनकी रचना में इस छन्द के छहों प्रकार के छन्द पाये ...हैं। इसके अतिरिक्त कुछ रागल छन्द हैं। उसने नागचन्द्र की उपमाओं और ...कारों का दुवारा अपनी रामायण में उपयोग किया है, जिससे सिद्ध होता है कि उन्होंने ...न्द्र का अनुसरण किया है। देवप्पा ने १५२५ ई० में साँगत्य छन्द में रामविजय ...की रचना की है। देवचन्द्र ने जिनके बाबत् अभी वर्णन हो चुका है अपनी रचना ...थावतार में नागचन्द्र के बहुत से छन्दों को शामिल कर लिया है। इसके बाद ...सागर वर्णीने जैन रामायण की रचना भामिनि षट्पद छन्दों में उन्नीसवीं शताब्दी ...किया है।

विमलसूरि के अनुसरण करने वालों का शिजरा निम्न प्रकार है।

पउमचरिय
(विमलसूरि)

प्राकृत	संस्कृत	कन्नड
(१) पउमचरिय (चौमुह)	१ पद्मपुराण (रविषेण)	१ पम्प रामायण (नागचन्द)
(२) पउमचरिय स्वयंभूदेव, त्रिभुवन स्वयंभू, यशःकीर्त्ति भट्टारक	२ जैन रामायण हेमचन्द्र	२ कुमुदेन्दु रामायण (कुमुदेन्दु)
	३ रामचरित (देवविजयगणी)	३ राम विजय चरित (देवप्प)
		४ रामकथावतार (देवचन्द)
		५ जिनरामायण (चन्द्रसागर वर्णी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विमलसूरि और वाल्मीकि रामायण की कुछ बातें जिनमें कि एक दूसरे में बहुत अन्तर पड़ गया है अब यहाँ दी जाती हैं। 'पउमचरिय' का सार संक्षिप्त में वही है जो वाल्मीकि रामायण का है। शम्भूक एक नीच गोत्र का मनुष्य था जो कि एक साधु का रूप धारण किए था। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाँड में बताया गया है कि उसकी मृत्यु राम द्वारा हुई। विमलसूरि इस घटना को बड़ी बुद्धिमत्ता से एक नई प्रकार से वर्णन करते हैं। इनकी रामायण में शम्भूक चन्द्रनखा का पुत्र बताया गया है। चन्द्रनखा रावण की बहिन और खर की स्त्री थी। लक्ष्मण भ्रमणावस्था में एक बाँस की झाड़ी देखते हैं उसमें एक तलवार फूलों से पूजी हुई घुसी हुई है। लक्ष्मण इसकी धार की परीक्षा करने के लिए बाँसों पर एक तलवार का भरपूर हाथ मारते हैं। एक ही हाथ में बाँस कट पड़ते हैं उन बाँसों के साथ एक लड़के का कटा हुआ सिर देखते हैं। यह लड़का शम्भूक था। लक्ष्मण अपने से अजान में हुई भूल के लिए पश्चात्ताप करते हैं। कला की अपेक्षा विमलसूरि का यह कल्पना कार्य्य सराहनीय है। 'पउमचरिय' के अनुसार सुग्रीव और हनुमान् वानर वंशी लोगों के शासक थे। रावण को कर दिया करते थे। हनुमान् वरुण के विरुद्ध लड़े गये युद्ध में उसकी सहायता करते हैं। राम और लक्ष्मण के यहाँ कई व्याह हुए हैं जिससे राम का सीता के प्रति अथाह प्रेम प्रकट नहीं होता। अतः यह बात प्रशंसा योग्य नहीं है। यह वासुदेव लक्ष्मण थे जिन्होंने रावण को मारा था। रामचन्द्र उसी जन्म वा देह से मोक्षगामी थे। अतः वह हिंसाकर्म्म कर के अपने को नरक में क्योंकर डाल सकते थे। लक्ष्मण रावण को मारने के कारण नरक गये। सीता को प्रभामंडल नाम का एक भाई था जिसने कि बड़े २ साहसोचित कार्य्य किए हैं। अन्तर कहीं कहीं पर मिलता है। इसकी कथा वही है जो वाल्मीकि रामायण की है। अतः यह कहा जा सकता है कि विमलसूरि का स्कूल वाल्मीकि का स्कूल है। यह स्कूल ही अधिक ख्याति प्राप्त कर चुका है क्योंकि रावण का चरित्र जो इस कथा में अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है मनुष्य के मस्तिष्क के लिए बड़ा रुचिकर है।

अब मैं जैन रामायण की एक दूसरी शाखा का वर्णन करूँगा। चूँकि मैं गुणभद्राचार्य से प्रथम के किसी भी रामायण के रचियता को नहीं जानता, अतः इस शाखा को उन्हीं के नाम से पुकारूँगा। गुणभद्र ने अपनी रामायण को श्रीमुनिसुव्रत नाथ जिन के जीवनचरित्र, उत्तर पुराण के ६८ वें पाठ में एक पूरक कथा की तरह वर्णन किया है। उस कथा का ढाँचा निम्न प्रकार है।

रत्नपुर के राजा प्रजापति को चन्द्रचूड़ नामधारी पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई जिसके मित्र का नाम विजय था। उनके कुबेर की कन्या के साथ बलात्कार करने के प्रयत्न के कारण उनको देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ला दिया जाता है। वह एक पहाड़ी पर छोड़ दिये गये। उस पर एक साधु रहते थे। साधु के पास बड़े आदर भाव के साथ जाते हैं और मुनिव्रत धारण करते हैं। वह मुनि व्यवाणी करते हैं कि तुम तीन भवों के पश्चात् अष्टम वासुदेव व बलभद्र होगे। वह कुमार स्वर्ग में जाकर कनकचूल तथा मचूल नाम के देव होते हैं। वहाँ से फिर वह राज्य के शासक दशरथ की राजधानी वाराणसीपुर में राजा दशरथ के यहाँ राम और ण नाम से जन्म धारण करते हैं। इनके जन्म के पश्चात वह साकेतपुर को अपनी धानी बना लेते हैं। यहाँ पर भरत और शत्रुघ्न उत्पन्न होते हैं। राजा जनक औ की वसुधा को एक लड़की मिलती है जिसका नाम वह सीता रखते हैं। एकबार जनक ने होम करने का विचार किया मगर रावण के भय से वह ऐसा न कर सके। लिए उन्होंने निश्चय किया कि जो कोई भी उनको बलि यज्ञ करने में रावण के विरुद्ध यता करेगा वही सीता को व्याहेगा। यहाँ पर तमाम बलियज्ञों के पापमय परिणामों विरुद्ध एक लम्बा वर्णन है।

उपरान्त रावण की जन्मकथा वर्णित है। अपने तीसरे पूर्व भव में वह सार समुच्चय के देश में नरदेव नामक पुरुष था। वह मृत्यु को प्राप्त होकर सौधर्मकल्प में देव हुआ। देव चय कर के लंका के राजा पुलत्स्य की रानी मेघश्री का पुत्र रावण हुआ। एकदा ण की भेंट मणिमती नामक साध्वी से हुई, जो तपस्या कर रही थी। रावण ने उसे लित करने की कोशिश की। मणिमती को इस पर क्रोध आ गया और उसने निदान या कि वह रावण की पुत्री होकर उससे अपना बदला चुकायगी। वह मरी और मंदोदरी गर्भ से रावण के पुत्री हुई। उसके जन्म समय अनेक अपशकुन हुए। इसलिए ही से एकान्त में मिथिला के पास छोड़वा दिया गया। जनक यज्ञ करने के लिए भूमि ढूंढ़ रहे । वह कन्या उन्हें मिल गई। उन्होंने उसे वसुधादेवी के सिपुर्द कर दिया और उसका म सीता रख दिया। जनक के बुलाने पर राम मिथिला गए। जनक ने प्रसन्न हो ता का व्याह राम से कर दिया। राम साकेत वापस आए और कुछ दिनों बाद लक्ष्मण और सीता को लेकर वाराणसी में आकर राज्य शासन करने लगे। दशरथ को यह विछोह सह्य हुआ; परन्तु राम ने एक नृप का कर्तव्य समझाकर उन्हें संतोषित किया। नारद हाराज रावण से सीता के सौन्दर्य की तारीफ करते हैं। रावण सीता के रूप पर मोहित ता है और अपनी बहिन सूर्पणखा को सीता की शीलपरीक्षा के लिए भेजता है। वह राश होकर लौटती है। इस पर रावण जाता है। वह वाराणसी की चित्रकूटवाटिका में पहुंचता है, जहां राम और सीता क्रीड़ा कर रहे थे। रावण अपनी विद्या से मारीच का प एक सुन्दर हिरण में पलटता है। सीता हिरण पर मोहित होती है। राम हिरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पकड़ने जाते हैं और दूर निकल जाते हैं। उधर रावण राम का रूप रख कर सीता के पास आता है और उसे लिवा ले जाता है। लंका पहुंच कर रावण सीता को लुभाने की कोशिश करता है, परन्तु सीता अनशन माड़ लेती हैं। राम व लक्ष्मण व्यर्थ सीता को ढूंढ़ते हैं। दशरथ के दुःस्वप्न से उन्हें पता चलता है कि रावण से सीता को कष्ट पहुंचा है। वे वालि, सुग्रीव और आञ्जनेय से मिलते हैं। वालि की मृत्यु लक्ष्मण के हाथ से होती है। आञ्जनेय सीता के समाचार लाते हैं। मन्दोदरी सीता को पहचानती है कि यह मेरी पुत्री है और रावण से कहती है कि उन्हें राम को लौटा दें। युद्ध अनिवार्य होता है। आञ्जनेय पुनः लंका जाते हैं और विभीषण को राम के पक्ष में कर आते हैं। वह लंका जला आते हैं परन्तु रावण आदित्य गिरि पर विद्यासिद्ध करता है। युद्ध में रावण मायामयी सीता का सिर काटता है, जिससे राम शोकग्रस्त होते हैं। विभीषण सान्त्वना देते हैं। लक्ष्मण के चक्र से रावण की मृत्यु होती है। वाराणसी आकर राम मुनिपद धारण कर के केवली होते हैं। लक्ष्मण रावण की हत्या के पाप से पङ्कप्रभा नरक में जाते हैं।

संक्षेपतः गुणभद्राचार्य के अनुसार राम-कथा का यह वर्णन है। उन्हीं के अनुरूप प्राकृत भाषा में भी कोई रामायण हो, इसका पता नहीं। पुष्पदन्त का 'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार' 'उत्तरपुराण' के आधार पर रचा गया है। सम्भवतः उसमें यही रामकथा हो। संस्कृतभाषा में श्रीकृष्ण रचित (सन् १५२८ ई०) 'पुण्यचन्द्रोदयपुराण' है जिसमें यही रामकथा है। कन्नड भाषा में सर्वप्राचीन रामकथा चामुंडराय के 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष पुराण' में है जिसकी रचना सन् ९७८ ई० में हुई थी। वह गुणभद्राचार्य के वर्णनानुकूल है। इसके पश्चात् नागराजकृत 'पुण्याश्रव कथासार' (सन् १३३१ ई०) है। बंधुवर्म के 'जीवसंबोधन' (१२०० ई०) में भी ऐसी ही रामकथा है। यह श्रेणी अब यों समझिये :—

गुणभद्र

- प्राकृत
  - (१) पुष्पदन्त के 'तिसट्ठिमहापुरिस-गुणालंकार' में वर्णित रामकथा।
- संस्कृत
  - (१) पुण्याश्रवकथा (रामचन्द्रमुमुक्षुकृत)
  - (२) पुण्यचन्द्रोदय पुराण (ब्र० कृष्णकृत)
- कन्नड
  - (१) चामुंडरायपुराण
  - (२) नागराजकृत पुण्याश्रवसार
  - (३) बन्धुवर्मा

गुणभद्र की राम कथा विमलसूरि के वर्णन से विभिन्न है। इसमें सीता को रावण की पुत्री बताया है। कई एक रामकथाओं में सीता रावण की पुत्री कही गई है। (देखो हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऑफ इण्डियन लिट्रेचर भा० २ पृ० ४९४) किन्तु गुणभद्र की रामकथा का आधार क्या है? इसका ठीक पता नहीं चलता। शायद 'अद्भुत रामायण' अथवा 'दशरथ जातक' का प्रभाव उन पर पड़ा हो। मारीच का हिरणरूप होने का वर्णन ठीक वाल्मीकि की तरह है। अतः उनका आधार कोई एक विशेष नहीं कहा जा सकता—उन्होंने सब ही जनश्रुतियों से कुछ न कुछ ग्रहण किया प्रतीत होता है। (?) हाँ, गुणभद्राचार्य और विमलसूरि इस विषय में एकमत हैं कि वैदिक यज्ञों का निषेध करें और हरिषेण की कथा लिखें। वह कला की दृष्टि से हेय है। इसीलिये उसका कम प्रचार हुआ है।

भारतीय साहित्य में अन्य रामायणों पर जैन रामायणों का प्रभाव अवश्य पड़ा है। श्री डी० सी० सेन बंगाली रामायणों पर इस जैन प्रभाव को स्वीकारते हैं। डॉ० टॉमस सा० ने एक तिब्बतीय 'रामायण' का विशेष वर्णन लिखा है। इस रामायण की प्रतियां चीनी-तुर्किस्तान से मिली थीं और लगभग सन् ७०० –९०० ई० की हैं। वे स्वतन्त्र रचनायें हैं। उन पर जैनों का प्रभाव स्पष्ट है। विमलसूरि ने रावण के पिता का नाम रयनासव (रत्नास्रव) लिखा है। तिब्बतीय रामायण में भी वही नाम है। इनमें सीता को रावण की पुत्री गुणभद्र के अनुसार ही लिखा है। कन्नड की अन्य रामायणों में जैन प्रभाव नहीं दिखता।

सारांशतः यह स्पष्ट है कि जैन रामायण की वर्णनशैली की दो भिन्न श्रेणियां है, जिनका एक दूसरे से गहन मतभेद है। विमलसूरि ने 'वाल्मीकि रामायण' का अनुसरण किया प्रतीत होता है—जबकि गुणभद्राचार्य का कोई एक केन्द्रीभूत आधार नहीं था। विमलसूरि की रचना कलामय है जबकि दूसरी कथा मात्र कथा है। यह स्पष्ट है कि 'जैन रामायणों' का 'रामायणों' के अध्ययन में एक विशेष स्थान है।

—अनुवादक नेमिचन्द जैन, अलीगंज।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रॉयल ऐशियाटिक सोसाइटी, लंदन में जैन ग्रन्थ'

[लेखक—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

हमारे ख़याल में जैनियों में शायद ही आजतक किसी विद्वान या जैनसंस्था ने अपने प्राचीन ग्रन्थों की शोध का सतत प्रयत्न किया हो, स्थान-स्थान पर घूमकर शास्त्रभंडारों की सार-संभाल की हो और उनकी सूचियाँ बनाई हों। वैसे अनियमित रूप में 'जैन सिद्धान्त भवन, आरा' और 'ऐलक पन्नालाल सरस्वती भंडार, बम्बई' आदि संस्थाओं ने ग्रन्थ संग्रह का कार्य अवश्य किया है; परन्तु वह कार्य सेर में पोनी के बराबर भी नहीं है। आज हमें यह भी पता नहीं है कि हमारे घर में क्या है? हमारे शास्त्रभंडारों में कितने अमूल्य ग्रन्थरत्न छुपे पड़े हैं? आज सारे संसार में हमारी साहित्य रचनाओं की संख्या कितनी और उनका साहित्यक क्षेत्र में क्या स्थान है? हम जैनियों के लिये यह लज्जा का स्थल है कि हमने अपने उपलब्ध साहित्य की सूची भी तैयार नहीं कर पायी है! प्रत्येक जैन-मंदिर में प्रतिदिन हम जिनवाणी की पूजा-अर्चा करते हैं; परन्तु उसकी तरफ से बेखबर हैं कि वह है क्या और कहाँ और कितनी? अपनी माता की जो सारसंभाल नहीं करता और उसे उन्नत नहीं रखता उसे कौन सपूत कहेगा? यदि कोई जैनी जिनवाणी को माता कहता है तो वह अपने हृदय से पूछे कि उसने अब तक अपनी 'माँ' के लिये क्या किया है? और वह प्रण करे कि मैं अपनी 'माँ' का जीवन सुरक्षित रखने के लिये अमुक रूप में कार्य करूंगा। जब प्रत्येक जैनी अपने कर्तव्य को पहचानेगा और जिनवाणी की सच्ची सेवा करने के लिये वद्धपरिकर होगा तो जिनवाणी माता का सुखद-प्रकाश चहुं ओर छिटकता दिखाई पड़ेगा। इस दिशा में हम यूरुपीय विद्वानों की कार्यतत्परता की सराहना किये बिना नहीं रह सकते। वह हमारे अमूल्य ग्रन्थ रत्नो को संग्रहीत कर के पुस्तकालयों में सुरक्षित कर गये हैं—अनेकानेक शास्त्रभंडारों की उन विद्वानों ने शोध की है और कई अप्राप्त ग्रन्थों का उन्होंने पता लगाया है। यह है ज्ञान की सच्ची विनय। इस सच्ची लगन का ही परिणाम है कि अनेक ग्रन्थ लुप्त होने से बच गये हैं। इस नोट में पाठकों के सम्मुख उन जैनग्रन्थों की नामावली हम उपस्थित कर रहे हैं, जो लंदन की 'रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी' के संग्रहालय में हैं। इनमें से प्रायः सब ही ग्रन्थ कर्नल जेम्स टॉड सा० ने राजस्थान में घूम कर प्राप्त किये थे और अन्त में उनको उन्होंने सोसायटी को अर्पण कर दिया था। राजस्थान में प्रायः श्वेताम्बर जैनधर्म का बाहुल्य रहा है—यही कारण है कि संग्रह में प्रायः सब ही ग्रन्थ श्वेताम्बर संप्रदाय के हैं। आजकल लंदन पर जर्मनी के आकाशी आक्रमण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रहे हैं और आशङ्का है कि कहीं यह अपूर्व संग्रह क्षति में न आ जाय ! काश दुनियां में जिनवाणी का प्रचार होता, तो शायद यह नृशंसता न दिखती ! भावना कीजिये कि दुनियां से नृशंसता मिट जाय और प्रयत्न कीजिये कि जिनवाणी का प्रकाश दिगंतव्यापी हो ! सोसायटी के संग्रहालय की ग्रन्थ सूची उसके जून (१९४०) मास के जर्नल में प्रकाशित हुई है। उसी से जैनग्रन्थों की नामावली सधन्यवाद दी जा रही है :—

(१) नं० १० उपदेशमाला या उवएसमाला—प्राकृत-धर्मदासकृत जयशेषर की संस्कृत अवचूरि सहित। ४३ पत्र। १८वीं शताब्दि।

(२) नं० १३ उपदेशरसाल—संस्कृतहिन्दी-रत्नमन्दिर कृत 'उपदेश तरंगिणी' के आधार पर कथा व ऐतिहासिक सूचनायें हैं। ६० पत्र। विक्रम सं० १८६६ मधुमास वद दशम्।

(३) नं० १७ सिद्ध-हेम-शब्दानुशासन—लघुवृत्ति सहित अध्याय ५-संस्कृत—हेमचन्द्र कृत-पत्र १८-सं० १५३१

(४) नं० १८ वासुपूज्य चरित्—संस्कृत-नागेन्द्रगच्छीय वर्द्धमानसूरि कृत महाकाव्य-रचनाकाल १२९९ विक्रम—९४ पत्र असम्बद्ध—१६ वीं शताब्दि।

(५) नं० १९ सन्देह-विषौषधि—भद्रवाहु के 'कल्पसूत्र' पर जिनप्रभकृत संस्कृत वृत्ति। १६ वीं श०। नं० ३० इसी की दूसरी प्रति है।

(६) नं० २० निरयावलिया-सूय श्वे० आगम का उपाङ्ग—४१ पत्र-प्राकृत-१६वीं श०।

(७) नं २१ स्याद्वाद-रत्नाकर अथवा प्रमाण-नय-तत्वालोकालङ्कार—वादि देव (देव सूरि) कृत जैन न्याय ग्रन्थ रत्नप्रभ की 'रत्नाकरावतारिका' टीका सहित। ७१ पत्र। संस्कृत। १६वों श०। (शायद यह ग्रन्थ दिगम्वरीय हो ?)

(८) नं० २२ ताजिकसार-ज्योतिष-हरिभद्र कृत-सं० ४८ पत्रा सं० १८०७ उदयपुर मध्ये।

(९) नं० २७ हीर सौभाग्य सं०-देवविमल गणि रचित श्वे० हीर विजय सूरि की प्रशंसात्मक रचना। ८०। पत्र। १७ वीं श०।

(१०) नं० २८ प्रज्ञापना टीका—मलयगिरि कृत श्वे० चतुर्थ उपाङ्ग 'प्रज्ञापना' की संस्कृतटीका। सं० १६१३। जेसलमेर।

(११) नं० २९ तत्वचिन्तामणि (प्रत्यक्ष खंड, परिच्छेद १)-सं०-गंगेश उपाध्याय कृत। पत्र ४७। १६वीं श०। (?)

(१२) नं० ३१ कुमारपाल-राजर्षि-रास—हिन्दी-सांगण के पुत्र ऋषभदास द्वारा सं० १६७० में रचित—१८६ पत्र-सं० १७४६।

(१३) नं० ३३ वृद्ध शत्रुंजय माहात्म्य—सं०-धनेश्वर रचित-पंक्ति मध्यमें गुजराती भाष्य-७९४ पत्र-सं० १७८७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१४) नं० ३४ कालिकाचार्य कथानक—प्राकृत-भावदेवकृत-सचित्र-पत्र ११२-सं० १४६१

(१५) नं० ३५ संग्रहणी सूत्र और त्रैलोक्यदीपिका-प्रा०—मलधारि हेमचंद्र के शिष्य चन्द्रसूरि रचित। वच्छराज के गुजराती अनुवाद सहित। ४० पत्र। सं० १७५० जालोर। नं० ७३ दूसरी प्रति है।

(१६) नं० ३६ में कई रचनाओं का संग्रह है जिनमें एक 'कामधेनु कोष्टकाः' रायचन्द्र के तिथि-चूडामणि-'कामधेनु' से रचा गया है। पृ० २४। १७वीं श०। सं०।

(१७) नं० ३७ पञ्चलिङ्गी-विवरण; श्री जिनेश्वरकृत प्राकृत 'पञ्चलिङ्गी' की जिनपति कृत संस्कृत टीका! इसमें सम्यक्त्व के पांच लिङ्ग उपशम, संवेग, निर्वेद, अनुम्पा और आस्तिक्य) का निरूपण है। बम्बई से छप चुकी है।

(१८) नं० ४१ जम्बूकुमार रास—गुज०-नयविमल सूरि कृत सं० १७३७ में—पत्र २२-सं० १७९४

(१९) नं० ४२ हम्मीर चरित्—सं०-नयचंद्र कृत-चौहान राजा हम्मीर का चरित्र है। १०० पत्र। १८वीं श०।

(२०) नं० ४३ षड्विधावश्यक विधि—सं०-कर्त्ता अज्ञात-९३ पत्र-सं० १६२९। नं० ६७ दूसरी प्रति है।

(२१) नं० ४७ एक जैन प्राकृत काव्य, जिसका नाम संभवतः 'हरिवंश-वंश' सदृश है। महाभारत की जैन आवृत्ति जिसमें नेमिनाथ जी तक कथा है। १५९ पत्र। ४४०४ श्लोक। असमाप्त। १७वीं श०। 'यया पुव्व-गंथाउ। परंपराएण अनुभयं तावं हरि-वंस-वंस-जाइ व। उप्पत्ती मिचि वुच्छामि।' (यह ग्रन्थ शायद दिगम्बरीय हो-देखना चाहिए।)

(२२) नं० ४८ कथामहोदधि—सं० प्रा०-सोमचंद्र कृत-३९ पत्र-१७वीं श०।

(२३) नं० ४९ भडली वाक्य—राजस्थानी व सं०—३२० श्लो०—भडली की उक्तियों का भट्टारक वर्द्धमान द्वारा निरूपण—२६ पत्र—सं० १८०१

(२४) नं० ५० सिंहासन-बत्तीसी-कथा-चोपाई-गुजराती-नेतसीकृत। ५३ पत्र। सं० १८२४

(२५) नं० ५२ कर्मविपाक प्राकृत-जगच्चंद्र के शिष्य देवेन्द्र कृत 'कर्मग्रंथों' की प्रथम पुस्तक। संस्कृत में 'सुवोधा' नामक स्वोपज्ञ टीका सहित। १८ पत्र। १६वीं श०।

(२६) नं० ५५ रत्नचूड रास—एक जैन कथा ३४३ छन्दों में प्राचीन गुजराती—१४ पत्र-सं० १६७८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२७) नं० ६१ उत्तराध्ययनचूरि-ज्ञानसागर कृत संस्कृत टीका पत्र ३२ सं० ११०१

(२८) नं० ६२ स्थापनाङ्ग श्वे० आगम ग्रन्थ अभयदेववृत्ति सहित।

(२९) नं० ६५ शान्तिनाथ-देव-चरित सं०-अजितप्रभ कृत—१३७ पत्र—सं० १६६५

(३०) नं० ६६ दशवैकालिकचूर्णि—११ पत्र।

(३१) नं० ६८ विक्रम-खापरा-चोर-चरित्र-गुजराती-साधु हर्ष के शिष्य राजशील ने कोट में ज्येष्ठशुक्ल सं० १६५३ में रचा। पत्र ६। सं० १७२७

(३२) नं० ६९ इलाकुमार चौपाई—गुज०-ज्ञानसागर कृत-(सं० १७१९) पत्र ७—१७२६

(३३) नं० ७० मदनकुमार रास—गुज०-जालोर में सं० १६०३ को दामोदर ने रचा—पत्र-सं० १७५२

(३४) नं० ७१ बच्छराज-हंसराज-नी-चोपी-गुज०-जिनोदयकृत—पत्र १२-४८। सं०१८२२

(३५) नं० ७४ ज्ञाता धर्म-कथा-श्वे० आगम—१३४ पत्र —१५९५

(३६) नं० ८७ अभिधान चिंतामणि-सं०-हेमचन्द्र कृत वल्लभगणि की टीका सहित जिसे जोधपुर में रचा था। १०७ पत्र। १७वीं श०।

(३७) नं० ९४ अनेकार्थ संग्रह व अभिधान चिंतामणि-सं०-हेमचंद्र कृत— सं० १८००

(३८) नं० १०० नेमिनाथ चरित्—हेमचन्द्र कृत त्रिषष्ठिशलाका-पुरुष चरित्र का अष्टम । पत्र ८७। १७वीं श०।

(३९) नं० १०१ वृहत्-क्षेत्र-समास—प्रा० सं०-जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत—पत्र ३७८-९—सं० १३३२

(४०) नं० १०६ राजस्थानी भाषा में जैन कविताओं का संग्रह।

(४१) नं० १०७ में अजितप्रभ का अपूर्ण शांतिनाथ चरित एवं एक अन्य प्रा० सं० है जिसमें धार्मिक क्रियाओं और गणगच्छों का इतिहास है।

(४२) नं० १०८ उत्तराध्ययन—टीका, गयसुकुमालनी ढाल, जैन ट्रेक्ट और सूरि चयावली आदि है। १६वीं शं०।

(४३) नं० १०९ गजसिंह चरित्र आदि है। सं० १५५६।

(४४) नं० ११० उत्तराध्ययन, जगद्विलास, प्रवचनसारोद्धार आदि हैं।

(४५) नं० १४४ उपदेश रसायन—अपभ्रन्श प्रा०—जिनदत्तकृत जिनपाल के संस्कृत विवरण' सहित। ६७ पत्र। स० १२९४।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४६) नं० ११५ प्रदेशीराज रास—गु०-पत्र २७-सं० २७८६

(४७) नं ११७ लघुत्तेत्र समास आदि सं० १८७२

(४८) नं० ११९ आसाढ़ कृत विवेक मंजरी—जैन प्रा० - २९४ पत्र—सं० १३३६

(४९) नं० १३३ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम आदि (गु०) १७वीं० श०।

(५०) नं० १३४ ऋषभ चरित्र—हिंन्दी-दिनयर सागर ९१ पत्र—२८ वीं श०—

(५१) नं० २४० जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति—प्रा०—सं० १६४२

(५२) नं० १४६विक्रम चरित्र—सं०—रामचंद्र सूरि—५७ पत्र १८७८ सं०।

(५३) नं० १४७ भोज चरित - सं०—राजवल्लभ पाठक कृत। पत्र ८७। सं० १८७६

(५४) नं० शकुनावली विचार—राज० हिंदी-जिनवर कृत-पत्र ४० सं० १८७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज-बीन

(१)

संघो, संघवी, सिंघई, सिंगई

ये सब शब्द 'संघपति' के अपभ्रंश हैं। संघपति के प्राकृत रूप 'संघवई' 'संघवइ' हैं। गुजरात काठियावाड़ में प्रचलित 'संघवी' शब्द इससे बिल्कुल नजदीक का है। 'संघवी' ही बुन्देलखंड आदि में 'सिंघई' या 'सिंगई' हो गया है। राजपूताने का 'संघी' या 'सिंघी' पद भी इसी का रूप है।

प्राचीन काल में धनी-मानी लोग बड़े बड़े संघ तीर्थयात्रा के लिए निकालते थे जिनमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध संघ होता था। उन दिनों यात्रा-कार्य बड़ा कठिन था। सब की जान-माल की रक्षा करना, यात्रा में किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे इसका प्रबन्ध करना, सारा खर्च उठाना, यह साधारण काम नहीं था। इसका भार जो कोई उठाता था, शायद वही संघपति कहलाता था।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में शत्रुंजय, गिरनार आदि के लिए संघ निकालने की परम्परा अनवच्छिन्नरूप से अबतक जारी रही है और अब तक इस तरह के संघ निकालनेवाले संघपति की पदवी से विभूषित किये जाते हैं, परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदाय में बीच में यह परम्परा नष्ट-सी हो गई थी, उसके पहले के अवश्य ही बहुत से प्रमाण मिलते हैं। फिर भी इस पदवी का मोह नष्ट नहीं हुआ। इसलिये संघ निकालने के बदले जो लोग भगवान का गज-रथ निकालने लगे, उन्हें भी पीछे से यह पदवी दी जाने लगी। अब बुन्देलखंड और सी० पी० की परवार, गोलापूर्व, गोलालारे आदि जातियों के लोग गजरथ निकालकर ही 'सिंघई' या 'सिंगई' बन जाते हैं, संघ निकालने की बात को तो शायद वे भूल-से गये हैं।

खण्डेलवालों और दूसरी कुछ जातियों में भी 'संघी' पद है। परन्तु जान पड़ता है, वह पुराने संघपतियों के ही वंश में चला आया हुआ है, गजरथ चलाकर प्राप्त किया हुआ नहीं।

बड़े-बड़े नगरों में जहाँ जैनों का जनसंघ काफी होता था, वहाँ के सवप्रधान मुखिया को भी 'संघपति' कहा जाता था, ऐसा मालूम होता है।

प्राचीन शिलालेखों, प्रतिमालेखों और ग्रन्थ-प्रशस्तियों में संघपति का संक्षिप्तरूप 'सं०' लिखा मिलता है। शायद यह पद आगे के वंशधरों को भी परम्परा से मिलता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)
साधु और साहु

'साधु' शब्द का प्राकृत रूप 'साहु' होता है, और चूंकि 'साहु' लोकभाषा का एक प्रचलित पद (टाइटिल) था इसलिए जब संस्कृत के लेखकों को अपनी संस्कृत रचना में उसके निर्देश की आवश्यकता हुई, तब उन्होंने उसका संस्कृतरूप 'साधु' बना लिया और साहु की पत्नी 'साहुणी' को 'साध्वी'। परन्तु इन शब्दों से प्रायः भ्रम हो जाया करता है। आम तौर से साधु शब्द का उच्चारण करते ही हमारे सामने मुनि यति का भाव आ जाता है और साध्वी से आर्यिका या तपस्विनी का। परन्तु ग्रन्थ-प्रशस्तियों प्रतिमा-लेखों आदि में साधु शब्द साहूकार या धनी गृहस्थ के अर्थ में अधिकता से व्यवहार किया गया है और साध्वी उसकी पत्नी के लिए।

पं० आशाधर जी ने अपनी प्रशस्ति में एक जगह लिखा है—"मुग्धबुद्धिप्रबोधाय महीचन्द्रेण साधुना, धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता।" इसका अर्थ बड़े बड़े पंडित तक यही कर डालते हैं कि महीचन्द्र नामक साधु ने टीका बनवाई। परन्तु वास्तव में महीचन्द्र एक साहू या सेठ थे। यथार्थ में साहु या शाह शब्द फारसी भाषा का है जिसका अर्थ स्वामी, राजा, सज्जन, महाजन आदि होता है। मुसलमान-काल में यह शब्द लोकभाषा में प्रचलित हो गया था। संस्कृत में साधु शब्द भला, सज्जन आदि अर्थों में भी व्यवहृत होता है, इसलिए यद्यपि 'साहु' का 'साधु' रूप बहुत दूरवर्ती नहीं हो जाता है, फिर भी यह 'साहु' शब्द संस्कृत से आया हुआ नहीं मालूम होता।

(३)
पति-पत्नी के समान नाम

कथा-ग्रन्थों में अक्सर भविष्यदत्त सेठ भविष्यदत्ता सेठानी, सोमदत्त ब्राह्मण सोमश्री ब्राह्मणी, धनदत्त धनदत्ता, यज्ञदत्त यज्ञदत्ता आदि पति-पत्नियों के एक से नाम मिलते हैं। इससे आजकल के पढ़नेवालों को यह खयाल हो जाता है कि ये सब कल्पित नाम हैं और यों ही गढ़ लिये गये हैं। यह हो सकता है कि बहुत-सी कथायें कल्पित हों, कथायें कल्पित बनाने के लिए कोई रुकावट भी नहीं है परन्तु केवल इस प्रकार के नामों से ही उन्हें कल्पित नहीं कहा जा सकता। जिस तरह आजकल पति के नाम के पूर्व 'मिसिस' या 'श्रीमती' जोड़ देने से उसकी पत्नी का बोध होता है, उसी तरह जान पड़ता है पूर्वकाल में यहाँ के भी बहुत से प्रान्तों में पति के नाम के आगे श्री, दे (देवी), ही (ह्री) जोड़ देने या लिंग-परिवर्तन कर देने से ही पत्नी का नाम हो जाता था। प्राचीन लेखों और ग्रन्थ प्रशस्तियां में से इस तरह के बहुत से उदाहरण दिये जा सकते हैं। जैसे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'संवत् १७९७ वर्षे श्रावणसुदि १४ शनिवासरे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री देवेन्द्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीमहेन्द्रकीर्तिस्तदाम्नाये सवाई जयपुर मध्ये श्रीपार्श्वनाथ चैत्यालये बिलालागोत्रे साह श्रीहर (हीरा) राम तस्य भार्या हीरादे तयोः पुत्रः साहश्री सांवलदासजी तस्य भार्या सावलदे तयोःपुत्रौ द्वौ। प्रथम साह श्री नंदासुखजी तस्य भार्या नैणादे तयोः पुत्रौ द्वौ। चिरंजीवि हितराम जी द्वितीय भागचन्द्रः। सांवलदासस्य द्वितीय पुत्रः साहजी श्रीगोपीराम जी। तस्य भार्ये द्वे। एतेषां मध्ये साह जी श्रीगोपीरामजी इदं पुस्तकं षट्कर्मोपदेशरत्नमालानामकं आचार्य श्रीक्षेमकीर्तिजी शिष्य पंडित गोवर्द्धनदासाय लिखापि (?) घटापितं ज्ञानावरणीकर्मक्षयार्थं। श्रीरस्तुकल्याणमस्तु। शुभं भवतु।"*

जयपुर के उक्त भंडार में ही पंडित जिनदास वैद्य का 'होलीरेणुका पर्वचरित्र' नाम का एक ग्रन्थ (गठरी ६, नं० १ पत्र ५६, श्लोक ८४३) है, जिसकी प्रशस्ति में जिनदास वैद्य को विस्तृत पूर्व कुलपरम्परा दी हुई है। उसमें बादशाह फीरोज़शाह, ग्यासुद्दीन और नादिरशाह बादशाहों के द्वारा सम्मानित पं० हरपति, पद्म और बिम्भ की प्रशंसा की गई है और फिर लिखा है कि बिम्भ के पुत्र धर्मदास वैद्यशिरोमणि थे। इन धर्मदास की पत्नी का नाम धर्मश्री था—'धर्मश्रीरिति नामतोऽस्य वनिता देवादिपूजारता।'

इन दोनों के रेखा नामक पुत्र हुए जिनका रणथंभोर में शेरशाह नरेन्द्र ने सम्मान किया। इनकी पत्नी का नाम रेखाश्री था—भार्यास्य सद्गुणोपेता नाम्ना रेखासिरि स्मृता।'

इन्हीं के पुत्र ग्रन्थकर्त्ता जिनदास हुए। वैद्य जिनदास की पत्नी का नाम भी दिया है परन्तु वह ठीक ठीक पढ़ा नहीं जाता।

करकंडुचरिउ (कारंजा सीरीज) की प्रति के अन्त में यह प्रशस्ति दी है—"संवत् १५९७ वर्षे......खंडेलवालान्वये गोधागोत्रे साहा नांदा (नयणा) तद्भार्या नयणश्री तत्पुत्र साह मेहा तद्भार्ये द्वे प्रथमा मेहादे द्वितीया सुहागदे तत्पुत्रौ द्वौ प्रथम साह करमा........."

मुनि श्रीजिनविजयजीद्वारा सम्पादित 'प्राचीन जैन-लेख-संग्रह' में पाली ग्राम का एक लेख (नं० ४३३) इस प्रकार का है—'सं० १५०७ वर्षे फा० व० ३ बुधे ओशवंशे वहरा हीरा भा० हीरादे पु० व० षेता भा० षेतलदे पु० व० हिमति पितृ श्रेयसे श्रीशान्तिनाथबिंबं कारितं श्रीखरतरगच्छे श्रीजिनभद्रसूरि श्रीजिनसागरसूरिभिः प्रतिष्ठिता।"

* भट्टारक सकलभूषण कृत इस ग्रन्थ को प्रति जयपुर के पाटोदी जी के मन्दिर में (गठरी न० ८, ग्रन्थ नं० ४, पत्र संख्या १३६, श्लोक संख्या ३५८०) है। स्व० पं० पन्नालाल जो वाकलीवाल जी ने जब वे जयपुर में थे, इस प्रशस्ति की नकल मेरे पास भेजी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस तरह के और भी अनेक उदाहरण ढूँढ़ कर दिये जा सकते हैं। यह पद्धति जान पड़ती है अब भी कहीं कहीं प्रचलित है। आठ नव वर्ष पहले घाटकोपर (बम्बई का उपनगर) में मैं जिन धनी सेठ के मकान में रहता था, वे दो भाई हैं, कच्छी हैं। उनमें एक भाई का नाम बेलजी और उनकी पत्नी का नाम बेलाबहू है। दूसरे भाई का नाम मैं भूल गया हूं, परन्तु उनकी पत्नी का नाम भी उनके नाम के साथ ही 'बहू' जोड़ कर रखा हुआ है।

करीब करीब सभी जगह स्त्री के दो नाम होते हैं एक पिता के घर का और दूसरा पति के घर का। पति के घर आने पर उसे नया नाम दिया जाता है। कोई नया नाम रखने की अपेक्षा पति के नाम के साथ ही श्री, देवी, ह्री, बहू आदि जोड़ कर नया नाम बना लेना अधिक सुभीते का है। परन्तु स्त्रियाँ अपने पति का नाम लेने में संकोच करती हैं और इस तरह उनके नाम में भी पति के नाम का उच्चारण हो जाता है, शायद इसी लिए इस पद्धति का विस्तार नहीं हुआ और यह बन्द हो गई।

(४)

साधुओं का बहुपत्नीत्व

हमारे भंडारों में जो हस्तलिखित ग्रन्थ हैं, उनके अन्त में ग्रंथकर्त्ताओं की प्रशस्तियों के सिवाय ग्रन्थ लिखानेवालों और उन्हें 'ज्ञानावरणी-कर्मक्षयार्थं' दान करनेवालों की भी प्रशस्तियाँ रहती हैं। इनमें प्रायः उनके सारे कुटुम्ब के नाम रहते हैं। उनमें ऐसे बहुत से संघपति या साधु (साहु) मिलते हैं जिनके एकाधिक स्त्रियाँ होती थीं। उनकी प्रथमा, द्वितीया, तृतीया भार्याओं के नाम और उनके पुत्रों के नाम भी रहते हैं। इससे पता लगता है कि उस समय धनी प्रतिष्ठित कुलों में बहुपत्नीत्व का आम रिवाज था और वह शायद प्रतिष्ठा का ज्ञापक था। कम से कम अप्रतिष्ठा का कारण तो नहीं समझा जाता था। उदाहरण के लिए हम यहाँ पर केवल पं० राजमल्लजी की वि० सं० १६४१ में बनी हुई लाटी-संहिता की विस्तृत प्रशस्ति का कुछ अंश उद्धृत कर देना काफी समझते हैं—

तत्रत्यः श्रावको भारू भार्या तिस्रोऽस्य धार्मिकाः।
कुलशीलवयोरूपधर्मबुद्धिसमन्विताः ।१०
नाम्ना तत्रादिमा मैघी द्वितीया नाम रूपिणी
रत्नगर्भा धरित्रीव तृतीया नाम देविला ॥११

अर्थात् भारू नाम श्रावक की मेघी, रूपिणी और देविला नाम की तीन स्त्रियाँ थीं। आगे चलकर भारू के नाती न्योता के विषय में लिखा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्योतासंघाधिनाथस्य द्वे भार्ये शुद्धवंशजे ॥१५

आद्या नाम्ना हि पद्माही गौराही द्वितीया मता।

अर्थात् संघपति न्योता की पद्माही और गौराही नाम की दो स्त्रियाँ थीं। न्योता के पुत्र देईदास के भी दो भार्या थीं—एक रामूही और दूसरी कामूही—

भार्या देईदासस्य रामूही प्रथमा मता ॥१९

कामूही द्वितीया ज्ञेया भर्तुश्च्छन्दानुगामिनी।

इसी वंश में आगे संघपति भोल्हा की भी छाजाही, वीधूही आदि तीन और सं० फामण की डूगरही और गंगा ये दो स्त्रियाँ बतलाई हैं।

ऐसा नहीं मालूम होता कि सन्तानादि न होने के कारण उक्त धनी लोग अनेक शादियाँ करते थे, क्योंकि प्रायः उन स्त्रियों के पुत्रों का भी उल्लेख है और उन्हें कुल, शील, रूप, धर्म बुद्धियुक्त और पतिच्छन्दानुगामिना भी बतलाया है। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि अनेक पत्नियाँ होना बड़े पुरुषों की शोभा थी और यह इतना रूढ़ था कि इसमें दोष की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।†

—नाथूराम प्रेमी

† यंत्रों की प्रशस्तियों से भी साहु (सेठ) लोगों की बहुपत्नियाँ प्रमाणित हैं, जैसे कि निम्न-लिखित उल्लेखों से स्पष्ट है:—

"अलीगंज यंत्र न० २—"......गोलानारे खरौआवंशे साहु उदैराज तद्भार्या द्वि० निम्मा चन्द्रा........'

जसवंतनगर यंत्र नं० १९—'सं० १६८४.........गोलाराला षरवावंशे श्रो सा० उदोत भार्या द्वयम् निमा, चन्द्रा तत्र निमा पुत्रास्त्रया अल्ली नरी समोषण, चन्द्रा पुत्रस् त्रयः परसरमा श्रीपाल लखमीदास.........।'

जसवंतनगर यंत्र न० १२--"सं० १६७० .....बुढ़ेले ज्ञातीये सेठिया गोत्रे......'साहु तारण भार्या द्वयमरावदे कर्पूरा......।"

कुरावली प्रतिमा मं० १३ शान्तिनाथ—"सं० १५०६......पं० आचार्य श्री रैहधूनामधेय तदाम्नाये अग्रोत्कान्वये वासिलगोत्रे सा० त्यौंधर भार्या द्वे......संघाधिपति गजे भार्या द्वे रायश्री गांगो........"

किन्हीं लोगों का यह अनुमान करना ठीक नहीं जँचता कि मृतपत्नियों की संतान जीवित रहने के कारण उनका उल्लेख किया गया है।

—का० प्र०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री महाधवल में क्या ?

[लेखक—प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एलएल. बी.]

१—महाबन्ध का परिचय

षट्‌खण्डागमका सामान्य परिचय उसके दो भागोंमें प्रकाशित भूमिकाओंमें विस्तारसे दिया जा चुका है। वहां हम बतला आये हैं कि धरसेनाचार्यसे आगमका उपदेश पाकर पुष्पदन्त और भूतबलि आचार्योंने उसकी छह खंडों में ग्रन्थ रचना की। उन छह खंडों के नाम हैं—जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त विचय, वेदणा, वग्गणा और महाबंध इनमेंसे प्रथम पांच खंड उपलब्ध श्री धवलकी प्रतियोंमें पाये जाते हैं, और छठवें महाबंधके सम्बन्धमें यह सूचना पाई जाती है कि—

'जं तं बंधविहाणं तं चउव्विहं, पयडिबंधो ट्ठिदिबंधो, अणुभागबंधो पदेसबंधो चेदि। एदेसिं चदुण्हं बंधाणं विहाणं भूदबलिभडारएण महाबंधे सप्पवंचेण लिहिदं ति अम्हेहि एत्थ ण लिहिदं। तदो सयले महाबंधे एत्थ परूविदे बंधविहाणं समप्पदि"।

(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२५९—६०)

अर्थात् "बंधविधान चार प्रकारका है—प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध। इन चारों प्रकारके बंधोंका विधान भूतबलि भट्टारकने महाबंधमें सविस्तर रूप से लिखा है, इस कारण हम (वीरसेनाचार्य) ने उसे यहां नहीं लिखा। इस प्रकारसे समस्त महाबंधके यहां प्ररूपण हो जाने पर बंधविधान समाप्त होता है।"

श्री जयधवलान्तर्गत गुणधराचार्यकृत कषाय प्राभृतके ऊपर जो यतिवृषभाचार्यकृत चूर्णि-सूत्र पाये जाते हैं, उनमें भी महाबंधके विषयका संकेत है, और जयधवलाकारने वहां भी महाबंधका तथा उसके विषयका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

'सो पुण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधो बहुसो परूविदो'। (चूर्णिसूत्र)

'सो उण गाहाए पुव्वद्धम्मि णिलीणो पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसविसओ बंधो बहुसो गंथंतरेसु परूविदो त्ति तत्थेव वित्थरो दट्ठव्वो। ण एत्थ पुणो परूविज्जदे, पयासियपयासणे फलविसेसाणुवलंभादो। तदो महाबंधाणुसारेण पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधेसु विहासियसमत्तेसु तदो बंधो समत्तो होइ।

(जयधवला, अमरावती प्रति, पत्र ५४८)

अर्थात् चूर्णिसूत्रकार कहते हैं—'उस प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंधका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपण विस्तारसे (अन्यत्र) किया जा चुका है'। इस पर जयधवलाकार टीका करते हुए कहते हैं—

"गाथाके पूर्वार्धमें सूचित प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश विषयक बंध दूसरे ग्रन्थोंमें विस्तारसे प्ररूपित हो चुका है, अतएव उसका विस्तार उन्हीं ग्रन्थोंमें देख लेना चाहिए। यहां उसके पुनः प्ररूपण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो विषय एक जगह प्रकाशित हो चुका हैं, उसके पुनः प्रकाशनसे कोई विशेष लाभ नहीं पाया जाता। अतः महाबंधके अनुसारही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप बंधोंके समझ लेने पर बंधका प्रकरण समाप्त हो जाता है"।

इन उल्लेखोंसे सुस्पष्ट है कि महाबंध स्वयं भूतबलि आचार्यका रचा हुआ ग्रन्थ है, उसमें बंध विधानके चार प्रकार—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशका खूब विस्तारसे वर्णन किया गया है, और यह वर्णन इतना विशद और सर्वमान्य हुआ कि यतिवृषभ और वीरसेन जैसे आचार्योंने अपनी अपनी ग्रन्थ-रचना में उसकी सूचनामात्र दे देना पर्याप्त समझा। इस विषय पर और कुछ विशेष कहनेकी उन्हें गुंजायश ही नहीं दिखी।

२—महाबंध, महाधवल व सत्तकम्म और उसकी पंजिका

इस महाबंधकी अभीतक कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। किन्तु हम सब यह आशा करते रहे हैं कि मूडविद्रीके सिद्धान्तभवनमें जो महाधवल नामकी कनड़ी प्रति ताड़पत्रों पर सुरक्षित है, वही भूतबलिकृत महाबंध ग्रन्थ है। इस आशाका आधार केवल हमारा अनुमान ही है; क्योंकि अभीतक न तो कोई परीक्षक विद्वान् उस प्रतिका अच्छी तरह अवलोकन कर पाया; और न किसीने उसके कोई विस्तृत अवतरण आदि देकर उसका सुपरिचय ही कराया। इस प्रतिका जो कुछ थोड़ासा परिचय अभीतक उपलब्ध हुआ है, वह मूडविद्रीके पं० लोकनाथ जी शास्त्रीकी कृपासे उनके वीरवाणीविलास जैन सिद्धान्त भवनकी प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (१९३५) के भीतर पाया जाता है। उस परिचयके सूक्ष्म अवलोकनसे मुझे अब यह भय होने लगा है कि कदाचित् महाधवलकी प्रतिके सम्बन्धमें हमारी उपर्युक्त आशा निर्मूल सिद्ध हो? पं० लोकनाथ जी के दिये हुये अवतरणों परसे तो ज्ञात होता है कि महाधवलकी प्रतिके अन्तर्गत कोई स्वतन्त्र मौलिक रचना ही नहीं है। उस ग्रन्थके आदिकी जो एक पंक्ति दी गई है वह इस प्रकार है—

'वोच्छामि सत्तकम्मे पंचियरूवेण विवरणं सुमहत्थं'

इसका अर्थ हुआ 'मैं सत्तकम्म पर पंचिकारूपसे सुमहार्थ विवरण कहता हूं'। इससे जाना जाता है कि रचयिताकी प्रतिज्ञा किसी सत्तकम्म नामक ग्रन्थ पर पंचिका या पंजिकारूप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुविस्तृत विवरण लिखनेकी है; किसी मौलिक ग्रन्थकी रचना करनेकी नहीं। इस परसे यह आशा हो सकती है कि भूतबलिकृत महाबंधका ही दूसरा नाम सत्तकम्म हो, और प्रस्तुत प्रतिमें वही महाबंध किसी अज्ञात आचार्य द्वारा रचित पंजिका सहित सुरक्षित हो। धवलाके प्रथम भागकी भूमिका लिखते समय मुझे यही आशा हुईथी, और उसके आधार भी अनेक थे। धवल ग्रन्थमें 'संतकम्मपाहुड' और 'कसायपाहुड' के अनेक उल्लेख साथ साथ इस प्रकार आये हैं, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि वहां 'संतकम्म'से लेखकका अभिप्राय पुष्पदन्त और भूतबलि द्वारा उद्धृत समस्त महाकम्मपयडिपाहुडसे है। उदाहरणार्थ, धवला भाग १ पृ० २१७ पर पाया जाता है—

'एसो सन्तकम्मपाहुड-उवएसो। कसायपाहुड-उवएसो पुण··· ’इत्यादि।

आगे पृ० २२१ पर पुनः आया है—

'आइरियकहियाणं संतकम्म-कसायपाहुडाणं कथं सुत्तत्तणमिदि चे ण,····· ’इत्यादि।

जयधवलामें एक स्थानपर स्पष्ट ही कहा गया है कि संतकम्म महाधिकारमें कृति वेदनादि चौबीसों अनुयोगद्वार प्रतिबद्ध हैं। यथा—

संतकम्ममहाहियारे कदि-वेदणादि-चउवीसमणियोगद्दारेसु पडिबद्धे सु······इत्यादि।
(जयधवला, अमरावती प्रति, पत्र ५१२)

विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें समस्त धवला टीकाको ही सत्कर्म नाम दिया है। यथा—

'प्राकृत-संस्कृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वासप्ततिसहस्त्रप्रमितां धवलानामांकितां लिखाप्य······’ इत्यादि।

इन उल्लेखों परसे यह जाना जा सकता है कि महाकम्मपयडि पाहुड का ही दूसरा नाम संतकम्मपाहुड है और चूंकि यह समस्त ग्रन्थ या उसका बहुभाग धवलाके अन्तर्गत है, अतएव समस्त धवलाको भी सत्कर्म संज्ञा देना निरर्थक नहीं कहा जा सकता। वीरसेन स्वामीने एक स्थान पर यह भी बतला दिया है कि किसी ग्रन्थके एक भागको भी पूरे ग्रन्थके नामसे उल्लिखित करनेमें कोई दोष नहीं है। वेदना खंड के आदिमें प्रसंगानुसार प्रश्न उठाया गया है कि 'वेदना खंड आदि एक एक खंडको महाकर्मप्रकृतिपाहुड कैसे कहा जा सकता है'? इसका आचार्यने उत्तर दिया है कि "चौबीस अनुयोगद्वारोंसे एकान्ततः पृथग्भूत तो महाकर्म प्रकृति पाहुडत्वका सद्भाव है नहीं, अतः एक एक अनुयोगद्वारको भी महाकर्म प्रकृति पाहुड कहनेमें कोई दोष नहीं'। फिर प्रश्न उठता है कि 'इस तरहसे इन सब अनुयोगद्वारोंमें कर्मप्रकृतिपाहुडत्व मान लेनेसे तो बहुतसे उसी नामके पाहुड माने जानेका प्रसंग आ जायगा?' इसका आचार्य उत्तर देते हैं—'इसमें भी कोई दोष नहीं, यह तो किसी प्रकारसे इष्ट ही है।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कथं वेयणा खंडादि खंडगयस्स महाकम्मपयडिपाहुडत्तं ? ण, कदियादि-चउवीस-[अणु]योगद्दारेहिंतो पयंतेण पुधभूद-महाकम्मपयडिपाहुडाभावादो। एदेसिमणियोगद्दाराणं [महाकम्म]पयडिपाहुडत्ते संते पाहुडबहुत्तं पसज्जदे ? ण एस दोसो, कथंचि इच्छिज्जमाणत्तादो।'
इसके अनुसार हमने समझ लिया था, कि पंजिकाकारने सम्भव है संतकम्मपाहुडके [...]रा विषयका प्ररूपण करने वाले महाबंधको ही 'सत्तकम्म' कहा हो। और इसी ओर [मे]रा झुकाव इस कारण और भी हो गया, क्योंकि इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें तुम्बुलूराचार्य [के] दोनों सिद्धान्तोंपर कनड़ीमें चूड़ामणि नामकी बड़ी भारी टीकाके अतिरिक्त छठे [खण्ड] पर लिखी गई पंजिकाका भी उल्लेख किया गया है। यथा—

अथ तुम्बुलूरनामाचार्योऽभूत्तुम्बुलूरसद्ग्रामे।
षष्ठेन विना खंडेन सोऽपि सिद्धान्तयोरुभयोः ॥१६५॥
चतुरधिकाशीति सहस्रग्रन्थरचनया युक्ताम्।
कर्णाटभाषयाकृत महतीं चूड़ामणिं व्याख्याम् ॥१६६॥
सप्तसहस्रग्रन्थां षष्ठस्य च पंचिकां पुनरकार्षीत्।

इन्हीं आधारों परसे उक्त ग्रन्थकी भूमिका में मैंने उस समय लिखा था कि "महाधवलका [...]परिचय धवलादि सिद्धान्त ग्रन्थोंके प्रशस्तिसंग्रहमें दिया गया है, उसमें पंचिका रूप [...]रणका उल्लेख पाया जाता है। जान पड़ता है कि यही तुम्बुलूराचार्यकृत षष्ठ खण्डकी पंचिका है, जिसका इन्द्रनन्दिने उल्लेख किया है। यदि यह ठीक हो तो कहना पड़ेगा [कि] चूड़ामणि व्याख्याकी भाषा कनड़ी थी, किन्तु इस पंचिकाको उन्होंने प्राकृतमें रचा था।"
(देखो धवला, भाग १, भूमिका पृ० ४९)

आगे चलकर मैंने फिर कहा है "जान पड़ता है महाधवलका मूल ग्रन्थ संतकम्म [(सत्]कर्म) नामका है और उसमें महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारोंमेंसे वेदना [औ]र वर्गणा खण्डमें वर्णित प्रथम छहको छोड़कर शेष निबन्धनादि अठारह अनुयोगद्वारोंका [विव]रण है। महाधवल या सत्कर्मकी उक्त पंचिका कबकी और किसकी है ? सम्भवतः [यह] वही पंचिका है, जिसको इन्द्रनन्दिने समन्तभद्रसे भी पूर्व तुम्बुलूराचार्य द्वारा सात हजार [श्लो]क प्रमाण विरचित कहा है।"
(धवला, भाग १, भूमिका पृ० ६९)

किन्तु अभी अभी स्वयं श्री धवलमें ही हमें एक ऐसा उल्लेख मिल गया है, जिसमें [महा]बंधको संतकम्म पाहुडसे पृथक् निर्दिष्ट किया है। उपक्रम अनुयोगद्वारमें एक स्थान पर [क]हा है कि—

'एत्थ एदेसिं चदुण्हमुवक्कमाणं जहा संतकम्मपयडिपाहुडे परूविदं, तहा परूवेयव्वं। [ज]हा महाबंधे परूविदं, तहा परूवणा एत्थ किं ण कीरदे ? ण, तस्स पढमसमयबंधम्मि [...]वावारादो।'
(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२६८)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां शंकाकारके मुखसे यह कहलाया गया है कि 'इस विषय पर इन चारों उपक्रमोंका जैसा प्ररूपण 'संतकम्मपयडिपाहुड' में किया गया है, वैसाही क्यों करना चाहिए; जैसा महाबंध में प्ररूपण है, वैसा क्यों न किया जाय ?, इत्यादि।

इस परसे स्पष्ट है कि यद्यपि महाकर्मप्रकृतिपाहुडकी अपेक्षासे महाबंध भी उस प्राभृतका एक अंग है, तथापि अपनी रचना की दृष्टिसे वह संतकम्मपाहुडसे पृथग्भूत गिना जाता था। अतएव संतकम्म या सत्तकम्मसे महाबन्धका तात्पर्य सामान्यत: नहीं लिया जा सकता।

पं० लोकनाथजीके दिये हुए अवतरणोंका सूक्ष्म विश्लेषण करनेसे यह और भी सुदृढ़ हो जाता है कि पंजिकाकारका अभिप्राय यहां 'सत्तकम्म' से महाबंधका बिलकुल नहीं है, किन्तु किसी अन्य ही रचनासे है। पंडितजीका दूसरा अवतरण इस प्रकार है—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणाओ (दि) चौव्वीसमणियोगद्दारेसु तत्थ कदि-वेदणा त्ति जाणि अणियोगद्दाराणि वेदणाखंडम्हि, पुणो पास ··· (कम्मपयडि-बंधणेसु) चत्तारि अणियोगद्दारेसु तत्थ बंध-बंधणिज्जणामणियोगेहि सह वग्गणाखंडम्हि, पुणो बंधविधाणणामणियोगो खुद्दाबंधम्हि सप्पवंचेण परूविदाणि। पुणो तेहिंतो सेसट्ठार-साणियोगद्दाराणि सत्तकम्मे सव्वाणि परूविदाणि। तो वि तस्साइगंभीरत्तादो अत्थ-विसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो।'

इस अवतरणमें 'वेदणाओं' के स्थान पर कोष्ठक में सूचित वेदणादि' की कल्पना मेरी है, और आगे पाससे आगे छूटे हुए स्थान पर 'कम्म-पयडि-बंधणेसु' पाठका अनुमान भी मेरा है। शेष अवतरण कुछ विरामादि चिन्होंको छोड़कर पं० लोकनाथजी द्वारा उद्धृतरूपमें ही हैं। इसका अर्थ मैं इस प्रकार करता हूं—

'महाकर्म प्रकृति पाहुडके कृति, वेदना आदि चौवीस अनुयोगद्वार हैं। उनमेंसे कृति और वेदना, ये दो अनुयोगद्वार वेदनाखंडमें; फिर स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधन इन चार अनुयोगद्वारोंमेंसे बंधनके बंध और बंधनीय नामक अनुयोगों सहित तीन अनुयोग वर्गणाखंडमें, और बंधका बंध विधान नामका अनुयोगद्वार खुद्दाबंध खंडमें (?) विस्तारसे प्ररूपित किये जा चुके हैं। इन छहों अनुयोगद्वारोंसे शेष अठारह अनुयोगद्वार 'सत्तकम्म' में सब प्ररूपित किये गये हैं। तो भी उनके अति गंभीर होनेके कारण उनके विषम पदोंका अर्थ स्थूल उद्धरणों द्वारा पंजिका रूपसे कहते हैं।"

इस अवतरणमें अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनायें पाई जाती हैं। प्रथम तो महाकर्मप्रकृति-पाहुडके चौवीस अनुयोगद्वारों का जो खंडरचनामें समावेश बतलाया है, वह बहुत उपयोगी है। उससे स्पष्ट जाना जाता है कि कृति और वेदनाका अन्तर्भाव वेदनाखंडमें, तथा स्पर्श, कर्म, प्रकृति और बंधनके प्रथम दो विभाग-बंध और बंधनीयका अन्तर्भाव वर्गणा खण्डमें हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…ता है। बंधनके बंधविधान नामकभेदका जो खुद्दाबंधमें प्ररूपण कहा गया है, वह …नीय है, क्योंकि ऊपर जो महाबंधसे सम्बन्ध रखने वाले दो अवतरण धवला और …धवलाके दिये जा चुके हैं, उनसे स्पष्ट है कि बंधविधानका सविस्तर वर्णन महाबंध में …या गया है, खुद्दाबधमें नहीं। यथार्थतः खुद्दाबंधमें तो बन्धनके अन्य एक भेद बंधक …र्थात् बंध करने वाले जीवका, कर्मबंधके भेदोंके आश्रयसे वर्णन पाया जाता है. और उसके …मित्व, काल, अन्तर, भंगविचय आदि ग्यारह अधिकार हैं। तथा वह खण्ड, जीवट्ठाण …बंधसामित्तविचयके समान, उक्त अनुयोगद्वारोंके क्रमवार प्ररूपणसे पृथक् रचा गया हैं। …द्दाबन्धके आदिमें स्पष्ट कहा गया है कि—

'महाकम्मपयडिपाहुडस्स कदि-वेदणादिसु चदुवीस-अणियोगद्दारेसु छट्ठस्स बंधणे त्ति …णियोगद्दारस्स बंधो, बंधगा, बंधणिज्जं, बंधविधाणमिदि चत्तारि अधियारा। तेसु …धगेत्ति विदिओ अधियारो, सो एदेण वयणेण सूचिदो। जे ते महाकम्मपयडिपाहुडम्मि …धगा णिद्दिट्ठा, तेसिमिमो णिद्देसो त्ति वुत्तं होदि।'

(धवला, अमरावती प्रति, पत्र ४७५)

जान पड़ता है कि यहां प्रतिमें ही या उसके अवतरण लेनेमें महाबन्धकी जगह खुद्दाबन्ध …खा गया है। महाधवलसे नकल करने वालेने जान बूझकर भी महाबन्धकी जगह …द्दाबन्ध लिखा हो, तो आश्चर्य नहीं; क्योंकि वह भी प्रस्तुत ग्रन्थको महाबन्ध ही समझ रहा …हो, अतएव महाबन्धका प्ररूपण पहले हो चुका, यह बात उसे इष्ट प्रतीत नहीं हुई।

दूसरी बात जो इस अवतरणसे ज्ञात हो जाती है, वह यह है कि महाकर्मप्रकृतिपाहुडके चौबीस अनुयोगद्वारोंमेंसे प्रथम छह अनुयोगद्वारोंको छोड़कर शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका प्ररूपण करने वाले ग्रन्थका नाम 'सत्तकम्म' है और उसी 'सत्तकम्म' की प्रस्तुत ग्रन्थमें पंचिका रची गई है।

महाकर्मप्रकृतिपाहुडके अन्तिम अठारह अनुयोगद्वारोंके विषयमें धवलामें यह सूचना पाई जाती है—

'भूदबलिभडारएण जेणेदं सुत्तं देसामासियभावेण लिहिदं, तेणेदेण सुत्तेण सूचिद-सेस-अट्ठारस-अणियोगद्दाराणं किंचि संखेवेण परूवणं कस्सामो।'

अर्थात् भूतबलिभट्टारकने यह सूत्र देशामर्षकभावसे (एक देश सूचना द्वारा समस्त विषयकी सूचनारूपसे) लिखा है। अतएव इस सूत्र द्वारा सूचित शेष अठारह अनुयोगद्वारोंका कुछ संक्षेपसे हम (वीरसेनस्वामी) प्ररूपण करते है।'

इससे हमें ज्ञात हुआ कि बंधनके आगेके अठारह अनुयोगद्वार स्वयं धवलाकार वीरसेन स्वामी द्वारा प्ररूपित हैं। सूत्रकार भूतबलि आचार्यने उनका प्ररूपण नहीं किया। वीरसेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामीने इस अपनी रचनाको मूलसूत्रकारोंकी रचनासे पृथक् निर्देश करनेके लिये उक्त सूचनाके अतिरिक्त एक और सावधानी की है। और वह यह है कि धवलाके इस विभागको उन्होंने चूलिका कहा है। यथा—

'एत्तो उवरिमगंथो चूलिया णाम'।

वीरसेनकी इस चूलिकारूप रचनाका नाम सत्कर्म अन्यत्र भी पाया जाता है। सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी रचनादिका विशद इतिहास प्रस्तुत करनेवाले इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें कहा है—

काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्वज्ञः ॥१७७॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
उपरितम-निबंधनाद्यधिकारानष्ट दश च लिलेख ॥१७८॥
आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञानात्।
वाटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृत-जिनगृहे स्थित्वा ॥१७९॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट् खंडतस्ततस्तस्मिन्।
उपरितम-निबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥१८०॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खंडं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खंडानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥१८१॥
प्राकृत-संस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्। इत्यादि।

अर्थात् "कुन्दकुन्दाचार्यसे लगाकर बप्पदेव तक सिद्धान्तग्रन्थोंकी अनेक टीकायें लिखी जानेके पश्चात् कितने ही काल जाने पर चित्रकूटपुर निवासी श्रीमान् एलाचार्य सिद्धान्ततत्वज्ञ हुये। उनके समीप समस्त सिद्धान्तका अध्ययन करके वीरसेन गुरुने ऊपरके आठ अधिकार लिखे। फिर चित्रकूटसे आकर भगवान् वीरसेनगुरुने वाटग्रामके आनतेन्द्र द्वारा निर्मापित जिनालयमें निवास किया। और वहाँ व्याख्याप्रज्ञप्ति ग्रन्थको भी पाकर उन्होंने ऊपरके बन्धनादि अठारह अधिकारोंकी रचना पूरी की। इस प्रकार उन्होंने संक्षेपमें 'सत्कर्म' नामक छठे खंडकी रचना की; और इन छहों खण्डोंकी उनकी संस्कृत-प्राकृतमिश्रित धवला टीका बहत्तर हजार श्लोक प्रमाण तैयार हो गई।"

यहाँ इन्द्रनन्दिने वीरसेनाचार्य द्वारा रचित शेष या उपरितम अठारह अधिकारों या अनुयोगद्वारोंको ही 'सत्कर्म' नाम दिया है। अतः अनुमान होता है कि महाधवल कहलानेवाली प्रतिमें जो शेष अठारह अनुयोग द्वारोंके प्ररूपण करनेवाले 'सत्तकम्म' की पंजिका सुरक्षित है, वह वीरसेन स्वामीकी इसी रचना पर पीछेके किसी आचार्य द्वारा रची गई पंजिका हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अनुमानको जाँचके लिए पं० लोकनाथजी द्वारा दिये गये तीसरे अवतरणको देखिए। ...के विषयका प्रारंभ इस प्रकार किया गया है—

'तं जहा—तत्थ पढमाणियोगद्दारस्स णिबंधणपरूवणा सुगमा। णवरि तस्स णिक्खेवो ...विहसरूवेण परूविदो, तत्थ तदियस्स दव्वणिक्खेवस्स सरूवपरूवणट्ठं आइरियो एवमाह— तं जहा—तत्र ताव जीवदव्वस्स पोग्गलदव्वमवलंबिय पज्जाएसु परिणमण-वहाणं ...दे। जीवदव्वं दुविहं, संसारिजीवो मुक्कजीवो चेदि। तत्थ मिच्छत्तासंजमकसाय-...गेहि परिणदसंसारिजीवो जीव-भव-खेत्त-पोग्गलविवाइसरूवकम्मपोग्गले बंधिऊण पच्छा ...हिंतो पुव्वुत्तछव्विहफलसरूवपज्जायमणेयभेयभिण्णं संसरदो जीवो परिणमदि त्ति। एदेसिं ...जायाणं परिणमणं पोग्गलणिबंधणं होदि। पुणो मुक्कजीवस्स एवंविधणिबंधणं ...त्थि, किंतु सत्थाणेण पज्जायंतरं गच्छदि। पुणो

'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबंधो इदि।'

एदस्सत्थो—एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि। पुणो दुविह-जीवाणं णाण-...हायविवक्खिदजीवेहिंतो वदिरित्त-जीवपोग्गलादिसव्वदव्वाणं परिच्छेदणसहावेणं पज्जा-...तरगमणणिबंधणं होदि। एवं दंसणं पि वत्तव्वं।

इस अवतरण परसे सुस्पष्ट है कि ग्रन्थकी रचना टीका-टिप्पणरूप हो है, स्वतन्त्र रचनारूप ...हीं। दूसरी यह बात भी स्पष्ट है कि रचना निबंधन अधिकारके विषयको लेकर प्रारम्भ ...ती है। उसमें महाबंधको अन्तर्भूत करनेवाले छठे बन्धन अधिकारका स्पर्शमात्र भी नहीं ...। पंजिकाकार कह भी चुके हैं कि उस विषयका खूब प्ररूपण अन्यत्र हो चुका है। फिर ...जिकाकार कहते हैं कि वहाँ पर अर्थात् उनके आधारभूत ग्रन्थके अठारह अधिकारोंमेंसे ...थमानुयोग निबंधनकी प्ररूपणा सुगम है। विशेष केवल इतना है कि उस निबंधनका ...निक्षेप छह प्रकारसे बतलाया गया है। उनमें तृतीय अर्थात् द्रव्यनिक्षेपके स्वरूपकी प्ररूपणामें ...आचार्य इस प्रकार कहते हैं, जिसका खुलासा यह है कि यहां पर पुद्गलद्रव्यके अवलंबनसे ...जीवद्रव्यका पर्यायोंमें परिणमन विधानका कथन किया जाता है। जीवद्रव्य दो प्रकारका है ...संसारी और मुक्त। इनमें मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगसे परिणत जीव संसारी है। ...वह जीवविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी और पुद्गलविपाकी कर्मपुद्गलोंको बांधकर अनन्तर ...उनके निमित्तसे पूर्वोक्त छह प्रकारके फलरूप अनेक प्रकारकी पर्यायोंमें संसरण करता है, ...अर्थात् फिरता है। इन पर्यायोंका परिणमन पुद्गल निबंधन होता है। पुनः मुक्तजीवके ...इस प्रकार का परिणमन नहीं पाया जाता है किन्तु वह अपने स्वभावसे ही पर्यायान्तरको ...प्राप्त होता है। ऐसी स्थितिमें—'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' अर्थात् जिस ...द्रव्यका स्वभाव द्रव्यान्तरसे प्रतिबद्ध है, यह वाक्य आचार्य द्वारा कहा गया है। इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकरणके मिलानके लिए हमने वीरसेन स्वामीके धवलान्तर्गत निबन्धन अधिकारको निकाला। वहाँ आदिमें ही निबंधनके छह निक्षेपोंका कथन विद्यमान है और उनमें तृतीय द्रव्यनिक्षेपका कथन शब्दशः ठीक वही है, जो पंजिकाकारने अपने अर्थ देनेसे ऊपरकी पंक्तिमें उद्धृत किया है और उसीका उन्होंने अर्थ कहा है। यथा—

"णिबंधणे त्ति अणियोगद्दारे णिबंधणं ताव अपयद-णिबंधण-णिराकरणट्ठं णिक्खिवियव्वं। तं जहा—णामणिबंधणं, ठवणणिबंधणं, दव्वणिबंधणं, खेत्तणिबंधणं, कालणिबंधणं भावणिबंधणं चेदि छव्विहं णिबंधणं होदि।

इसके पश्चात् नाम और स्थापना निबंधनका स्वरूप बतलाया गया है और उसके पश्चात् द्रव्य निबंधनका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

"जं दव्वं जाणि दव्वाणि अस्सिदूण परिणमदि जस्स वा सद्दस्स (दव्वस्स) सहावो दव्वंतर-पडिबद्धो तं दव्वणिबंधणं"।

(धवला, कारंजा प्रति, पत्र १२६०)

प्रतिमें 'सद्दस्स' पद अशुद्ध है, वहां 'दव्वस्स' ही होना चाहिये। इस लक्षणमें वाक्यके ये शब्द 'जस्स वा दव्वस्स सहावो दव्वंतरपडिबद्धो' ठीक वे ही हैं जो पंजिका में भी उद्धृत किये गये हैं और इन्हीं शब्दोंका पंजिकाकारने 'एत्थ जीवदव्वस्स सहावो णाणदंसणाणि' आदि वाक्योंमें अर्थ किया है। यथार्थतः जितना वाक्यांश पंजिकामें पाया जाता है उतने परसे उसका अर्थ व्यवस्थित करना कठिन प्रतीत होता है। किन्तु धवलाके उक्त पूरे वाक्यको देखनेमात्रसे उसका रहस्य एकदम खुल जाता है।

इसपरसे पंजिकाकारकी शैली यह जान पड़ती है कि आधार ग्रन्थके सुगम प्रकरणको तो उसके अस्तित्वकी सूचनामात्र देकर छोड़ देना, और केवल कठिन स्थलोंका अभिप्राय अपने शब्दोंमें भूमिकारूपसे समझाकर उसी सिलसिलेमें मूलके विवक्षित पदोंको लेकर उनका अर्थ कर देना। इस परसे पंजिकाकारकी उस प्रतिज्ञाको भी स्पष्टीकरण हो जाता है जहाँ उन्होंने कहा है कि "तस्साइगंभीरत्तादो अत्थविसमपदाणमत्थे थोरुद्धयेण पंचियसरूवेण भणिस्सामो" अर्थात् 'उन अठारह अनुयोगद्वारोंका विषय बहुत गहन हैं, अतएव हम उनके अर्थकी दृष्टिसे विषमपदोंका व्याख्यान करते हैं। और ऐसा करने में मूलके केवल थोड़ेसे स्थूल उद्धरण लेंगे, यही पंजिकाका स्वरूप है। मूलग्रन्थके वाक्योंको अपनी वाक्य रचनामें लेकर अर्थ करते जाना अन्य टीका ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ, विद्यानन्दिकृत अष्टसहस्रीमें अकलंकदेवकी पूरी अष्टशती इसी प्रकार गुंथी हुई है। पंजिकाकी यह विशेषता है कि उसमें पूरे मूलग्रन्थका समावेश नहीं किया जाता, केवल विषमपदोंको लेकर समझाया जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बस, यहीं हमारा महाधवलकी प्रतिका परिज्ञान समाप्त हो जाता है, क्योंकि इसके आगेका कोई अवतरण पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उद्धृत नहीं किया। यदि और कोई अवतरण हमारे सम्मुख होते तो उनपर से विषयकी और भी अधिक जाँच की जाती। प्रतिके अन्तमें ग्रन्थके मूलभागका भी कोई अवतरण शास्त्रीजीने नहीं दिया, केवल यह सूचना दी है कि "ग्रन्थके अन्तमें कर्ताके नाम प्रशस्ति आदि कुछ भी नहीं है। अन्तमें दो चार कर्णाटक भाषाके श्लोक हैं जो कि माघनन्द्याचार्यके विषयमें प्रशंसात्मक पद्य है, तथा अन्तके श्लोकमें लिखा है कि रूपवतीसेनकी पत्नीने पंचमी व्रतविधान करके उद्यापनाके समय इस महाधवल सिद्धान्त ग्रन्थको लिखवाकर श्रीमाघनन्द्याचार्यको शास्त्रदान किया।" ये कनड़ीके पद्य शास्त्रीजीने उद्धृत भी किये हैं। किन्तु उनपरसे मूल ग्रन्थके विषयमें कोई प्रकाश नहीं पड़ता और न प्रति लिखनेका समय ही ज्ञात होता। तथापि उस प्रशस्तिमें भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि ग्रन्थका नाम महाधवल व अन्य कुछ भी उन पद्योंमें नहीं पाया जाता।

३—क्या महाधवल कहलाने वाली प्रति में महाबंध होने की संभावना है ?

पं० लोकनाथजी के अवतरणों परसे महाधवलकी प्रतिके ग्रन्थभागकी अन्तिम सीमाका हमें कुछ भी परिचय प्राप्त न हो सका। अतएव इस विषयमें अन्तिम आशा यह हो सकती है कि उक्त प्रतिके प्रारम्भमें वीरसेनकृत अठारह अनुयोगद्वारोंकी पंजिका हो और तत्पश्चात् उसमें महाबंधकी रचना भी हो। किन्तु ग्रन्थके परिमाणको देखनेपर यह आशा भी निराशामें परिणत होने लगती है। पं० लोकनाथजी शास्त्रीने उक्त महाधवलकी श्लोक-संख्या चालीस हजार अंकित की है। परंतु इसका निर्णय उन्होंने प्रतिको देखकर किया नहीं प्रतीत होता, किन्तु ब्रह्म हेमचन्द्र विरचित श्रुतस्कंधकी एक गाथाके आधारसे किया है जिसे उन्होंने स्वयं भी उद्धृत कर दिया है। वह गाथा है—

'सदरी सहस्स धवलो जयधवलो सट्ठिसहस बोधव्वो।
महबंधो चालीसं सिद्धन्ततयं अहं वंदे ॥८८॥

इस गाथाके अनुसार ही उन्होंने धवलाकी श्लोकसंख्या सत्तर हजार, जयधवलाकी साठ हजार और महाधवलकी चालीस हजार दी है। यद्यपि पंडितजीने उक्त रिपोर्टमें ताड़पत्रोंकी लम्बाई चौड़ाई नहीं दी, तथापि उन प्रतियोंका जो परिचय पंडितजीने हमें भेजनेकी कृपा की है उसमें उन्होंने तीनों प्रतियोंके ताड़पत्रोंकी लम्बाई लगभग सवा दो फुट और चौड़ाई तीन इञ्च लिखी है। लिखाई भी तीनों प्रतियोंकी प्रायः एकसी अनुमान की जा सकती है। धवलाकी सत्तर हजार श्लोक संख्या ५९२ ताड़पत्रोंमें समाप्त हुई कही गई है, जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार प्रत्येक पत्रपर औसत ११८ श्लोक प्रमाण आती है। उसी प्रकार जयधवलाकी साठ हजार श्लोकसंख्या ५१८ पत्रोंमें समाप्त होनेसे प्रतिपत्र ११६ की औसत आती है। अतः धवला और जयधवलाकी पत्रसंख्या उनके परिमाणके अनुसार प्रायः समान है। किन्तु महाधवलके ताड़पत्रोंकी संख्या केवल दो सौ कही गई है। यदि प्रत्येक पत्र पर हम धवला प्रतिके ११८ श्लोकोंकी औसत ले लें तो इन दो सौ पत्रोंका ग्रन्थ प्रमाण केवल तेईस हजार छह सौ अर्थात् चौबीस हजार के भीतर आता है, चालास हजार नहीं। यदि चालीस हजारकी पूर्ति उन दो सौ पत्रोंमें मानलें तो प्रत्येक पत्रमें श्लोक संख्या दो सौ माननी पड़ेगी जो धवला और जयधवलाकी औसतसे प्रायः दूनी पड़ जाती है और असाधारण जँचती है। इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें महाबंधकी श्लोक-संख्या केवल तीस हजार प्रकट की है। यथा—

प्रविरच्य महाबंधाह्वयं ततः षष्ठकं खण्डम् ॥१३९॥

त्रिंशत्सहस्रसूत्रग्रन्थं व्यरचयदसौ महात्मा।

किन्तु इस तीस हजारको भी दो सौ पत्रोंमें समाविष्ट करनेके लिये प्रतिपत्र एक सौ पचास श्लोक-संख्या मानना पड़ेगी जो धवला जयधवलाकी औसतसे फिर भी प्रायः डेढ़गुनी बढ़ जाती है। ऐसी अवस्थामें महाधवल कहलानेवाली प्रतिके भीतर पूरे महाबंधकी ही गुंजायश नहीं बैठती। फिर उसमें अनुयोगद्वारोंकी 'सुमहार्थ विवरण' रूप पंजिका और महाबंध, दोनों रचनाओंके समाविष्ट होनेकी आशा करना तो बिलकुल ही अयुक्तिक ठहरता है। यथार्थतः तो वह दो सौ पत्रोंका कुल ग्रन्थ तेईस या चौबीस हजार श्लोक-प्रमाण सिद्ध होता है, जो उक्त सत्कम पंजिकाका ही परिमाण अनुमान किया जा सकता है।

यही आशंका मुझे धवलाके द्वितीय भागकी प्रस्तावना लिखते समय उत्पन्न हुई थी, किन्तु उस समय उसका आवरण करके प्रस्तावनाके पृष्ठ ३२ पर मैंने केवल इतना संकेत कर दिया था कि "प्राप्त अवतरण परसे महाधवलकी प्रति व उसके विषय आदिके सम्बन्धमें अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं और प्रतिकी परीक्षा करनेकी बड़ी अभिलाषा उत्पन्न होती हैं"। इत्यादि।

इस निराशाके अंधकारमें आशारूपी प्रकाशकी एक चिनगारी मुझे एक जनःश्रुति परसे आती है। कुछ वयोवृद्ध लोगोंसे ऐसा भी सुना गया है कि मूडबिद्रीमें सिद्धान्तग्रन्थोंकी प्रतियां तीन नहीं, चार हैं, जिनके नाम धवल, जयधवल, महाधवल और विजयधवल कहे जाते हैं। यदि इस किंवदन्तीमें कुछ तथ्यांश हो तो उस चौथी प्रतिमें महाबंधके होनेकी आशाकी जा सकती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखका सारांश.

इस लेखका सारांश यह है कि श्रीषट्खंडागमके पांच खंड श्रीधवलमें ग्रथित हैं और [छ]ठा खण्ड महाबन्ध स्वयं भूतबलि आचार्य द्वारा विस्तारसे रचित स्वतंत्र प्रस्तकारूढ (?) कहा [जा]ता है। अब तक हम सबकी यह आशा रही है कि मूडबिद्रीके सिद्धान्तभवनमें जो [महा]धवलकी प्रति सुरक्षित है, उसीमें महाबंध खण्ड विद्यमान हैं। किन्तु उस महाधवलका [जि]तका जो कुछ परिचय अब तक बाहर आया है उसपरसे आशंका होती है कि सम्भवतः [उ]समें महाबंध खण्ड न होकर केवल वीरसेनाचार्य द्वारा धवला में रचित शेष अठारह [अनु]युयोगद्वारोंकी एक पंजिकामात्र सुरक्षित है। इस निष्कर्ष परसे महाबंध ग्रन्थकी सत्ताके [वि]षयमें बड़ी आकुलता हो उठी है। अतएव मूडबिद्री सिद्धान्त भवनके संरक्षकोंसे प्रार्थना [है] कि वे दो चार अधिकारी विद्वानोंसे महाधवलकी जांच कराकर इस आशंका और [आ]कुलताका शीघ्र निवारण करनेकी कृपा करें। यदि उक्त प्रति में सचमुच ही महाबंध [न]हीं है तो यह भी खोज की जानी चाहिये कि क्या और किसी प्रतिमें वह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ [वि]द्यमान है। हमारी साहित्यिकनिधि हमारे प्रमादसे बहुत खोई गई है, किन्तु अब इस [ग्र]न्थरत्नका खोया जाना समझदारों को बहुत दुःखकर होगा।

आशंका और आशा, दोनों सिद्ध होते दिखाई देते हैं।

महाबन्ध संबंधी इस विषयकी महत्ताके ख्यालसे इस लेखका सारांश तुरंत जैन साप्ताहिक पत्रोंमें प्रकाशित करा दिया गया था। उस लेख पर मुझे विषयके जानकार विद्वानोंके जो अभिप्राय मिले उनसे मेरी आशंकाकी पूर्णतया पुष्टि हुई। पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने तारीख ४-११-४० के पत्रमें मुझे सूचित किया 'मेरी तो बहुत पहलेसे यह धारणा है कि महाधवलमें महाबंध नामका छठा खंड शामिल नहीं है।' मूड़बिद्रीसे पं० लोकनाथ जी शास्त्रीने अपने तारीख ८-११-४० के पत्र द्वारा सूचिन किया कि "इसका (महाधवलका) प्रारंभिक भाग आदि देखने पर ज्ञात होता है कि यह महाबंध खंड न होकर केवल वीरसेना-[चा]र्य द्वारा रचित धवलाके शेष अठारह अधिकारों की पंजिकामात्र है।" शास्त्रीजीने अपने पत्रके साथ महाधवलके कुछ और भी अवतरण भेजनेकी कृपा की जो उनके पास पहलेसे नोट थे। उनसे मुझे और भी उक्त बातका निश्चय हो गया क्योंकि वे अवतरण निबंधन अधिकारके आगे प्रक्रम और उपक्रम अधिकारोंके हैं जिनका धवलासे ठीक मिलान बैठ जाता है। किन्तु ग्रंथके अन्तकी सीमाका कुछ भी परिचय प्राप्त न होने से मुझे तथा उक्त दोनों विद्वानोंको यह आशा लगी हुई थी कि अन्तकी ओर संभवतः महाबंध हो? अब मुझे मूडबिद्रीसे भट्टारक स्वामी तथा मठके पंचोंकी ओरसे तार द्वारा, और फिर पं० लोकनाथजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा भट्टारकस्वामीके पत्रों द्वारा यह सूचना मिली है कि मेरे लेख से चिन्तित होकर महाधवल प्रतिकी अनेक स्थानीय विद्वानोंसे देखरेख कराई गई जिसके फलस्वरूप ज्ञात हुआ है कि "ताड़पत्रके पत्र २७ तक सत्कर्मपंजिका समाप्त हुई है, उसके बाद महाबंध प्रकरण है। उसमें प्रकृत्यादि चार बंधविधान हैं।"

इस प्रकार हमारी आशंका और आशा दोनों सिद्ध होती दिखाई देती हैं। इस विषयके निर्विवाद निर्णयके लिये मैंने सिद्धान्त ग्रन्थोंके अधिकारियोंसे महाधवलके कुछ आदि, मध्य और अन्तके सुविस्तृत अवतरण भेजनेकी प्रार्थना की है। यह अत्यन्त हर्ष और संतोषकी बात है कि इस विषयमें भट्टारक चारुकीर्त्तिजी स्वामी तथा मठके अन्य सब पंचगण बड़ी रुचि और उदारता दिखा रहे हैं, तथा मुझे उनकी ओरसे सहयोगका पूर्ण आश्वासन मिल रहा है। सब कार्य काललब्धिसे सफल होते हैं।

श्रीयुत प्रोफेसर हीरालालजी का 'श्रीमहाधवलमें क्या ?' यह शीर्षक लेख मुझे मूडबिद्री में पढ़ने को मिला। उस समय वहां पर इसकी काफी चर्चा भी थी। अपने भाग्योदय से श्रद्धेय भट्टारकजी एवं पंचों के सदिच्छानुसार स्थानीय अन्य विद्वानों के साथ मुझे भी उक्त ग्रन्थरत्न को देखने का सुअवसर मिला जिसका परिणाम प्रोफेसर साहब ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। प्रोफेसर हीरालालजी के इच्छानुसार महाधवल के आदि, मध्य और अन्त के अवतरण भी मेरे सामने ही मूडबिद्री से अमरावती भेज दिये गये थे। अब इस विषय का निर्विवाद निर्णय हो जाना चाहिये। बल्कि बड़े हर्ष की बात है कि मेरी प्रेरणा एवं भट्टारकजी तथा पंचों की असीम उदारता से पं० लोकनाथजी शास्त्री एवं पं० नागराजजी शास्त्री धवला के मुद्रित दो खंडों का मिलान मूल प्रतियों से कर के पाठभेदादि को मेरे सामने ही अमरावती भेज चुके थे। आगे का अर्थात् तीसरे खंड का काम भी चालू रहा। इतना ही नहीं, धवलादि ग्रन्थों के ताड़पत्र सम्बन्धी प्रतियों के रक्षादारु पर जो सुंदर रंगीन चित्र थे उन का फोटो भी मैंने प्रोफेसर हीरालाल जी के पास भिजवाया है। मैं आशा करता हूं कि इन चित्रों को भी प्रोफेसर साहब धवला के आगे के किसी खंड में अवश्य स्थान देंगे। इन सब बातों को ज्ञात कर समाज को आशातीत संतोष होना स्वाभाविक है।

—के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंत्रशास्त्र का एक अलभ्य जैनग्रन्थ

(लेखक—श्रीयुत अगरचंद नाहटा, सं० "राजस्थानी")

विविध तीर्थकल्प के रचयिता सुप्रसिद्ध खरतरगच्छीय श्रीजिनप्रभसूरिजी† ने अपनी ...नुयोगचतुष्टय व्याख्या' नामक लघुकृति में अपने 'रहस्यकल्पद्रुम" नामक ग्रन्थ का उल्लेख ...शब्दो में किया है :—

खरटमहासमतुल्लं वज्जोखीरेण भावियं बहुसो।
निग्गीवोयरपक्कं हवेइ कंदुज्जलं सव्वं।

आम्नायस्त्वयं 'रहस्यकल्पद्रुमे'ऽस्माभिः प्रकटितः 'इति द्रव्यानुयोगः ।।३।।

(अनेकार्थरत्नमंजूषा पृ० १३०)

पर खेद है कि अभी तक इस उत्तम ग्रन्थ का कहीं पता नहीं लगा। बीकानेर बृहद् ...नभंडार के फुटकर मंत्रसंग्रह के पत्रों में चार पत्रों की एक प्रति है उसमें इस रहस्य-...ल्पद्रुम' का कुछ अंश उद्धृत किया पाया जाता है जिससे मूलग्रन्थ के विषयादि की कुछ ...ांकी मिल जाती है। पाठकों के अवलोकनार्थ उन पत्रों की आवश्यक नकल यहाँ दी ...जाती है:—

"भट्टारकश्रीजिनप्रभसूरिकृतरहस्यकल्पद्रुममध्यात् प्रयोगा दृष्टप्रत्यया लिख्यन्ते ।।

"ॐ नमो अरि अरिणमोहिणि मोहय २ स्वाहा" अर्हदायतने जाप्यः।

१०८ इति पूवसेवा, लाभाय नित्यं जापः १०८ ।१। अनेनाभिमंत्र्य यद्वस्तु दीयते ...नेवस्त्रीपुरुषवश्यता ।२। अनेनैव सप्तकृत्वः एकविंशतिकर्करैः क्षीरतरुं आहत्य पुरे प्रवेशे तत्र ...लाभः ।३। अनेनैव पात्राणि वार २१ अभिमंत्र्यते भिक्षालाभः ।४।

(=ॐ ह्रीं कपालेश्वरीयं (?) भिक्षां मे देहि २ हुं फट् स्वाहा वार ७ अनेन मंत्रेण ...पात्रा(णि) मंत्रयेत् भिक्षा प्रचुर पतिते (?) ॥२॥

ॐ सिद्धि घंटा टंका जीमूत स्वाहा। एनं मंत्रं भणद्भिः क्षीरवृक्षः कर्करैर्हन्यते प्रदक्षिणं ...भ्रमद्भिः वार २१ ग्राममध्ये प्रविष्टानां स्नान-गौरव-विलेपन-भोजन-वसनादि नगरेभ्यो ...भवति ।।

---

†आप का ऐतिहासिक चरित्र हमारे लिखित, जिनविजय जी सम्पादित सूरि जी रचित "विधिप्रवर" ग्रन्थ में शीघ्र ही प्रकट होने वाला है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ॐ अनघे कामाय स्वाहा ।। एनं मंत्रं भणद्ग्रामप्रवेशे सप्तभिः जलचुलुकामि किंचिद्वनस्य तीक्ष्णीक्ष्यते (?) मध्ये गतो भोजनादिः ।

ॐ नमो माणिभद्राय ह्रीं किणि २ स्वाहा ।। वार ३२ अभिमंत्र्य दंतकाष्ठं क्रियते अशनादिलाभः ।।

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं ग्लूं गणपति वरवरद विश्वं मम वश्यमानयानय स्वाहा ॥ दिन प्रति वार १०८ जप्यते लाभः ।

ॐ ह्रीं असिआउसा अनाहत विद्योर्हं नमः ॥ लाभ मंत्रः ॥

ॐ ह्रीं चरेसुचरे असिआउसाय नमः वार १०८ प्रभाते स्मरणं धनलाभः ।

ॐ नट्ठट्ठमयठाणो पणट्ठकम्मट्ठनट्ठसंसारे, परिमिट्ठानट्ठियट्ठे, *अट्ठगणा धीसरेवंदे ।१। अनया विद्ययाश्वादिक्रयाणक ? वार २१ऽ१०८ अभिमंत्र्यते विक्रयो भवति ।।

ॐ क्षादेवदत्तय २ अलक्तकेन यावंति नामानि लिखित्वा आसनस्याधो मुच्यते तावंति वशी ॥

णमो विउव्विरिद्धिपत्ताणं, दिन २८ जाप काम्यवस्तूनि प्राप्यंते ॥

विद्यामंत्र—ॐ ह्रीं श्रीं अर्हंवद २ वाग्वादिनि भगवति सरस्वती ह्रीं नमः ।। लक्ष जापात्सिद्धिः ।।

दृष्ट्वा संभमकारिवस्तु० ? इदं काव्यं वारत्रयं भणित्वास्योपरि हस्तवाहना वक्षोभोना।(?)

ॐ ह्रीं ऐं क्लीं नमः । ए जीभइं भाग्नि पहिलुं लिखीजैपछै पांणी सुं पाइयै ग्रहण दिनै ॥

ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं ब्लूं ह्स्कल्ह्रीं ऐं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः ॥ ए मूल शुद्ध मंत्रः १२००० जापः पंचामृतहोमः शारदा वरदायिनी भवति ॥

ॐ मञ्ज श्रीकुमारदूताय बोधिसत्वाय महासत्वाय कारुणिकाय तद्यथा किरि २ पि हिरे स्वाहा ।। सप्त चुलुकान् मंत्रयित्वा पिबेत् । सप्ताहेन सकृतः दुःशास्त्रं समायाति ।।

ॐ ह्रीं श्रीं सूर्याय नमः । सप्तलक्षाणि यो विद्यां मायायेकाक्षरं जपेत् तस्य सिद्ध्यंति वागीशाः पुष्पैरिंदुसमप्रभः ।।१।। ॐ जंभे मोहेव सुमति सुभगे स्वाहा । वार ७ऽ२१ वस्त्रमभिमंत्र्य परिधापनं सौभाग्यं भवति ।।

इसके बाद "अथ पद्मावतीसाधनमंत्रः लिख्यते" लिखा है। अतः संभव है रहस्य कल्पद्रुम का उद्धरण ऊपर के अंश तक का ही होगा।

* अद्धगणाधीसरी वंदे (पाठा०)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत चार पत्रों वाली प्रति सं० १९०० के लगभग की ही लिखी हुई है। अतः बहुत संभव लेखक ने ग्रन्थ को देख कर ही उससे नकल की होगी। अतएव खोज करने पर मूलग्रन्थ (किसी भंडार में) अवश्य मिल जायगा। शोध-खोज प्रेमी विद्वानों से अनुरोध है यदि कहीं इस ग्रन्थ की प्रति उन्हें उपलब्ध होजाय तो मुझे सूचित करने की कृपा करें।

यद्यपि जैनमुनियों को तंत्र-मंत्र, औषधादि का उपयोग करने का मूल जैनागमों में ध है, पर मध्यकाल में काफी प्रचार हुआ है दि० मंत्रसाहित्य के कुछ ग्रन्थों का उल्लेख भुजबलीजी ने अपने "जैनमंत्रशास्त्र" लेख में किया है। श्वेताम्बर समाज में भी मंत्र-साहित्य काफी उपलब्ध है जिनके विषय में फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

नाहटाजी का यह लेख मेरी अनुपस्थिति में कम्पोज हुआ है। इस "रहस्यकल्पद्रुम" थ की नहटाजी ने तारीफ भी की है। पर ग्रन्थ के उद्धरणों को देखने से इसकी उत्तमता संदेह होता है। या फिर यथार्थनिर्णय इसकी शुद्ध प्रति मिलने पर ही होसकता है। यह ने तो अशुद्धियों से भरी पड़ी है।

—के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध-विषय

(१)

'भास्कर' की बात

'भास्कर' अपने जन्मकाल से त्रैमासिकरूप में प्रकट होकर ज्ञान का प्रकाश करता आया है। उसका उद्देश्य एक मात्र जैन-महिमा को प्रकाशित करना है। उसके संचालक और सम्पादक केवल धर्मभाव और साहित्य-लगन से प्रेरित होकर उसकी सेवा करने में तल्लीन हैं— किसी का कोई निजी स्वार्थ नहीं है। परमार्थ-प्रकाश ही उनका स्वार्थ है—ज्ञानविनय के इस सच्चे साधन से वे अपनी आत्मतुष्टि कर रहे हैं। 'भास्कर' भी ज्ञानोद्योत में अग्रणी होता आया है; परंतु हमें यह प्रकट करते हुए दुःख होता है कि जैनियों ने अपने 'भास्कर' को वैसा नहीं अपनाया जैसा उन्हें अपनाना चाहिये। हम जानते हैं और मानते हैं कि 'भास्कर' के लेख गंभीर और नीरस होते हैं; परन्तु ज्ञान-मार्ग ही ऐसा है। ज़ाहिरा वह नीरस है, परन्तु जिन्हें ज्ञानरस का स्वाद मिल गया है उनके लिये वह अत्यन्त सरस है। आज यदि जैनी 'भास्कर' जैसे ज्ञान-रस से ओतप्रोत वीर-संदेश-वाहक और उद्योतक पत्र को नहीं अपनाते हैं, तो यही समझना चाहिये कि उनमें ज्ञान-रसके रसिकों का बाहुल्य नहीं है। यदि यह अनुमान ठीक है तो जैनियों के लिये यह स्थिति भयानक है। याद रखिये; ज्ञान ही जीवन है—ज्ञान ही प्रकाश है और ज्ञान में ही अमरत्व है। जैनजीवन के लिये ज्ञान का प्रसार जैन जनता में अधिकाधिक होना आवश्यक है। 'भास्कर' इस ज्ञान प्रसार में निरन्तर सहायक रहा और रहेगा। उसके पाठक यदि अधिक होंगे तो वह भी धर्म और संघ की सेवा अधिक कर सकेगा। यदि इसके पाठक और ग्राहक अधिक नहीं होंगे तो भी समुदार सञ्चालक महोदय की दानशीलता से वह ज्ञानोद्योत का पुण्य प्रयत्न करता रहेगा। आज योरप के महायुद्ध ने जीवन के प्रत्येक भाग में संकट उपस्थित कर दिया है। भारत का पत्र-संसार भी इस संकट से मुक्त नहीं है। 'भास्कर' भी उसके भयानक प्रभाव से अछूता कैसे रहे? एक ओर परिमित ग्राहक संख्या—दूसरी ओर काग़ज़, स्याही आदि के बढ़ते हुए दाम; ऐसी स्थिति में 'भास्कर' अपने जीवन को स्थिर रख सके, यही बड़ी बात है! हठात सञ्चालक महोदय की दानशीलता ने उसे जीवित रक्खा है! इस उदारता के लिये 'भास्कर-मंडल' संचालक महाशय का आभारी है। परन्तु इस संकटकाल में 'भास्कर' अब एक वर्ष में चार बार दर्शन न देकर केवल दो बार ही प्रकट होगा—वह त्रैमासिक से अर्द्धवार्षिक होगा! इस संकट के व्यतीत होने पर अथवा बीच में ही यदि पाठकों का काफी सहयोग मिला तो 'भास्कर' अपने पूर्वरूप पर आ जायगा। आशा है, पाठकगण हमारी असमर्थता का ध्यान रखकर 'भास्कर' को उन्नत बनाने के लिये पूरा सहयोग देंगे। —कामता प्रसाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२)

यों तो इधर अर्से से मैं पारिवारिक झंझटों से अधिक घिरा रहा। इधर ४, ५ महीनों इसकी मात्रा बढ़ गई है। अभी भी मेरा एकमात्र पुत्र यकृद्रोग से पीड़ित है। जब आरा पटना के नामी वैद्य एवं डाक्टरों के इलाज से कोई लाभ नहीं हुआ तब उन्हीं की सलाह से स कर जलवायु परिवर्तन के लिये बालक को मुझे देश ले जाना पड़ा। अभी भी वह वहां अस्वस्थ ही है। इस अनिवार्य कारण से दिसम्बर की किरण कुछ विलम्ब से आपलोगों सेवा में भेजी जा रही है। मैं इसके लिये क्षमाप्रार्थी हूं। मुझे दृढ़ आशा है कि आगे सा नहीं होगा। 'भास्कर' की पिछली प्रत्येक किरण यथासमय पाठकों की सेवा में पहुंचती ही है। इसलिये मेरा विश्वास है कि नाममात्र का यह विलम्ब आपलोगों को नहीं टकेगा।

(३)

इसी किरण में प्रकाशित एक निवेदन से विज्ञ पाठकों को 'भास्कर' की आर्थिक स्थिति का ज्ञान हुआ ही होगा। कारणवश इसका संकेत कुछ समय पूर्व बम्बई विश्व-विद्यालय के रिसर्च स्कॉलर, सुयोग्य विद्वान् श्रीयुत उमाशंकर प्रेमचन्द शाह, एम० ए० बरोदा को करना पड़ा। उक्त महोदय ने अपने एक मार्मिक पत्र के साथ तुरन्त ही 'भास्कर' के लिये सहायता के रूप में १०) रुपये भेज दिये। देखिये—एक जैनेतर विद्वान् का जैन साहित्यप्रेम। जहाँ हमारे लक्षाधीश तक 'भास्कर' के केवल चार रुपयों की वी० पी० लौटाने में तनिक भी संकोच नहीं करते हैं, वहाँ पर इन जैनेतर विद्वान् की उदारता उल्लेखनीय है। क्या अपने को समाज का कर्णधार समझनेवाला जैन धनिकवर्ग इससे शिक्षा लेगा ?

—के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्य-समालोचना

(१)

मणिधारी श्रीजिनचन्द्रसूरि

लेखक—अगरचन्द नाहटा और भंवरलाल नाहटा; प्रकाशक—शंकरदान शुभैराज नाहटा, नं० ५/६ आरमेनियन स्ट्रीट, कलकत्ता; पृष्ठ ७६ + ४; मूल्य दो आने; संवत् १९९७।

इस छोटी सी रचना में नाहटाबन्धुओं ने सुयोग्य विद्वान् श्रीजिनचन्द्रसूरि का जीवन-चरित आकर्षक शैली में अंकित किया है। चरित्र बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इस ऐतिहासिक कृति का मुख्य आधार जिनपालोपाध्याय-रचित 'गुर्वावली' है जो कि पुरातत्त्व के पण्डित श्रीजिनविजयजी के द्वारा संपादित होकर 'सिंधीग्रन्थमाला' की ओर से प्रकाशित होने जा रही है। प्रस्तुत चरित्र संक्षिप्त होते हुए भी प्रामाणिक है। इसमें परिशिष्टरूप में सूरि जी की एकमात्र कृति 'व्यवस्थाकुलक' भी सानुवाद दिया गया है। वास्तव में नाहटा-बन्धुओं का यह परिश्रम प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

(२)

गौरवगाथा

लेखक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय; प्रकाशक—मंत्री, जैन संघटन सभा, पहाड़ी धीरज, देहली; पृष्ठ सं० २०; मूल्य चार पैसा; सन् १९४०।

इस ऐतिहासिक रचना में सिद्धहस्त अनुभवी लेखक ने वीरसेनाचार्य, कालकाचार्य, राजा हरसुख राय और सेठ सुगनचन्द इन चार आदर्श व्यक्तियों का अनुकरणीय जीवनचरित्र अङ्कित किया हैं। अपने पूर्वजों की गौरवगाथाओं से परिचित होने के लिये यथार्थ में ऐसी रचनाएं बड़े काम की चीजें हैं। श्री गोयलीय जी की सजीव लेखनी में बल है, उत्साह है। मैं आशा करता हूं कि प्रत्येक नवयुवक इसे मंगा कर एकबार अवश्य पढ़ेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३)

एकीभाव स्तोत्र (सटीक)

अनुवादक और संपादक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री; पृष्ठ सं० ५१; मूल्य तीन आने; सन् १९४०।

आचार्य वादिराजकृत यह स्तोत्र जैन समाज में विश्रुत है और इस के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत संस्करण में भट्टारक श्रीचन्द्रकीर्ति कृत संस्कृत टीका, पं० भूधर दासकृत पद्यानुवाद एवं पं० परमानन्द शास्त्रीकृत हिन्दी-अनुवाद ये तीनों सम्मिलित कर दिये गये हैं इसलिये अधिक उपयोगी है। साथ ही साथ प्रारम्भ में विद्वान् सम्पादक के द्वारा परिश्रम से लिखी गई प्रस्तावना ने भी इस संस्करण की उपयोगिता को बढ़ाया है। सारांशतया संस्करण सर्वथा उपादेय है।

(४)

वृहत्स्वयंभूस्तोत्र

सम्पादक—वे० लोकनाथ शास्त्री; प्रकाशक—श्रीवीरवाणीग्रन्थमालासमिति, मूडुविदुरे; पृष्ठ संख्या १०१; मूल्य छः आने; सन् १९४०।

यह श्रीसमन्तभद्राचार्य रचित सुप्रसिद्ध 'वृहत्स्वयंभूस्तोत्र' का कन्नड अनुवाद है। अनुवाद अच्छा है। श्लोक बहुत छोटे टाइपों में दिये गये हैं यह थोड़ा खटकता है। ग्रन्थकर्त्ता के परिचय को विशद कर दिया जाता तो और सुन्दर होता। कागज, मुद्रण आदि सन्तोषप्रद हैं।

(५—६)

कथामंजरी

लेखक—पं० देवीदयाल चतुर्वेदी, 'मस्त'; प्रकाशक—सरल-जैन-ग्रन्थ-माला, जब्बलपुर; पृष्ठ सं० ३५+३८; मूल्य प्रथम भाग का ढाई आने और द्वितीय भाग का तीन आने; सन् १९४०।

कथामंजरी के दोनों भागों में जैनधर्म की बालोपयोगी कई सुन्दर एवं सचित्र कथाएँ दी गई हैं। वास्तव में धार्मिक भावनाओं को जगाने के लिये ऐसी सरल और रोचक कथाएँ बहुत ही उपयोगी साधन हैं। इस उपयोगी साधन से हमारे पूर्वज भलीभांति परिचित थे। हां, यह बात सत्य है कि जैन समाज में समयानुकूल रोचक ढंग से लिखी हुई सचित्र कथाओं का अभाव था। सरल-जैन-ग्रन्थमाला ने इस ओर कदम बढ़ा कर जैनसमाज का अनुकरणीय सच्चा उपकार किया है। बालकों के कल्याणेच्छु संरक्षक बालोपयोगी इन पुस्तकों को खरीद कर प्रकाशक के उत्साह और बालकों के ज्ञान-साधन को अवश्य बढ़ावेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिलोयपण्णत्ती

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगातरंगिणीए उभयंतरवेदियाण वणसंडा।
अत्तुट्टसरूवेणं संपत्तरजदसेलंतं ॥२३४॥
वरवज्जकवाडाणं संवरणपवेसणाइं मुत्तूणं।
सेसगुहब्भंतरयं गंगातडवेदिवणसंडा ॥२३५॥
रुप्पगिरिस्स गुहाए गमणपदेसम्मि होदि वित्थारो।
गंगातरंगिणीए अट्ठं वि य जोयणाणि पुढं ॥२३६॥
विजयड्ढगिरिगुहाए संगंतूणं जोयणाणि पणुवीसं।
पुव्वावरा णदाओ[1] उम्मग्गणिमग्गसरिआओ ॥२३७॥
णियजलपवाहपडिदं दव्वं गरुवं पि णेदि[2] उवरिम्मि।
जम्हा तम्हा भण्णइ उम्मग्गा वाहिणी एसा ॥२३८॥
णियजलभरउवरिगदं दव्वं लहुगं पि णेदि हेट्ठम्मि।
जेणं तेणं भण्णइ एसा सरिया णिमग्ग त्ति ॥२३९॥
सेलगुहाकुंडाणं मणितोरणदारणिस्सरंतीओ।
वड्ढइरयणविणिम्मियसंकमपहुदी य वित्थिण्णा ॥२४०॥
वणवेदीपरिखित्ता पत्तेक्कं दोण्णि जोयणायामा।
वररयणमया गंगाणइस्स पवहम्मि पविसंति ॥२४१॥
पण्णासजोयणाइं अधियं गंतूण पव्वयगुहाए।
दक्खिणदिसदारेणं खुभिदा भोगीव णिग्गदा गंगा ॥२४२॥
णिस्सरिदूणं एसो दक्खिणभरहंमि रुंदसेलादो।
उणवीसं सहियसयं आगच्छदि जोयणा अधिया ॥२४३॥

११९ । ३ ।
१९

आगंतूण णियंतो पुव्वमहीमागधम्मि तित्थयरे।
चोद्दससहस्ससरियापरिवारा पविसदे उवहिं ॥२४४॥
गंगामहाणदीए अड्ढाइज्जेसु मेच्छखंडेसु।
कुंडजसरिपरिवारा हुवंति ण हु वज्जखंडम्मि ॥२४५॥
बासट्ठि जोयणाइं दोण्णि य कोसाणि वित्थरा गंगा।
पण कोसा[3] गाढत्तं उवहिपदेसप्पवेसम्मि २४६॥

1 D वरायदाओ; 2 ABS णो; 3 D आगाढत्तं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दीवजगदीयपासे णइविल[1]वदणम्मि तोरणं दिव्वं ।
विविहवररयणखजिदं खंभट्ठियसालभंजियाणिवहं ॥२४७॥
थंभाणं उच्छेहो तेणउदीजोयणाणि तियकोसा ।
एदाण अंतरालं बासट्ठी जोयणा दुरेकोसो[2] ॥२४८॥

९३ । को ३ । ६३ । को २ ।

छत्तत्तयादिसहिदा जिणिंदपाडमा य तोरणुवरिम्मि ।
चेट्ठंति सासभाओ सुमरणमेत्तेण दुरिदहणा ॥२४९॥
वरतोरणस्स उवरिं पासादा होंति रयणकणयमया ।
चउतोरणवेदिजुदा वज्जकवाडुज्जलदुवारा ॥२५०॥
एदेसु मंदिरेसुं देवीओ दिक्कुमारिणामाओ ।
णाणाविहपरिवारा वेंतरियाओ विरायंति ॥२५१॥
पउमदहादो पच्छिमदारेणं णिस्सरेदि सिंधुणदी ।
तट्ठाणवासरादो तोरणपहुदी सुरणदिसरिच्छा ॥२५२॥
गंतूण थोवभूमी सिंधुमज्झम्मि होदि वरकूडो ।
वियसियकमलायारो रम्मो वेरुलियणालजुदो ॥२५३॥
तस्स तला अइरित्ता दीहजुदा होंति कोसदलमेत्त ।
उच्छेहा सलिलादो उवरि पएसम्मि इगिकोसा ॥२५४॥
बे कोसा वित्थिण्णो तेत्तिय[3]मेत्तोदएण संपुण्णो ।
वियसंतपउमकुसुमोवमाणसंठाणसोहिल्लो ॥२५५॥
इगि कोसं वे रुंदा रयणमइकण्णियायधीरम्मा ।
तीए उवरिं विचित्तो पासादो होदि रमणिज्जो ॥२५६॥
वररयणकंचणमओ फुरंतकिरणो पणासिअंतमो ।
सो उत्तुंगतोरणदुवारसुंदरसुट्ठुसोहिल्लो ॥२५७॥
तस्सिं णिलए णिवसइ अवणा णामेण वेंतरा देवी ।
एक्कपलिदोवमाऊ णिरुवमलावण्णपरिपुण्णा ॥२५८॥
पउमदहादो पणुसयमेत्ताइं जोयणाइं गंतूणं ।
सिंधूकूडमपत्तो दुकोसमेत्तेण दक्खिणावलिदो ॥२५९॥
उभयतडवेदिसहिदा उववणसंडेहिं सुट्ठु सोहिल्ला ।
गंग व्व पडइ सिंधू जिब्भादो सिंधुकूडउवरिम्मि ॥२६०॥

1 ABS णइविद; 2 ABS दुरेकोसा; 3 AB तत्तिय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुंडं दीवा सेला भवणं भवणस्स उवरिमं कूडं ।
तस्सिं जिणपडिमाओ सव्वं पुव्वं व वत्तव्वं ॥२६१॥
णवार विसेसो एसो सिंधूकूडंमि सिंधुदेवि त्ति ।
बहुपरिवारेहिं जुदा उवभुंजदि विविहसोक्खाणं ॥२६२॥
गंगाणई व सिंधू विजयड्ढगुहाय उत्तरदुवारे ।
पविसिय वेदीजुत्ता दक्खिणदारेण णिस्सरदि ॥२६३॥
दक्खिणभरहस्सद्धं पाविय पच्छिमपभासतित्थम्मि ।
चोद्दससहस्ससरियापरिवारा पविसए उवहिं ॥२६४॥
तोरणउच्छेहादी[1] गंगाए वण्णिदा जहा पुव्वं ।
सस्सव्वं[2] सिंधूए वत्तव्वा णिउणबुद्धीहिं ॥२६५॥
गंगासिंधुणईणं वेयड्ढणगेण भरहखेत्तम्मि ।
छक्खंडं संजादं ताण विभागं परूवेमो ॥२६६॥
उत्तरदक्खिणभरहो खंडाणि तिण्णि होंति पत्तेक्कं ।
दक्खिणतियखंडेसुं अज्जाखंडो त्ति मज्झिमवा ॥२६७॥
सेसा वि पंच खंडा णामेणं होंति मेच्छखंड त्ति ।
उत्तरतियखंडेसुं मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे ॥२६८॥
चक्कीण माणमलणो णाणाचक्कहरणामसंछण्णो ।
मूलोवरिमज्झेसुं रयणमओ होदि वसहगिरी ॥२६९॥
जोयणसयमुव्विद्धो पणुवीसं जोयणाणि अवगाढो ।
एक्कसयमूलरुंदा पण्णत्तरि मज्झवित्थारो ॥२७०॥

१०० । २५ । १०० । ७५ ।

पण्णासजोयणाइं वित्थारो होदि तस्स सिहरम्मि ।
मूलोवरि मज्झेसं चेट्ठंते वेदिवणसंडा ॥२७१॥
चउतोरणेहि [3]जुत्तो पोक्खरिणीवाविकूवपरिपुण्णा ।
वज्जिदणीलमरगयकक्केयणपउमरायमया ॥२७२॥
होंति हु वरपासादा विचित्तविण्णासमणहरायारा ।
दिप्पंतरयणदीवा वसहगिरिंदस्स सिहरम्मि ॥२७३॥
वररयणकंचणमया जिणभवणा विविहसुंदरायारा ।
चेट्ठंति वण्णणाओ पुव्वं पिव होंति सव्वाओ[4] ॥२७४॥

1 D उस्सेहादी ; 2 तस्सव्वं (?); 3 जुत्ता (?); 4 सव्वाओ (?) ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिउवरिमपासादे वसहो णामेण वेंतरो देवो।
विविहपरिवारसहिदो उवभुंजदि विविहसोक्खाइं ॥२७५॥
एक्कपलिदोवमाऊ दसचावसमाणदेहउच्छेहो।
बहुवंको दिहभुंजो पसो सव्वंगसोहिल्लो ॥२७६॥

। छक्खंडं गदं ।

तस्सिं अज्जाखंडे णाणाभेदेहिं संजुदो कालो।
वट्टइ तस्स सरूवं वोच्छामो आणुपुव्वीए ॥२७७॥
पासरसगंधवण्णो वदिरित्तो अगुरुलहुगसंजुत्तो।
वत्तणलक्खणकलियं कालसरूवं इमं होदि ॥२७८॥
कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हुवंति एदेसुं।
मुक्खाधारबलेणं अमुक्खकालो पयट्टेदि ॥२७९॥
जीवाण पुग्गलाणं हुवंति परियट्टणाइ विविहाइं।
पदाणं पज्जाया वट्टंते मुक्खकालआधारे ॥२८०॥
सव्वाण पयत्थाणं णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ।
बहिरंतरंगहेदूहिं सव्वभेदेसु वट्टंति ॥२८१॥
बाहिरहेदू कहिदा णिच्छयकालो त्ति सव्वदरिसीहिं।
अब्भंतरं णिमित्तं णियणियदव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥
कालस्स भिण्णभिण्णा अण्णुण्णपवेसणेण परिहीणा।
पुहपुह लोयायासे चेट्ठंते संचएण विणा ॥२८३॥
समयावलिउस्सासा पाणा थोवा य आदिया भेदा[1]।
ववहारकालणामा णिद्दिट्ठा वीयराएहिं ॥२८४॥
परमाणुस्स णियट्ठिदगयणपदेसस्स दिक्कमेणत्तो।
जो कालो अविभागी होदि पुढं समयणामा सो ॥२८५॥[2]
होंति हु असंखसमया आवलिणामो तहेव उस्सासो।
संखेज्जावलिणिवहो सो चेय[3] पंणो[4] त्ति विक्खादो ॥२८६॥

१।१।१।
२ ६

सत्तुस्सासो थोवं सत्तत्थोवायलि त्ति णादव्वो।
सत्तत्तरिदलिदलया णाली बे णालिया मुहुत्तं च ॥२८७॥

1 AB भेदो; 2 Mss. have a confusion in numbers. 3 AB चेयण; 4 पाणो (?)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१ । ७ । ७७ । १
७ १ २

समऊरोक्कमुहुत्तं भिराणमुहत्तं मुहुत्तया तीसं।
दिवसो पराणरसेहिं दिवसेहिं पक्कपक्खो हु ॥२८८॥

दो पक्खेहिं मासो मासदुगेणं उडू उडुत्तिदयं।
अयणां अयणादुगेणं वरिसो पंचेहि वच्छरेहिं जुगं ॥२८९॥

माघादी होंति उडू सिसिरवसंतानिदाघपाउसया।
सरओ हेमंता वि य णामाइं ताण जाणिज्जं ॥२९०॥

बेणिण जुगा दस वरिसा ते दसगुणिदा हवेदि वाससदं।
एदेसि दसगुणिदे वाससहस्सं वियाणेहि ॥२९१॥

दस वाससहस्साणि वाससहस्सम्मि दसहदे होंति।
तेहि दसगुणिदेहिं लक्खं णामेण णादव्वं ॥१९२॥

चुलसीदिहदं लक्खं पुव्वंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं णादव्वं पुव्वपरिमाणं ॥२९३॥

पुव्वं चउसीदिहदं णिवदंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं णिउदस्स पमाणमुद्दिट्ठं ॥२९४॥

णिउदं चउसीदिहदं कुमुदंगं होदि तं पि णादव्वं।
चउसीदिलक्खगुणिदं कुमुदं णामं समुद्दिट्ठं ॥२९५॥

कुमुदं चउसीदिहदं पउमंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खवासेहिं पउमं णामं समुद्दिट्ठं ॥२९६॥

पउमं चउसीदिहदं णलिणंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खवासे णलिणं णामं वियाणाहि ॥२९७॥

णलिणं चउसीदिगुणं कमलंगं णाम तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदिलक्खेहिं कमलं णामेण णिद्दिट्ठं ॥२९८॥

कमलं चउसीदिगुणं तुडिदंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं तुडिदं णामेण णादव्वं ॥२९९॥

तुडिदं चउसीदिहदं अडडंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं अडडं णामेण णिद्दिट्ठं ॥३००॥

अडडं चउसीदिगुणं अममंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं अममं णामेण णिद्दिट्ठं ॥३०१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अममं चउसीदिगुणं हाहंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं हाहाणामं समुद्दिट्ठं ॥३०२॥
हाहाचउसीदिगुणं हूहंगं होदि तं पि गुणिदव्वं।
चउसीदीलक्खेहिं हूहूणामस्स परिमाणं ॥३०३॥
हूहूचउसीदिगुणं एक्कलदंगं हुवेदि गुणिदं तं।
चउसीदीलक्खेहिं परिमाणमिदं लदाणामे ॥३०४॥
चउसीदीहदलदाए महालतांगं[1] हुवेदि गुणिदं तं।
चउसीदीलक्खेहिं महालदाणाममुद्दिट्ठं ॥३०५॥
चउसीदिलक्खगुणिदा महालदादी हुवेदि सिरिकंपं[2],
चउसीदिलक्खगुणिदं तं हत्थपहेलिदं णाम ॥३०६॥
हत्थपहेलिदणामं गुणिदं चउसीदिलक्खवासेहिं।
अचलप्पणाम[3] चेओ कालं [4]कालाणुवेदिणिद्दिट्ठा ॥३०७॥
एक्कत्तीसट्ठाणे चउसीदिं पुहपुहट्ठवेदूणं।
अण्णोण्णहदे लद्धं अचलप्पं होदि णउदि[5]सुण्णांगं ॥३०८॥

८४।३१।९०।

एवं सो कालो संखेज्जो वच्छराण गणणाए।
उक्कस्सं संखेज्जं जावलतोवं [6]पवत्तं उ (?) ॥३०९॥
वयण।

एत्थ उक्कस्ससंखेज्जयं जाण णिमित्तं जंबूदीववित्थारं सहस्सजोयणउवेदपमाणचत्तारिसरावयं कादव्वा सलागपडिसलागा महासलागा एदे तिण्णि वि अवट्ठिदा[7] चउत्थो अणवट्ठिदा एदे सव्वे पएणाए ठविदा एत्थ चउत्थसरावयअब्भंतरे दुवे सरिसवेत्थुदे तं जहण्णं संखेज्जयं जादं एदं पढमवियप्पं तिण्णि सरिसवेत्थूदे [8]अजहण्णमणुक्कस्ससंखेज्जयं एवं सरावए पुणो। एदमुवरिमज्झिमवियप्पं पुणो [9]भरिदसरावया देउ वा दाणउ वा हत्थे घेत्तूण दीवे समुद्दे एक्केक्कं सरिसवंदे य सो णिट्ठिदो तक्काले सलायअब्भंतरे एगसरिसउत्थूदा जं हि सलाया सम्मत्ता तं हि सरावउ वद्धारेयंतु तं भरिदूण हत्थे घेत्तूण दीवे समुद्दे णिट्ठिदव्वा जं हि णिट्ठिदं तं हि सरावयं वड्डावेयव्वं सलायसरावए सरिसवत्थूदे एदा

1 लदंगं (?); 2 B S सिरकंपं (कप्पं ?); 3 D अचलप्पं णामदओ; 4 D कालं कालाउ हवेदि णिट्ठिट्ठा; 5 D णवदि; 6 D पवत्तेओ; 7 B S अवट्ठिदो; 8 D आजहण्ण; 9 D भरिदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लायसरावया पुंणो पडिसलायसरावया पुंणो महासलाया सरावया पुणो तिण्णि सरावया णो जह दीवसमुद्दे संखेज्जदीवसमुद्दवित्थरेण सहस्सजोयणागदेण सरिसवं भरिदे तं क्कस्स संखेज्जयं अदिच्छिदूण जहण्णपरित्तासंखेज्जयं गंतूण पदिदं तदा एगरूवमवणिदे दमुक्कस्ससंखेज्जअं जम्हि जम्हि संखेयं मग्गिज्जदि तम्हि तम्हि य जहण्णमणुक्कुस्स-खेज्जयं गंतूण घेत्तव्वं, तं कस्स विसओ, चोद्दसपुव्विस्स ।

उक्कस्ससंखमज्झे इगिसमय जुदे छजहण्णयमसंखं ।

तत्तो असंखकालो उक्कस्सयसंखसमयत्तं ।१।

[1]यं तं असंखेज्जयं तिविधं । परित्तासंखेज्जयं जुत्तासंखेज्जयं असंखेज्जासंखेज्जयं चेदि । जं परित्तासंखेज्जयं तं तिविधं । जहण्णपरित्तासंखेज्जयं अजहण्णमणुक्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं क्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं चेदि । जं तं जुत्तासंखेज्जयं तं तिविधं । जहण्णजुत्ताअसंखेज्जयं जहण्णमणुक्कस्सजुत्ताअसंखेज्जयं उक्कस्सजुत्ताअसंखेज्जयं चेदि । जं तं असंखेज्जा-संखेज्जयं तं [2]तिविधं । जहण्णअसंखेज्जाअसंखेज्जयं अजहण्णमणुक्कस्सअसंखेज्जा-असंखेज्जअं उक्कस्स असंखेज्जाअसंखेज्जयं चेदि । जं तं जहण्णपरित्तासंखेज्जअं [3]विरलेदूण क्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्तासंखेज्जयं देदूण अण्णोण्णब्भत्थे कदे उक्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं तम्हि जम्हि [4]आविच्छेदूण जहण्णजुत्ताअसंखेज्जयं गंतूण पडिदत्तादो[5] एगरूवे अवणिदे जादं क्कस्सपरित्ताअसंखेज्जयं अधियाकज्जं तम्हि तम्हि जहण्णजुत्तो असंखेज्जयं घेतव्वं । जं तं जहण्णजुत्ताअसंखेज्जयं तं सयं वग्गिदो उक्कस्सजुत्तासंखेज्जयं अधिच्छिदूण जहण्णमसंखेज्जा-असंखेज्जयं गंतूणां पडिदं तदो एगरूवं अवणिदे जादं उक्ककस्सजुत्तासंखेज्जयं तदा जहण्णम-संखेज्जाअसंखेज्जयं दोप्पडिरासियं कादूण एगरासिं [6]सलायासण्णाम ठविय एगरासिं विरलेदूण[7] एक्केक्कं सरूवस्स एगपुंजसमाणं दादूण अण्णोण्णब्भत्थं करिय सलायरासिदो एगरूवं अवणिदव्वं पुणो वि उप्पण्णरासिं विरलेदूण एक्केक्कं सरूवस्सुप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णं भत्तप्पो कादूण सलायरासिदो य रूवं अवणेदव्वं एदेण कमेण सलायरासी णिट्ठिदा णिट्ठिय तदणंतररासिं दुप्पडिरासिं कादूण एयपुंजसलायं ठविय एयपुंजं विरलिदूण एक्केक्कस्स रूवस्स उप्पण्णरासिं दादूण अण्णोण्णब्भत्थं कादूण सलायरासिदो एयं रूवं अवणिदव्वं एदेण सरूएण बिदियसलायपुंजं समत्तं । सम्मत्तकाले उप्पण्णरासिं दुपडिरासिं कादूण एयपुंजं सलायं ठविय पुंजं विरलिदूण एक्केक्कस्स रूवस्स उप्पण्णरासिपमाणं दादूण अण्णोण्णब्भत्थं कादूण सलायरासीदो एयरूवस्स अवणिदव्वं एदेण कमेण तदियपुंजं णिट्ठिदं एवंकदो उक्ककस्स असंखेज्जासंखेज्जयं ण पावदि धम्माधम्मा लोगागासा एगजीव-

1 जं (?); 2 BS विविधं ; 3 D चिरलोदूण ; 4 D अदलिच्छेतूण ; 5 D पडिदत्तदो
6 D सलायममाण ; 7 D विरलोदूण ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पदेसा चत्तारि वि लोगागासमेत्ता पत्तेगसरीरबादरपदिट्ठिय पदे दो वि किंचूणसायरोवमं विरलेदूण विभंगं कादूण अण्णोण्णब्भत्थे रासिपमाणं होदि। छक्किपदे असंखेज्जरासीओ पुव्विल्लरासिस्स उवरि पक्खिविदूण[1] पुव्वं व तिण्णिवारवग्गिदे कदे उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं[2] ण उप्पज्जदि[3] तदा ठिदिबंधठाणाणि ठिदिबंधज्झवसाणठाणाणि कसायोदयट्ठाणाणि अणुभागबंधज्झवसाणठाणाणि योगपलिच्छेदाणि उसप्पिणिओसप्पिणीसमयाणि च पदाणि पक्खिविदूण पुव्वं व वग्गिदसंवग्गिदं कदे तदो उक्कस्सअसंखेज्जासंखेज्जयं जम्हि असंखेज्जासंखेज्जयं वग्गिज्जदि तम्हि तम्हि य जहण्णमणुक्कस्सआसंखेज्जासंखेज्जयं घेत्तव्वं, कस्स विसओ, ओधिणाणिस्स। छ।

उक्कस्स असंखेज्जे अवराणंतो हुवेदि रूवजुदे।
तत्तो वड्ढदि कालो केवलणाणस्स परियंतं ॥छ॥

जं तं तं तिविहं परित्ताणंतयं जुत्ताणंतयं अणंताणंतयं चेदि जुत्तपरित्ताणंतयं तं तिविहं जहण्णपरित्ताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सपरित्ताणंतयं उक्कस्सपरित्ताणंतयं चेदि[3] जं तं जुत्ताणंतयं तं तिविहं जहण्णजुत्ताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सजुत्ताणंतयं उक्कस्सजुत्ताणंतयं चेदि जं तं अणंताणंतयं तत्तिविधं जहण्णमणंताणंतयं अजहण्णमणुक्कस्सअणंताणंतयं उक्कस्सअणंताणंतयं चेदि जं तं जहण्णपरित्ताणंतयं विरलेदूण एक्केक्कस्स रूवस्स जहण्णपरित्ताणंतयं दादूण अण्णोण्णब्भत्थेक्कदे उक्कस्सपरित्ताणंतयं अधित्थिदूण जहण्णजुत्ताणंतयं गंतूण पडिदं एवदिओ अभवसिद्धियरासी तदा एगरूवे अवणिदे जादं उक्कस्सपरित्ताणंतयं तदा जहण्णजुत्ताणंतयं सयं वग्गिदं उक्कस्सजुत्ताणंतयं अधिच्छिदूण जहण्णमणंताणंतयं गंतूण पडिदं तदा एगरूवे अवणिदे जादउक्कस्सजुत्ताणंतयं तदा जहण्णमणंताणंतयं पुव्वं वग्गिदसंवग्गिदं कदे उक्कस्सअणंताणंतयं ण पावदि सिद्धा णिगोदजीवा वणप्फदी कालो य पोग्गला चेव सव्वं वमलोगागासं थ(छ)प्पेदि णंतप्पवखेवा ताणि पक्खिदूण पुव्वं व तिण्णिवारे वग्गिदसंवग्गिदं कदे तदा उक्कस्सअणंताणंतयं ण पावदि तदा धम्मट्ठियं अधम्मट्ठियं अगुरुलहूगुणं अणंतं पक्खिविदूण पुव्वं व तिण्णिवारे वग्गिदसंवग्गिदं कदे उक्कस्सअणंताणंतयं ण उप्पज्जदि तदा केवलणाणकेवलदंसणस्स वाणंता भागा तस्सुवरिं पक्खित्तो उक्कस्सअणंताणंतयं उप्पण्णं अत्थि तं भायणं णत्थि तं दव्वं एवं भणिदो एवं वग्गिय उप्पण्णसव्ववग्गरासीणं पुंजं केवलणाणकेवलदंसणस्स अणंतिमभागं होदि तेण कारणेण अत्थि तं भाजणं णत्थि तं दव्वं। जम्हि जम्हि अणंताणंतयं वग्गिज्जदि तम्हि तम्हि अजहण्णमणुक्कस्सअणंताणंतयं घेत्तव्वं, कस्स विसओ, केवलणाणिस्स।

1 परिठविदूण (?); 2 B संखेज्जदी; 3 This prose portion is extremely corrupt and obscure; so I have constituted it with all caution.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रशस्ति-संग्रह

पं. के. भुजबली शास्त्री.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ १०, पंक्ति ८)—

कैवर्तीगर्भसंभूतो व्यासो नाम महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् (?) ॥१०४॥
उर्वशीगर्भसंभूतो वशिष्टस्तु महामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१०५॥
चाण्डालीगर्भसंभूतो विश्वामित्रमहामुनिः।
तपसा ब्राह्मणो जातस्तस्माज्जातिरकारणम् ॥१०६॥
शीलं प्रधानं न कुलं प्रधानं
कुलेन किं शीलविवर्जितेन।
बह्वो (?) नरा नीचकुलेषु जाताः
स्वर्गं गताः शीलगुणस्य धारिणः ॥१०७॥

इति मार्कण्डेयपुराणे, भविष्यपुराणे, विष्णुपुराणे, पद्मपुराणे (च) ऋषिकुलाधिकारः।

ब्रह्मचर्यं भवेन्मूलं सर्वेषां व्रतधारिणाम्।
ब्रह्मचर्यस्य भंगे तु सर्वं व्रतं (व्रतं सर्वं) निरर्थकम् ॥१०८॥
सुखशय्यासनं वस्त्रं तांबूलं स्नानमण्डनम्।
दन्तकाष्ठं सुगन्धं च ब्रह्मचर्यस्य दूषणम् ॥१०९॥
एकतश्चतुरो वेदा ब्रह्मचर्यन्तु एकतः।
एकतः सर्वपापानि मद्यं मांसं च एकतः ॥११०॥
आरंभे वर्तमानस्य हिंसकस्य युधिष्ठिर।
गृहस्थस्य कुतः शौचं मैथुनाभिरतस्य च ॥१११॥
मैथुनं ये न सेवन्ते ब्रह्मचारि(चर्य)दृढव्रताः।
ते संसारसमुद्रस्य पारं गच्छन्ति मानवाः ॥११२॥

इति शिवपुराणे ब्रह्मचर्याधिकारः।

× × ×

अन्तिम भाग—

मूर्खास्तपोभिः कृशयन्ति देहं।
बुधा मनोदेहविकारहेतुम् ॥
श्वा क्षिप्तमस्त्रं ग्रसते हि कोपात्।
क्षेप्तारमस्त्रस्य च हन्ति सिंहः ॥१९०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायस्थित्यर्थमाहारं कायं ज्ञानार्थमिष्यते ।
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं पदम् ॥१९१॥

नार्थः पदात्पदमपि व्रजति त्वदीयो
व्यावर्तते पितृवनान्न न (च) बन्धुवर्गः ॥
दीर्घे पथि प्रवसतो भवतस्सखैकं ।
पुण्यं भविष्यति ततः क्रियतां तदेव ॥१९२॥

नष्टे वस्तुनि शोभनेऽपि हि तथा शोकः समारभ्यते ।
तल्लाभोऽथ यशोऽथ सौख्यमथवा धर्मोऽथवा स्याद्यदि ॥
यद्येकोऽपि न जायते कथमपि स्फारैः प्रयत्नैरपि ।
प्रायस्तन्न सुधीर्मुधा भवति कः शोकोग्ररक्षेविशः (?) ॥१९३॥

त्वं शुद्धात्मा शरीरं सकलमलयुतं त्वं सदानन्दमूर्तिः ।
देहो दुःखैकगेहं त्वमसि कलावित्कायमज्ञानपुञ्जम् ॥
त्वं नित्यः श्रीनिवासः तणरुचिसद्दशो शाश्वतैकाङ्गमङ्गं ।
मा गा जीवाऽत्र रागं वपुषि भज निजानन्दसौख्योदयं त्वम् ॥१९४॥

निश्चेष्टानां वधो राजन् कुत्सितो जगतीपते ।
क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥१९५॥

यह 'परसमयग्रन्थ' एक संग्रहग्रन्थ है। इसे मैंने राजकीय प्राच्यपुस्तकागार मैसूर से लिखवाया था। वहां की मुद्रित ग्रन्थतालिका में यह इसी नाम से अङ्कित है। इस ग्रन्थ में संग्रहकर्त्ता ने जैनधर्म में प्रतिपादित मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, नवनीतत्याग, कन्दमूलत्याग, रात्रिभोजनत्याग, जलगालन, आहारदान, ब्रह्मचर्य और अहिंसा आदि मान्य आचारों को हिन्दुओं के पद्मपुराण, विष्णुपुराण, शिवपुराण, लिंगपुराण, भगवद्गीता और महाभारत आदि ग्रन्थों के प्रमाणोद्धरणपूर्वक पुष्ट किया है। हां, एक बात है। वह यह है कि इस ग्रन्थ में जिन ग्रन्थों का हवाला दिया गया है उनके नाम और पद्य मात्र दिये गये हैं; अध्याय, प्रकरण, पृष्ठ आदि को इसमें कुछ भी निर्देश नहीं मिलता है। अतः मूलग्रन्थों से अगर कोई इन प्रमाणों को मिलान करना चाहे वह सहज नहीं है।

अस्तु, सुप्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रजी के द्वारा रचित 'वेदाङ्कुश' नामक एक लघुकलेवर ग्रन्थ वि० संवत् १९७९ में अहमदाबाद में छपा है। यह 'श्रीहेमचन्द्राचार्य-ग्रन्थावली' का पांचवां ग्रन्थ है। वेदाङ्कुश और परसमयग्रन्थ ये दोनों ग्रन्थ एक ही विषय के हैं। बल्कि वेदाङ्कुश के बहुत से पद्य परसमयग्रन्थ में यथावत् और बहुत से पाठभेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ मिलते हैं। फिर भी परसमयग्रन्थ के कर्त्ता वेदाङ्कुश के कर्त्ता से भिन्न ज्ञात होते हैं। प्रतिपादित विषयों का क्रम भी दोनों का भिन्न भिन्न है। बल्कि वेदाङ्कुश में परसमयग्रन्थ की अपेक्षा विषय का बाहुल्य है। वेदाङ्कुश में जहां क्रमशः परोपकार, धर्म, ..., निन्दा, दया आदि २५ विषयों पर प्रकाश डाला गया है, वहां परसमयग्रन्थ में उक्त कतिपय परिमित विषयों पर ही प्रकाश डाला गया है। वेदाङ्कुश में सर्वप्रथम परोपकार पर प्रकाश डाला गया है और परसमयग्रन्थ में अहिंसा पर। हां, जैसे मैं ऊपर बतला चुका हूं कि मद्यत्याग, मांसत्याग, मधुत्याग, रात्रिभोजनत्याग और ब्राह्मणत्व आदि कतिपय विषयों के पद्य दोनों में एक से मिलते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि इस परसमयग्रन्थ को किसी दिगम्बर विद्वान् ने संग्रह किया हो। सुदूरवर्त्ती दक्षिण भारत में प्राप्त इस ग्रन्थ की प्रति भी इसी बात की ओर संकेत करती है। क्योंकि दक्षिण भारत में ...काल तक दिगम्बर जैनों का ही बोलबाला रहा है। हां, उपलब्ध प्रति अधूरी मालूम होती है। समग्र प्रति मिलने पर इस पर विशेष प्रकाश डाला जा सकता है। जिन्हें इसकी समग्र प्रति उपलब्ध हो उन्हें इस पर अवश्य विशेष प्रकाश डालना चाहिये।

---

(४६) ग्रन्थ नं० ५८/क

कषायजयभावना या कषायजयचत्वारिंशत्

कर्त्ता—कनककीर्ति मुनि

विषय—उपदेश

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ८। इञ्च चौडाई ६।। इञ्च पत्रसंख्या ६

प्रारम्भिक भाग—

येन कषायचतुष्कं ध्वस्तं संसारदुःखतरुबीजम्।
प्रणिपत्य तं जिनेन्द्रं कषायजयभावनां वक्ष्ये ॥१॥
कोपी नाशयति क्षणेन विपुलां संसंचितं (?) संपदं।
कोपी च त्यजति द्रुतं प्रणयिनीं भार्यां स्वकीयामपि ॥
कोपी पुण्यजनोचितान् सुखकरान्............ ।
....॥२॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भ्रू भंगभंगुरितभीमललाटपट्टं । रक्तं विरूपमपि कंपितसर्वगात्रम् ॥
प्र(?)प्रस्खलद्वचनमुद्गतलोलदृष्टिं । कोपः करोति मदिरेव जनं विचेष्टम् ॥३॥
नो संवृणोति परिधानमपि स्वकीयं । भाण्डानि चूर्णयति हन्ति शिशून् प्रदुष्टः ॥
स्वात्मं(?) परं परिभवत्यपि मुक्तकेशः । कोपी पिशाचसदृशं स्वकमातनोति ॥४॥
कोपेन कश्चिदपरं ननु हन्तुकामस्तत्रायसं स परिगृह्य करेण मूढः ॥
स्वं निर्दहत्यपरमत्र विकल्पनीयं । किंवा विडम्बनमसौ न करोति कोपः ॥५॥

× × × × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ५, पंक्ति ४)—

व्याघ्री नो कुपिता न चापि शरभी नैवान्तकी राक्षसी ।
शस्त्रेणापि तथा न पावकशिखा नो शाकिनी डाकिनी ॥
नो वज्राशनिरुत्तमांगपतितो सर्वस्य हानिं तथा ।
दुःखं भूरि यथा करोति रचिता माया नृणां संसृतौ ॥२१॥
त्यक्ताशेषपरिग्रहा अपि सदा विज्ञातशास्त्रा अपि ।
शश्वद्द्वादशभेदतप्ततपसा संपीडितांगा अपि ॥
केचिद्गौरव(?)गौरवाद्विहितया दुर्लक्षयामायया ।
मृत्वा यान्ति कुदेवयोनिमवशा माया न किं दुःखदा ॥२२॥
छिद्रावलोकनपरं सततं परेषां जिह्वाद्वयेन भयदा न विधानदक्षम् ॥
अन्तर्विपाकहृदयं च खलस्वभावं । माया करोति हि नरं स भुजंगचेष्टम् ॥२३॥
धीरोऽपि चारुचरितोऽपि विचक्षणोऽपि ॥
शीलालयोऽपि सततं विनयान्वितोऽपि ॥
बुद्धोऽपि वृद्धधनवानपि धीधनोऽपि ।
मायासखः सदसि याति लघुत्वमेव ॥२४॥
आराध्यमानस्य च देववृन्दं । प्रपूज्यमानस्य हि साधुवृन्दम् ॥
निषेव्यमानस्य तु राजलोकं । न मायिनः सिद्ध्यति कार्यजात(ल)म् ॥२५॥

× × × × ×

प्रारम्भिक भाग—

इमे कषायाः सुखसिद्धिबाधका इमे कषाया भववृद्धिसाधकाः ॥
इमे कषाया नरकादिदुःखदा इमे कषाया बहुकलमषप्रदाः ॥३८॥
कषायवान्नो लभते सुदर्शनं कषायवान् ज्ञानमवैति नोज्ज्वलम् ॥
कषायवान् चारुचरित्रमुज्झति (?) कषायवान् मुञ्चति शोभनं तपः ॥३९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यतः कषायैरिह जन्मवासे समाप्यते दुःखमनन्तपारम् ॥
हिताहितप्राप्तविचारदक्षैरतः कषायाः खलु वर्जनीयाः ॥४०॥
इति कनककीर्तिमुनिना कषायजयभावना प्रयत्नेन ।
भव्यचित्तशुद्धयै (?) विनयेन समासतो रचिता ।
इति कषायजयचत्वारिंशत्समाप्तः ।

यह कषायजयभावना या कषायजयचत्वारिंशत् ४० पद्यों की एक छोटी सी रचना है। रचना छोटी होने पर भी साहित्यिकदृष्टि से भी इसके पद्य सुन्दर हैं। इसमें क्रोध, मान आदि कषायों से होने वाली अवस्था एवं हानि का दिग्दर्शन कराया गया है। इसके कर्त्ता कनककीर्ति मुनि हैं। मालूम नहीं होता है कि यह कनककीर्ति मुनि कौन हैं? क्योंकि इस रचना में कहीं भी आप की गुरुपरम्परा आदि का कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कि 'अष्टाह्निकोद्यापन' आदि के कर्त्ता कनककीर्ति भट्टारक ही इसके रचयिता हों।

---

(४७) ग्रन्थ नं० ६१/झ

प्राकृतव्याकरण

कर्त्ता—श्रुतसागर

विषय—व्याकरण
भाषा—संस्कृत एवं प्राकृत

लम्बाई ८॥। इञ्च चौड़ाई ४॥। इञ्च पत्रसंख्या १५२

प्रारम्भिक भाग —

अथ प्रणम्य सर्वज्ञं विद्यानन्दास्पदप्रदम् ।
पूज्यपादं प्रवक्ष्यामि प्राकृतव्याकृतं सताम् ॥

तदार्षं च बहुलं तत्प्राकृतमृषिप्रणीतमार्षमनार्षं च बहुलमित्यधिकृतं वेदितव्यं। तत्र ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ ङ ञ श ष प्लुतविसर्गौ स्वरव्यञ्जनद्विवचनचतुर्थीबहुवचनानि
× × × × ×

मध्यम भाग (पूर्व पृष्ठ ७३, पंक्ति २)—

श्रीकुंदकुंदसूरेर्विद्यानन्दिप्रभोश्च पादकंजम् ।
नत्वा च पूज्यपादं संयुक्तमतः परं वक्ष्ये ॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वा मृदुत्वरुग्णदष्टमुक्तशक्तेषु । मृदुत्वादिषु पञ्चसु शब्देषु यः संयुक्तो वर्णस्तस्य ककारो भवति वा। मृदुत्वं माउत्तणं माउक्कणं। रुज्यतेस्म रुग्णः भुग्गाषयिः (?) रोमादिना वक्रीभूते लुग्गो लुक्को दूष्टः। दष्टः दट्ठो डक्को। मुक्तः मुत्ता मुक्को। शक्तः सक्तो सक्को ॥१॥ खः क्षस्य रुच्छौ च क्वचित् क्षकारस्य खकारो भवति रुच्छौ वा क्वचिद्भवतः। लक्षणं लक्खणं। क्षयः खउ क्षीयते। रिज्जइ च्छिज्जइ खिज्जइ। क्षीणं रीणं क्षीणं खोणं ॥२॥

× × × × × ×

अन्तिम भाग—

इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिव्याकरणकमलमार्त्तण्डतार्किकशिरोमणिपरमागमप्रवीणसूरि-श्रीदेवेन्द्रकीर्तिप्रशिष्यमुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिभट्टारकान्तेवासिश्रीमूलसंघपरमात्मविद्स्वसूरिश्रीश्रुत-सागरविरचिते घ्यौदार्यचिन्तामणिनाम्नि स्वोपज्ञवृत्तिनि प्राकृतव्याकरणे संयुक्ताव्ययनिरूपणो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

इसके कर्त्ता आचार्य श्रुतसागर एक बहुश्रुत विद्वान् थे। षट्प्राभृत की टीका से एवं यशस्तिलकचन्द्रिकाटीका से ज्ञात होता है कि यह कलिकालसर्वज्ञ, कलिकालगौतम-स्वामी उभयभाषाकविचक्रवर्ती आदि उपाधियों से विभूषित थे। इन्होंने ९९ महावादियों को पराजित किया था। श्रुतसागर जी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और बलात्कारगण के आचार्य एवं विद्यानन्दिभट्टारक के शिष्य थे। इनकी गुरुपरम्परा इस प्रकार है—पद्मनन्दी-देवेन्द्रकीर्ति-विद्यानन्दी।

पं० नाथूरामजी प्रेमी का अनुमान है कि विद्यानन्दी भट्टारक के पट्ट पर आपकी स्थापना नहीं हुई थी। क्योंकि पं० आशाधर के महाभिषेक नामक ग्रन्थ की इनकी टीका के अन्त में विद्यानन्दी के बाद की गुरुपरम्परा इस प्रकार है—विद्यानन्दी-मल्लिभूषण-लक्ष्मीचन्द्र*। इससे विदित होता है कि विद्यानन्दी के पट्ट पर मल्लिभूषण की और उनके पट्ट पर लक्ष्मीचन्द्र की स्थापना हुई थी। यशस्तिलकटीका में श्रुतसागर ने मल्लिभूषण को अपना गुरुभ्राता लिखा है। इससे भी सिद्ध होता है कि विद्यानन्दी के उत्तराधिकारी मल्लिभूषण ही हुए हैं।

यशस्तिलकचन्द्रिकाटीका से मालूम होता है कि उस समय गुर्जर देश के पट्ट पर भट्टारक लक्ष्मीचन्द्र विराजमान थे और मल्लिभूषण का प्रायः स्वर्गवास हो चुका था। लक्ष्मीचन्द्र के बाद भी श्रीश्रुतसागर के पट्टाधिकारी होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कि यह सिंहासनासीन हुये ही नहीं। उल्लिखित पद्मनन्दी, विद्यानन्दी आदि सब गुजरात के ही भट्टारक हुये हैं। परन्तु यह मालूम नहीं होता है कि गुजरात

* देखें—'षट्प्राभृतादिसंग्रह' की भूमिका पृष्ठ ६—७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की किस स्थान की गद्दी को इन्होंने सुशोभित किया था। क्योंकि पूर्व में ईडर, सूरत, सोजित्रा आदि कई स्थानों में भट्टारकों की गद्दियां रहीं हैं। हां, यशस्तिलक की रचना के समय मालवे के पट्ट पर सिंहनन्दी भट्टारक थे। इन्हीं की प्रेरणा से श्रुतसागरजी ने नित्यमहोद्योत या महाभिषेक की टीका लिखी थी।

श्रुतसागरसूरि के भी अनेक शिष्य रहे होंगे। वैराग्यमणिमाला के रचयिता श्रीचन्द्र आप ही के शिष्य हैं। आराधनाकथाकोष, नेमिपुराण आदि अनेक ग्रन्थों के प्रणेता ब्रह्मचारी नेमिदत्त ने भी श्रुतसागर को गुरुभाव से स्मरण किया है।* नेमिदत्त ने भी वही गुरुपरम्परा दी है, जो श्रुतसागर के ग्रन्थों में मिलती है। श्रुतसागर की यशस्तिलक-चन्द्रिका, महाभिषेकटीका, तत्वार्थटीका, तत्त्वत्रयप्रकाशिका, जिनसहस्रनामटीका आदि अनेक रचनायें मिलती हैं। इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कंधावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्ध की टीका, वृहत्कथाकोष आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुये कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने उपलब्ध किसी ग्रन्थ में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है। पं० नाथूरामजी प्रेमी का कहना है कि आप विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। प्रेमीजी इस सम्बन्ध में निम्नलिखित हेतु उपस्थित करते हैं—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीका की प्रति का उल्लेख किया गया है वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी लक्ष्मीचन्द्र के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागर के पढ़ने के लिये दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख श्रुतसागर ने स्वयं अपनी टीकाओं में कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोष के कर्त्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुये हैं और वे श्रुतसागर के गुरुभ्राता मल्लिभूषण के शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्दजी की सं० १९५४ की बनाई हुई हस्तलिखित ग्रंथों की सूची में श्रुतसागर का समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीका में जगह जगह लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में से यह मूर्तिपूजा का विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागर का समय इसकी स्थापना से अधिक नहीं तो ४०-५० वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिये।

अस्तु, श्रुतसागरजी के इस प्राकृतव्याकरण की यह भवन की प्रति अधूरी है। इस प्रति में द्वितीय अध्याय के बाद केवल एक पत्र है। अतः समग्र प्रति को खोजने की जरूरत है।

* देखें—'आराधनाकथाकोष' की प्रशस्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४८) ग्रन्थ नं० ६२/क

तत्त्वार्थवृत्ति

कर्ता—भास्करानन्दी

विषय--दर्शनादि

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३। इञ्च   चौड़ाई ८।। इञ्च   पत्रसंख्या १५४

प्रारम्भिक भाग—

जयन्ति कुमतध्वान्तपाटने पटुभास्कराः ।
विद्यानन्दास्सतां मान्याः पूज्यपादा जिनेश्वराः ॥

अथातिविस्तारमन्तरेण विमतिप्रतिबोधनार्थायेष्टदेवतानमस्कारपुरस्सरं तत्त्वार्थसूत्रपद-विवरणं क्रियते तत्रादौ नमस्कारश्लोकः :—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥

× × ×

मध्य भाग (पृष्ठ ८३, पंक्ति ६)—

"स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः"

टीका—स्पृश्यते वा स्पर्शनमात्रं स्पर्शः, स च मूलभेदापेक्षयाष्टविधो मृदुकठिनगुरुलघु-शीतोष्णस्निग्धरूक्षविकल्पात् । रस्यते रसनमात्रं वा रसः, स हि पञ्चविधः तिक्ताम्लकटु-कषायमधुरभेदात् । गन्ध्यते गन्धनमात्रं वा गन्धः, स द्विधा सुरभिरसुरभिभेदात् । वर्ण्यते वर्णनमात्रं वा वर्णः, स पञ्चधा कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात् । त एते भेदा उत्तरभेदोत्त-रोत्तरभेदापेक्षया संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पाश्च जायन्ते ।

स्पर्शश्च रसश्च गन्धश्च वर्णश्च स्पर्शरसगन्धवर्णास्ते सन्ति येषां पुद्गलानां ते स्पर्शरस-गन्धवर्णवन्त इति नित्ययोगेऽत्र मत्वर्थीयस्य विधानं यथा क्षीरिणो न्यग्रोधा इति । ननु 'रूपिणः पुद्गलाः' इत्यत्र रूपाविनाभाविनां रसादीनामपि ग्रहणात्तेनैव सूत्रेण पुद्गलानां रूपादिमत्त्वे सिद्धे अनर्थकमिदं सूत्रमिति । नैष दोषः । 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' इत्यत्र सूत्रे धर्मादीनां नित्यत्वादिप्ररूप(णा)या पुद्गलानामरूपत्वे प्राप्ते तन्निरासार्थं रूपिणः पुद्गलाः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VI DECEMBER, 1940. No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A.
Babu Kamta Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 4. Foreign Rs. 4-8. Single Copy Rs. 1-4.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CONTENTS.

	PAGES.
JAINA LITERATURE IN TAMIL. By Prof. A. Chakravarti, M A., I.E.S.	35—42
ASOKA AND JAINISM. By Kamta Prasad Jain, M.R.A.S. ...	43—50
THE SOUTHERN ASMAKA. By G. N. Saletore, M. A.	51—66
NEW STUDIES IN SOUTH INDIAN JAINISM. By Prof. B. Seshagiri Rao, M.A.	67—74
REMNANTS OF THE 12TH JAINA SRUTANGA DITTHIVADA. By Prof. Hiralal Jain	75—81
SELECT CONTENTS OF ORIENTAL JOURNALS	82
JAIN BIBLIOGRAPHY	83

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Om.

THE JAINA ANTIQUARY.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

ol, VI
Vo. II

ARRAH (INDIA)

December
1940

JAINA LITERATURE IN TAMIL.

By Prof. A Chakravarti, M A., I.E.S.

Continued from Vol. VI, No. I, page 8.

The merchant gave his daughter in marriage to this robber. ie resolved to win the favour of her husband ; and from that time , adorned with all her adornments, she prepared her husband's eal with her own hand. After a few days the robber thought to imself, ' When can I kill this woman, take her jewels and sell them, ıd so be able to take my meals in a certain tavern ? This is e way.'

He took to his bed and refused to eat. She came to him and sked, ' Are you in pain ?" ' Not at all, wife.' ' Then perhaps my other and father are angry with you ?' 'They are not angry ith me, wife.' ' What is the matter, then ?' ' Wife, that day when was bound and led through the streets, I saved my life by vowing n offering to the deity that lives on Robber's cliff ; likewise it was rough his supernatural power that I gained you for my wife. I as wondering how I could fulfil my vow of an offering to the eity.' ' Husband, do not worry ; I will see to the offering ; tell me hat is needed ' ' Rich rice-porridge, flavoured with honey ; and e five kinds of flowers including the Tāja flower." " Very well, usband, I will make ready the offering."

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Having prepared the whole offering, she said to her husband "Come, husband, let us go." 'Very well, wife; let your kinsmen remain behind; put on your costly garments and adorn yourself with your precious jewels, and we will go gaily, laughing and disporting ourselves.' She did as she was told. When they reached the foot of the mountain, the robber said to her, "Wife, from this point on let us two go alone; we will send back the rest of the company in a conveyance; you take the vessel containing the offering and carry it yourself.' She did as she was told.

The robber took her in his arms and climbed the mountain to the top of the Robber's cliff. (One side of this mountain men can climb; but the other side is a precipitous cliff, from the top of which robbers are flung, being dashed to pieces before they reached the bottom; therefore it is called "Robber's cliff"). Standing on the top of the mountain, she said, 'Husband, present the offerings.' Her husband made no reply. Again she spoke, "Husband, why do you remain silent." Then he said to her, 'I have no use for the offering; I deceived you in bringing you here with an offering." 'Then why did you bring me here, husband.' 'To kill you, seize your jewels, and escape.' Terrified with the fear of death, she said to him, 'Husband, both my jewels and my person belong to you; why do you speak thus?'. Over and over again she pleaded with him. 'Do not do this,' but his reply only was, 'I will kill you.' 'After all, what will you gain by killing me? Take these jewels and spare my life; henceforth regard me as your mother, or else let me be your slave woman and work for you.' So saying, she recited the following stanza,

> Take these golden bracelets, all sets with beryls.
> Take all, and welcome; call me your slave-woman.

The robber, hearing this, said to her, 'Despite what you say, were I to spare your life, you would go and tell your mother and father all. I will kill you. That is all. Lament not with vehement lamentation.' So saying he recited the following stanza,

> Lament not over much; tie up your possession quickly.
> You have not long to live; I shall take all your possessions.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

She thought to herself, 'Oh, what a wicked deed is this?. owever, wisdom was not made to be cooked and eaten, but her to make men look before they leap. I shall find a way of aling with him.' And she said to him, 'Husband, when they ught you in the act of committing robbery and led you through streets, I told my mother and father, and they spent a thousand eces of money in ransoming you and they gave you a place in their use, and from that time on I have been your benefactress; to-day me the favour of letting me pay obeisance to you.' 'Very well, fe,' said he, granted her the favour of paying obeisance to him, d then took his stand near the edge of the cliff.

She walked around him three times, keeping him on her right nd, and paid obeisance to him in the four places. Then she said him, 'Husand, this is the last time I shall see you. Henceforth u will see me no more, neither shall I see you anymore.' And e embraced him both before and behind. Then, remaining behind m, as he stood off his guard near the edge of the cliff, she put one nd to his shoulder and the other to his back, and flung m over the cliff. Thus was the robber hurled into the abyss the mountain, and dashed to pieces when he reached the bottom. he deity that dwelt on the top of the Robber's cliff observed the ctions of the two, and applauding the woman, uttered the following tanza:

> Wisdom is not always confined to men;
> A woman, too, is wise and shows it now and then.

Having thrown the robber over the cliff, the women thought to erself, "If I go home, they will ask me, 'Where is your husband?' nd if in answer to this question, I say, 'I have killed him' they ill pierce me with their knives of their tongue, saying 'We ransomed the scoundrel with a thousand pieces of money and now you ave killed him.' If, on the other hand. I say, 'He sought to kill me for my jewels,' they will not believe me. I am done with home." She cast off her jewels, went into the forst, eand after wandering about for a time came to a certain hermitage of nuns. She reverently bowed and said, 'Sister, receive me into your order as a nun'. So they received her as a nun,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

After she had become a nun, she asked 'Sister, what is the goal of your religious life.' 'Sister, the development of spiritual ecstasy through the employment of the Kasinas, or else the memorising of a thousand articles of faith, this is the highest aim of our Religious Life." "Spiritual ecstasy I shall not be able to develop, Reverend Sister; but I will master the thousand articls of faith." When she mastered the thousand articles of faith, they said to her, "You have acquired proficiency; now go through the length and breadth of the land of the Rose-Apple and look for someone able to match question and answer with you."

So placing a branch of Rose-Apple in her hands they dismissed with these words, "Go forth, Sister, if anyone who is a layman is able to match question and answer with you, become his slave; if any monk, enter his Order as a nun, adopting the name 'Nun of the Rose Apple' She left the hermitage and went about from place to place asking questions of everyone she saw. No one was able to match question and answer with her; in fact, such a reputa-tion did she acquire that whenever men heard the announcement, "Here comes the Nun of the Rose-Apple," they would run away

Before entering a town or village for alms, she would scrape a pile of sand together before the village gate and there plant her rose apple branch. Then she would issue her challenge. 'Let him that is able to match question and answer with me trample this rose-apple branch under his feet.' So saying, she would enter the village. No one dared to pass beyond that spot. When one branch withered, she would procure a fresh one.

Travelling about in this way, she arrived at Sāvatthī, planted the branch before the city gate, issued her challenge in the usual way, and went in to seek alms. A number of young boys gathered about the branch and waited to see what would happen, Just then the elder Sārīputta, who had made his round and eaten his breakfast and was on his way out of the city, saw those boys standing about the branch and asked them 'What does this mean?'. The boys explained matters to the Elder. Said the 'Elder, Go ahead, boys,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

trample that branch under your feet.' 'We are afraid to, Reverend Sir.' 'I will answer the question; you go ahead and trample the branch under your feet.' The Elder's words supplied the boys with the necessary courage. Forthwith they trampled the branch under their feet shouting and kicking up the dust.

When the nun returned, she rebuked them and said, 'I don't intend to bandy question and answer with you,' how did you come to trample the branch under your feet?.' 'Our noble Elder told us to.' 'Reverend Sir, did you tell them to trample my branch under their feet?.' 'Yes, Sister.' 'Well then, match question and answer with me'. 'Very well, I will do so.'

As the shades of evening drew on, she went to the Elder's residence to put her questions. The entire city was stirred up. The people said to each other, 'Let us go and hear the talk of the two learned persons.' Accompanying the nun from the city to the Elder's residence, they bowed to the Elder and seated themselves respectfully on one side.

The nun said to the Elder, 'Reverend Sir, I wish to ask you a question.' 'Ask it, Sister.' So she asked him the thousand articles of faith. Every question the nun asked, the Elder answered correctly. Then he said to her, 'You have asked only these few questions; are there any others?.' 'These are all, Reverend Sir.' 'You have asked many q uestions; I will ask you just one; will you answer me?.' Ask your question. 'What is one' She said to herself, 'This is the question I should be able to answer'; but not knowing the answer, she inquired of the Elder, 'What is it, Reverend Sir?.' 'That is the Buddh's question, Sister.' 'Tell me also the answer, Reverend Sir.' 'If you will enter our order, I will tell you the answer.' 'Very well, admit me to the Order.' The Elder sent word to the nuns and had her admitted. After being admitted to the Order, she made her full profession, took the name Kuṇḍalakesī, and after a few days became an Arhat endowed with the supernatural faculties.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

In the Hall of Truth the monks began a discussion of the incident. 'Kuṇḍalakeśi heard little of the Law, and yet she succeeded in being admitted to the Order; moreover, she came here after fighting a fierce battle with a robber and defeating him.' The teacher came in and asked them, 'Monks, What is it that you are sitting here discussing now?.' They told him, 'Monks, we assure not the Law. I have taught as being 'little' or 'much.' There is no Superior merit in a hundred sentences that are meaningless; but one Sentence of the Law is better. He that defeats all other robbers wins no victory at all, but he who defeats the robbers, his own Depravites, his is victory indeed.' There he joined the connection and preaching the Law, pronounced the following stanza:

> Though one should recite a hundred stanzas
> Composed of meaningless sentences
> Yet one Sentence of the Law were better
> Which if a man hear he is at peace.
> Though one should conquer a thousand
> times a thousand men in battle,
> Yet would he be the mightiest conqueror
> Who should conquer one himself.

Neelakeśi which is one of the five minor Kāvyas in Tamil is evidently an answer to Kuṇḍalakeśī, the Buddhistic work. As is suggested by the author himself the story is not taken from among the Purāṇic stories. The story is probably an imaginative creation by the author merely to serve as a frame-work for introducing philosophical discussions. The work has not seen the light of day up to the present. The present writer is trying to bring out an edition of this rare classic which is in the press. In the course of a few months it may be made available to the public[1]. The story begins with a scene laid in Pāñcāla Deśa which is otherwise known as Pārtti Nāḍu. The king of the land is referred to be Samudrasāra and his capital is Puṇḍravardhana. On the outskirts of this city there is a cremation ground which goes by the name of Palalaiyam. There is also a famous Kālī temple there. Just about the Kālī temple there is a Jaina Yogin called Municandra. One day

1. Since edited by him.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

people from the town brought as their offering to the Kālī a number of beasts and birds. The Jaina Ācārya asked them the reason for this extraordinary sacrifice. In answer they gave that these animals and birds they had to offer to Kālī for the queen gave birth to a child as the result of Kālī's blessing. The Jaina Ācārya informed those persons that the Goddess would be quite satisfied if baked clay models of animals and fowls were set up as their offerings before the Kālī temple. Such a procedure would be quite enough to satisfy the Goddess and to fulfill their vows. Further it would relieve a number of animals from death and also save themselves from the sin of Himsā. This teaching evidently appealed to the people at large who drove away all their animals back to their home. This behaviour of the people very much upset the Goddess Kālī who realised that she was not capable of frightening away the Jaina ascetic because of his superior spiritual culture. But now she wanted to drive him away from the precincts of the Kālī temple so that he might not interfere with the regular sacrifice. Hence she went about in search of her chief, the great Neelakēśi, of the southern country, before whom the complaint was placed as to the Jaina ascetic's interference with the regular sacrifice and worship at the Kālī temple. The great Neelakēśi marched towards the north in order to get rid of this Jaina Yogin and to restore regular worship and sacrifice at the Kālī temple at the city of Puṇḍravardhana. Neelakēśi created there several frightening situations hoping to drive away Municandrācārya. All her attempts to frighten the Yogin proved futile. He was not the person to be easily got rid of. He was firmly rooted in his practice of Yoga and no amount of dreadful circumstances created in the environment would affect his calm and peaceful meditation. He went on as if nothing had taken place around him. Then Neelakēśi thought that the only way by which she could defeat this Yogin by some hook or crook, was to deviate him from his spiritual purpose and draw him towards sensual pleasures. She thought that this would be the surest way to spoil his penance. With this object in view, she put on the beautiful form of the princess of the land and began to play the coquette before the Yogin. She behaved even as a public courtezan trying to attract the Ācārya. Even this attempt

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

proved no more successful. In the meanwhile, Municandrācārya himself told her the whole truth. He made her understand that she was not really the princess from the royal household, that she was merely the chief of the Devatās attempting to frighten him away from the place in order to restore their usual animal sacrifice. This plain speaking made her realise the greatness and the wisdom of the Yogin, and she confessed before him that all he stated was true and begged him to pardon her. When she was pardoned by the Yogin, she, out of gratitude, expressed her willingness to adopt, in future, a more healthy and reasonable course of life and wanted him to help her in this by teaching her the fundamental principles of Ahiṁsā. When she heard the noble religious principles of Ahiṁsā she felt extremely grateful to the Guru and begged him to say what would be the best thanks-offering from the disciple. When he told her the best form of thanks-offering that he would have was to go about the land preaching this doctrine of Ahiṁsā, she accordingly accepted the task and thereafter taking the human form she devoted her time in propaganda work in favour of Ahiṁsā doctrine. This is the subject matter of the opening chapter Dharman-Urai-Carukkam.

The 2nd chapter Kuṇḍalakēśivādacarukkam is devoted to the discussion that Neelakēśī had with Kuṇḍalakēśi who was the representative of Buddhism. Naturally in this discussion Kuṇḍalakēśi is represented to be defeated by Neelakēśi. Kuṇḍalakēśi is made to acknowledge her defeat and to accept the doctrine of Ahiṁsā. Neelakēśi learns from Kuṇḍalakēśi that her teacher is one Arhacandra, a Buddhistic scholar.

The 3rd chapter is devoted to the discussion with Arhacandra who is also made to acknowledge his defeat in the discussion. Arhacandra after accepting Neelakēśi's religion of Ahiṁsā directed her to Mokkala, one of the chief disciples of Gautamaśākyamuni and one of the early founders of the Buddhistic Saṅgha.

To be continued.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Asoka and Jainism.

BY

Kamta Prasad Jain, M R. A. 8.

Continued from Vol. VI. No. I, page 16.

3. *Truth must be spoken.*—P. E. 7 and Brahm R. I.) Asoka's this ecept is exactly the *Satyānuvrata* (vow of Truth) of Jainism[115] d for its right observance Asoka instructs the people to guard e's speech according to Dharma, which also constitute a certain *āvanā* for the right observance of truthfulness in Jainism.[116]

4. *Moderation in Expenditure and possessions.*—(R. E. 3.) Asoka ems to represent in this precept the last *aṇuvrata* Parigraha-rimānavrata of the Jainas.[117]

5. *Self-control and purity of heart*—(bhāvaśuddhi R. E. 13). think Asoka preaches the remaining two *aṇuvratas* of the Jainas rough his teaching of self control and purity of heart. A self ntrolled and pure-hearted man can hardly be suspected of a ilt of theft and adultry.

6. *Distribution of gifts and respect*—(*dānamvapūjā*). In Jainism o, the main observance of Dharma for a layman is regarded in nouring the worshipable and distributing gifts to Brāhmaṇas and amaṇas.[118] To covet not other's wife and possessions means to bdue one's sensual cravings and to be pure at heart is nothing it to qualify oneself to acquire great merit, for on heart (or bhāva) pends the good and bad of beings.[119]

7. *Means of Acquiring Dharma.*—Asoka says that "happiness in s world and in the other world is difficult to secure without great ve of Dharma, careful self-examination, great obedience and rvice, great fear and great energy." (P.E.I) It is alright according Jainism as well. To keep faith in Dharma means great love for

115. Tattvārthadhigam—Sutrā S. B. J., p. 142.
116. *Ibid*, p,138 *Bhāshā-Samiti* vow of Jainism also is but to guard one's speech "क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषणं च पञ्च ।"
117. Ratna Karandakaṃ, 3—15.
118. Śrī Kundakaundāchāryaḥ
दाणं पूजा मुक्खं सावय धम्मो, ण सावगो तेण विणा ।'—श्रीकुन्डकौन्डाचार्यः
119. So says Jainācharya—"भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणविंति ।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

it and a layman observing it passes a happy life here and after death attains to heavens.[120] Along with it self-examination is also essential. In Jainism it is called प्रतिक्रमण (Pratikramana) and the Jains layman practises it every day when he observes his Sāmāyika vow.[121] Great obedience and service of Asoka likewise seems to be the Vaiyāvrataya-Vow of the Jainas[122] and the great fear of Asoka is akin to the fear of transmigration etc., described in Jainism.[123] Last of all Asoka names the great energy as an essential for acquiring Dharma and here too he is quite minutely following the Jaina teaching, which instructs the layman to observe the great energy *utsāhbhavanā* (उत्साहभावना).[224]

8. *Gifts of Asoka.* — Asoka exhorted people in order to observe Dharma, to keep oneself aloof of the *pāpāsrava* (अपास्रव) to do many a good deed, to practise compassion, liberality, truthfulness and purity. (अपासिनवे बहुकयाने दया दाने सचे सोचये चखुदानं). Asoka bestowed the gift of spiritual sight and granted many kindnesses up to the boon of life to animals birds and denizens of water. He got established hospitals not only for human beings but also for animals. He also distributed food to infirms and poors.[125] Thus Asoka's gifts

120. 'सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि च तहपुणो वि फासेदि ।
पुण्णं भोयणिभित्तं ण हु सो कम्मक्खय णिमित्तं ॥८४॥
—अष्टपाहुड़ पृ० २२१
'अप्पा दंता सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ।'
'पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जसिं पियो तवो संयमो य, खंति य बम्भचेरं च ॥'

121. "दव्वे खेत्ते काले भावे य किदावराह सोहणयं ।
णिंदण गरहण जुत्तो मण वच कायेण पडिकमणं ॥२६॥ --मूलाचारः ।"

122. Vaiyavrittya Karaṇa—serving the meritorious.
Tāttvarthadhigamsutra,
(S. B. J.) p. 134.
'प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् ।'२०।९।

123. 'जिणवयण मणु गणेता संसार महाभयँपि चिंतता ।
गब्भवसदीसु भीदा भीदा पुण जम्म मरणेसु ॥८०५॥ मूलाचारः ।'

124. 'उच्छाह भावणासं पसंस सेवा सुदंसणे सद्धा ।
ण जहदि जिणसम्मतं कुव्वन्तो णाणभग्गेण ॥१४॥'—अष्टपाहुढ़ पृष्ठ ८९ ॥

125. Mookerjee, Asoka p. 132, 175 & 188—193.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

re also in accordance to Jainism, for in it are described four kinds gifts *i.e.*, (1) gift of knowledge (2) gift of life, (3) gift of food (4) ift of medicines.[126] Moreover it is the teaching of Jainism only at through the inflow (आस्रव) of bad Karmas sins are accumulated which Asoka refers so remarkably. In Buddhist and Brahmans eligions the (अपास्रव) is not to be found in this sense.[127] Compas-on is very back bone of Jainism and truthfulness & purity also find n important place in Jainism.[128] Thus Asoka's gifts and method f observance of Dharma are quite in accordance to Jainism.

9. *Asoka's gentleness.*--Asoka says that to observe self-examiation is difficult, but one should not let ruin one self by ferocity, ruetly, anger, arrogance and jealousy.[129] It points to the gentleness f the heart of Asoka. He imitates the Jain maxim that "live and let ve and help others to live a happy life." Prisoners of Capital punishnent did also receive kind attention of Asoka and he allowed them days to observe and get observed by their relations religious vows nd liberality etc. Here too Asoka acts according to Jain spirit, for he ttracts the attention of prisoners to die a right death which constitute vow itself in Jainism.[130]

10. *Asoka's Dharma yātras* —were indeed for his own good nd that of other souls. "On these tours," says Asoka, "the following akes place: visiting Sramanas and Brahamanas and making gifts o them, visiting the aged and supporting them with gold, visiting he people of country, instructing them in Dharma and questionng them about Dharma as suitable for this occasion" (R. E. 8) Asoka's these tours seem to be simply the copy of the *Vihāra* of *Chaturvidha Jain Sangha*, in which *Śramaṇas* instructs and questions generalaity about Dharma and pious people worship and

126. Tāttvarthādhigam—Sûtra (S. B. J.) p. 55.
127. Encyclopaedia of Religion and Ethics. Vol. VII p. 472.
128. "उत्तमक्षमामार्दवार्जव सत्यशौचसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥६॥६॥
—तत्वार्थसूत्र
129. P. E. III. 130. Tāttvarthādhigama—Sûtra (S-B J.) p. 145.
See also Bhandarkara, Asoka pp, 126—127.
"मारणान्तिकों सल्लेखनां जोषिता ॥२२॥७॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

distribute gifts to *śrāmaṇas* (ascetics) and Brahmanas (Vrati Śrāvaka). They also observe general liberality (Karuṇādāna) by distributing gifts without any distinction or limit to infirms, poor and needy [131]

11. *Dharma in a nutshell.*—In R. E. XIII Asoka described 'Dharma in a nutshell' as the right behaviour towards all, manifesting itself tn (1) *akṣati*—non-injury, (2) *Saṃyaṃ*—restraint, (3) *Samācharaṇaṃ*—equal treatment and (4) *Mārdavaṃ*—mildness, in respect of all creatures, human beings, as well as beasts and birds (Sarva Bhûtānām).' * Asoka's this surmise of Dharma is also akin to Jaina view. Non-injury, restraint, mildness and equal treatment are most essential of the ethical rules of Jainism.†

Thus it is clear that the teaching of Asoka for the good of people in the next world as well, is quite in conformity to Jaina teaching. It seems that Asoka had closely followed it in drafting out his code of religious morality. Asoka is an ardent lover of Dharma and he exhorts people again and again to observe it in any shape—fully or in part एकदेशः (ēkadēśah 7th R. E.) for, he knows that it is very difficult to observe the Dharma fully. (11th R. E.) It seems as if Asoka is refering here to the twofold Dharma of the Jain scriptures *i.e.*, (1) Dharma for ascetic and (2) that for laity. In the former it is obligatory to observe the Dharma fully, but in the latter it is not so.[132] A laity should observe the Dharma according to his energy. Asoka says clearly that it is not an easy task to observe the Dharma fully it requires rather great energy, zeal and sacrifice.

Asoka's following teachings are also in accordance to Jainism and they seem to have codified simply to promote the happiness in the

131. *Dāyadatte-dāna* of Jainism.
बृहत् जैन शब्दार्णव भा० २ पृ० ४९२

* Mookerjee, Asoka p. 70.

† Outlines of Jainism, pp. 67—73.

132. 'एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जईधम्मं णिकल वोच्छे ॥२७॥ अष्टपाहुड़ पृ० ९९,
"निरतः कात्स्न्यं निवृत्तो भवति यतिः समयसार भूतोयं ।
यात्वेकदेशविरतिनिरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥ पुरूषार्थसिद्ध्युपाय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

present life of human beings. These are :—(1) obedience to mother and father, to elders and teachers, respect of pupils to their gurus. (R E IX)[133] (2 Arrangement of medicine for man and animal alike, to send medicinal trees and herbs to other countries and to plant trees and got dug wells etc, on roadside for the benefit of man and animal.[134] (2 R. E. & P. E. 7.) (3) To honour relations and serve elders (4. R. E.) to visit the aged and give them gold. R. E. 8.) (4) Proper treatment towards Śramaṇas and

---

133. Respect is defined as a very root of Dharma in Jainism See Uttarahyayan, *e,g.*

एवं धम्मस्स विणओ, मूलं परयो सो मुक्खो ।
जेण कित्तिं सुअं सिग्धं, नीसेसं चाभिगच्छइ ॥"

× × × ×

'तिणहं दुप्पडि आरं समणाओ सो तं जहा ।
अमपिउणो भट्टिदायगस्स धम्मापरियस्स ॥

× × ×

'तं पुण पिय माइ सहोयदेसु पणइणि अवच सयणेसु ।
गुरुजण नायर परतित्थिएसु पूरिसेण कायव्वं ।'

× × ×

'तम्हा विणयमेसिज्जा सीलं पडिलभेज्जए ।'—उत्तराध्ययन १ अ०

× × ×

'देवभक्त्या गुरुपास्त्या सर्वसत्त्वानुकम्पया ।
सत्संगत्वाऽऽगमश्रुत्वा गृह्यतां जन्मनः फलम् ॥'

× × ×

'सावज्जजोगविरई, उक्कित्तण गुणवओ च पडिवत्ती ।
खलिचस्स निंदणा, वणतिगिच्छगुणधारण चेव ।

134. Jainas are found ever enthusiastic to give aushadhidān (औषधिदान) and they have their free dispensaries in most of the important towns of India. The Jaina Ayurvedic dispensary at Barnagar (Malwa) is even sending medicines to Africa and other foreign countries. Moreover the Jainas are only people who are alert to have opened hospitals for animals. They also got dug wells and tanks and lay groves for the benefit of all.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Brahmans and servants and dependants (9, P. E.) and the poor and miserable (P. E. VII.)[135]

Asoka afforded these above comforts to the people simply for the reason that the people might strictly follow the path, laid down by Dharma (P. E. 7.) In Jainism too the *Laukika Dharma* is prescribed only to gain the Dharma *Pari-Laukika.*

Philosophy of Asoka.

The belief of Asoka in philosophical dogmas as evident from his edicts is also the same as upheld by Jainism. We shall see it in the following lines :—

1. *Āsrava and actions of people* : - I is clear from the edicts that people attain to happiness or misery in this world and the other by their own good or bad actions. Danger for man near Asoka is only the bad inflow (अपास्रव). Certainly a man of world can only be happy in this and the next world when he acquires great merit (Punya) and finishes with the *pāpāsrava* so far as possible. Hence Asoka's bel'ef in good and bad *āsrava* according to the actions of people is similar to Jain philosophy.

2, *Immortality of Soul* :—Asoka is almost silence on this point, but since he admits parloka (Next world) it is clear that he understood the immortal nature of soul. Surely if there is endless happiness in heaven, there must be an endless being for enjoying this happiness otherwise that happiness would not be endless. Here too Asoka follows the Jain philosophy.

3. *Eternity of Loka:*—Asoka seems to accept loka, and par-loka as eternity, since he speaks of endless happiness to be enjoyed in it. In Jainism too the Loka has been described as eternal, though in consequence of time and space, it has been divided in many parts and periods[136]. Asoka also accepts its parts & periods, since he names

135. While defining *Ahimsā* Umāsvāti has given injuctions for the proper treatment of servants and dependents. (Tattvārthādhigam-sutra, pp. 146-147) For the poor and miserable Jainism has laid down the rule of *Karunādāna* (करुणादान) and we find in the scriptures 'दुहियं दिज्जय दानं अणुकंपनेन ।'

136. Taltvārthādhigam-Sûtra, III. 6c , IV. 14c., V. 12,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

para-Loka *i e.* heaven and hell and "*Kalpa-Kāla*" as well.

4. *Non injury, the nucleas of Dharma*:—Asoka put great stress on the non injury of all living beings so much so that it is the very spirit of his Dharma. It is surely just the same thing as found in Jaina philosophy. Jainism teaches that no body can attain to heaven by sacrificing live animals on the alter of Dharma—it is rather its pollution. Asoka proclaims this very philosophical truth in his edict.

5. *Dharma is meant for all*:—Asoka was very very anxious that the observance of Dharma may be practised by one and all—low and high as well as happy and miserable. His propagation of Dharma was for the good of all (सर्वलोकहित) Asoka was indeed very liberal in his this proclaimation and it seems that here he imitates the Dharma chakravarti (Tirthankara) of the Jainas.[137] This catholicity of Asoka is of course contrary to the dogmas of Brahmanas, who raised walls of restrictions and limits in the realm of religion and Asoka was successful in his this laudable effort.

6. *Celestial beings of Asoka*:—It is evident from the Brahmagiri and other edicts that Asoka tried to get mingled the people with the celestial beings (देव). While intrepreting the dreams seen by Chandragupta the Jain author says, that celestial beings are not to be seen here during the present era of time[138]. Asoka seems to support this very view, when he says that celestial beings who were unmixed got mixed now. But how he caused them to mix with people? Certainly they could not come from heavens in this world during this era. Asoka must have known this, but as he was very anxious for the propagation of Dharma and knew that people will not bring faith on heavens unless a clear visible knowledge of them

137. Nandīsūtra 1, 2, 306.
जहा पुराणस्स कत्थति, तहा तुच्छस्स कत्थति ।
जहा तुच्छस्स कत्थति, तहा पुराणस्स कत्थति ॥१॥२॥३०६ - नंदीसूत्र ।

138. Bhadrabāhucharit: ch. II st. 36.
"व्यघुष्यमानं गीर्वाणविमानं वीक्षितं ततः ।
कालेऽस्मिन्नाऽऽगमिष्यन्ति सुरखेचरचारणाः ॥३६॥"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is imparted to them[139], he endeavoured through other means to assure them of the existence of heavens and for this Asoka showed their images to the people. The celestial chariot, and elephant, agniskandha *etc.*, which Asoka showed to the people are traceable in the 16 dreams which the mother of a Tirthankara sees and the carved and painted images of which are shown to Jain laitly in general[140]. Asoka might have taken the idea from the Jainas and brought it into practice. Even to this day in the Rathyātras of the Jainas wooden elephants and *vimāns* are to be seen. By showing *vimāns* and elephant Asoka seems to have indicated *vaimanik* (वैमानिक देव) *devas* (celestial beings) and his display of *Agni-Skandha* likewise indicate to the firelike dazzling bodies of the *Jyotishi and other devas* of Jain philosophy[141].

7. *Heavens: result of meritorious deeds*:—The result of meritorious deeds near Asoka is to attain to heavens. He is silent and speaks nothing about *Nirvāna*; which is the *sumum Bonum* in both the religions Buddhism and Jainism. On this account the belief of Asoka may be doubted as that of Brahmanism. But seeing the conformity of other dogmas and teachings of Asoka with Jainism, it is hardly tenable that he went against the Jain view on this point. Rather his silence about *Nirvāṇa* is in agreement to Jain philosophy; for, according to Jainism nobody can attain to *Nirvāṇa* from this part of land during the present era of time[142]. Hence Asoka rightly exhorted the people to observe the ethics of a house holder's Dharma only. With *Nirvāṇa*, Asoka is silent about ascetics and asceticism as well, which mainly aim to *Nirvāṇa*. He seems to teach the people the Dharma of a house holder and a house holder of course can

To be continued.

139, cf. Uttarādhyayana.
'जे गिद्धे कामभोएसु, एगे कूडाय गच्छइ। न मे दिट्ठे परे लोए चक्खुदिट्ठा इमारई ।।१३।।
वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इम्ममि लोए अदुवा परत्था *etc.* उत्तराध्ययन ५।५

140. Harivaṃsapurāṇa, and the "Jaina" Silver Jubilee No. p. 78

141. Trilokasāra, g. 332 ff and Uttrādhayayana-Sûtra, 3. 14—15.
"महासुक्काव दीप्पता"।

142. Ashṭápāūḍha, 338 अष्टपाहुड़ (बम्बई) पृ० ३३८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Southern Āsmaka

BY

G. N. Saletore, M. A.

The Aśmakas were an ancient community having settlements oth in the *Uttarāpatha* and the *Dakṣiṇāpatha.* It is more or less ertain that their capitals in both these territories were named ōdanapūra. This conjecture receives some support in the sugges-on that the southern townships of Madurā, Pāṇḍya, Pratiṣṭhāṇa nd Aśmaka were most likely Āryan colonies christened after their nother cities[1]. The southern Aśmaka was also known in later times s Sapādalakṣa and Barbara.

The Aśmakas of the north are mentioned in the *Mahābhāruta*[2]. ıśmaka was the putative son of the ṛṣi Vasiṣṭha and Madayantī, ıe queen of Kalmāṣapāda. Accordingly he is said to have founded ıe city of Paúdanya[3]. The *Vāyu Purāṇa* makes Aśmaka and ılūlaka the scions of the Ikṣvāku race[4]. Aśmaka according to āṇini denotes a kṣatriya tribe, a country and a king belonging to ıat country[5]. Assaka (Aśmaka) was one of the *Sōḍasa Mahājana-*

1. Bhandarkar, *The Carmichael Lectures,* 1919. pp. 11-12, 15-16. Cf. osamba, Pāṭaliputra, Virāṭa and Ujjeni of southern history On the Aśmakas ı general read, *The Cambridge History of India,* I, pp. 141, 172-3, 352-6, 468; handarkar. *Ibid,* pp 53-4; B C Law, *Ancient Indian Tribes,* pp. 86-92; *Ibid, II,* p.26-7 *Ibid, Heaven and Hell in Buddhist Perspective,* p. 74; *Ibid, Geography of arly Buddhism* pp. 21-22; *Ibid, Geographical Essays, I,* p. 32; Raychaudhuri, *olitical Hist. of Ancient India,* pp. 76, 121-2, 193, 197-8, 352, 411 (Calcutta, 4th dn.); Stein, *On Alexander's Track to the Indus,* pp. 42-3, 58-61, 121-4, 135, 153, 57-9; Tarn, *The Greeks in Bactria and India,* pp. 151, 169-70.

2. *Mahābhārata,* Jayadrathavadha, VII, 85, 1606.

3. *Ibid,* I, 77, 47: *Aśmakonāmarājarṣiḥ Paudanyaṃ yonyaveśayat*; cf. *Viṣṇu urāṇa.* pp 382-3 (Ed. Wilson)

4. *Vāyu Purāṇa,* ii, 26, 176-177, 149.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

padas of Buddha's time[6]. The *Jātakas* distinctly aver that this Aśmaka kingdom had a capital called Pōtali[7], Pōtana[8], or Pōtanagara[9]. A king named Aśmaka reigned in Pōtali which was a city of the kingdom of Kāśi[10]. Its location is established by the fact that it is placed between Śūrasena and Avanti.[11] Much valuable light is thrown by Jaina sources about this capital of Aśmaka[12]. Pautana[13] or Pōdana[14], doubtless the Pōtana of the Buddhists and Paudanya of the Hindus lay to the west of Ayodhyā[15]. The Pāñcālas, Matsyas, Kacchas and Kurus once fought a deadly battle with the Pōdana king and his allies, Sindhupati, Lambakarṇa, etc.[16] The Greek historians have left accounts of the tribe called Assakenos and Alexander's conquest of their city called Massaga[17]. Aristoboulous[18] and Arrian[19], likewise, have characterized their country as "mountainous," "hilly and rugged." Varāhamihira locates Aśmaka in the north-west[20]. Bāṇa evidently refers to this northern Aśmaka in the following passage : "Śarabha, the Aśmaka king, being attached to stringed music, his enemy's emissaries disguised as students of

5. Pāṇini, *Aṣṭādhyāyi*, IV, 1, 173
6. *Aṅguttara Nikāya*, I, 213 ; *Ibid*, IV, 252, 256, 260 ; *Mahāvastu*, I, 34
7. Fausböll, *The Jātaka*, II, No. 207, p 155 ; *Ibid*, No. 301, p. 3
8. Dialogues of the Buddha, III, *Dīgha Nikāya*, Mahā Govinda Suttanta, 236 pp. 270-1.
9. *Vimānavatthu Commentary*, (P. T. S.), pp. 259-260
10. Fausböll, *Ibid*, No. 207, p. 155
11. *Ang. Nik*, I, 3, p. 213 ; *Ibid*, IV, 14, pp. 252, 256, 261-2 ; Fausböll, *Ibid*. V, No. 532, p. 317, Malalasekhara, *A Dictionary of Pali proper Names*, I, p. 222
12. Read K. P. Jain, *Pōdanapura and Takṣaśilā* in the *Jaina Antiquary*, III, pp. 57-66 for an exhaustive account.
13. Vimalasūri, *Paumacariu*, IV, 67-77
14. Puṣpadanta, *Mahāpurāṇa*, I, VII. 21, l. 4, p. 115 (Ed. Vaidya)
15. Jinasena, *Harivamśapurāṇa*, XI, 78, p. 212
16. Dhanapāla, *Bhaviṣayattakahā*, Chs. XIII, XIV (G. O. S.)
17. M' Crindle, *The Invasion of India by Alexander the Great*, pp. 66. 68. 69, 176, 200, 201, 272, etc., (1893).
18. *Ibid*, *Ancient India as described in classical literature*, p. 22. (1901)
19. *Ibid*, *The Invasion*, pp. 60-61
20. Varāhamihira, *Bṛhatsamhitā*, XIV, 22, p. 91. Cf. also *Ibid*, IX, 18, p. 60; XI, 55, p. 79 etc. (Ed. Kern)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

usic, cut off his head with sharp knives hidden in the space etween the viṇā and its gourd "[21].

The southern Aśmaka is mentioned in the Purāṇas[22]. Aśmaka d Kalinga are the subject matter of the *Culla Kālinga Jātaka* ereby showing that this Aśmaka was in the south rather than its orthern namesake. It is related that when king Kalinga was igning in Dantapura in the Kalinga kingdom, Assaka was the king Potali in the Assaka country. The two kingdoms were contiguous the following incident bears out : When Kalinga invaded the śmaka rāṣṭra, Nandiṣeṇa, the minister of the latter sent a message to im—"Let Kalinga abide within his own marches and not encroach pon ours, and the battle shall be fought on the frontiers of the two ountries." Both the rulers then halted within the limits of their espective territories[23].

The Brāhmaṇa Bāvari's hermitage was on the bank of the river odāvarī in the Assakaviṣaya, in close proximity to Mūḷaka or ḷaka[24]. The capital of Mūḷaka was Patiṭṭhāṇa (Pratiṣṭhāṇa)[25]. That is Aśmaka was on the Godāvarī is also proved by *Vasudēvahiṇḍi* a ina work which has been assigned by Dr. Jacobi to "not later than e sixth century "[26] and by Dr. Alsdorff to "a much earlier date an the sixth century A. D."[27]. This work affirms that Pōyaṇapura Pōdanapura) was situated on the (bank of the) Goyāvarī

21. Bāṇa, *Harṣacarita,* VI, 192. The rulers whose fate is described by Bāṇa, having met their end on account of mistaken carelessness, hailed from the orth. Ibid, pp. 192-4

22. *Vāyu*, 46. 127. 65 ; *Brahmāṇḍa*, 16. 58. 27 ; *Mārkaṇḍeya*, 54. 48. 60 ; *āmana*, 13. 49. 21 ; *Viṣṇudharmōttara*, I, 9. 5. 7 ; *Viṣṇu*, p. 188 (Ed. Wilson)

23. Fausböll, *The Jātaka*, III, No. 301, p. 4. On Kalinga, See Pāṇini, I, 169

24. *Sutta Nipāta*, V. 976-7, p. 190 : *So Assakassa visaye Mūḷakassasamāsane si Godhāvarīkūle uñcenaca phalenaca*. Cf. Śarabhanga's hermitage was also on e bank of the Godāvarī in the Assaka country. Mahāvastu, III, 363; Law, *eographical Essays, op. cit.*

25. *Ibid*, V, 1010-1013, p. 194

26. Jacobi, *Pariśiṣṭhaparvan of Hemacandra*, p. VII (Bibl. Ind. 2nd Edn)

27. Alsdorff, *Bulletin of the School of Oriental Studies*, VIII, p. 320 seq.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Godāvarī)[28]. All indigenous accounts are positive regarding the fact that Pōdanapura was the capital of the northern Aśmaka. The evidence of the *Sutta Nipāta* and *Vasudēvahiṇḍi* therefore enables us to assert that the capital of the southern Aśmaka was also known as Pōdanapura. Some of the kings of this Pōdanapura were Siri Vijaya (Śrī Vijaya)[29], Puṇṇabhadda (Pūrṇabhadra)[30], Dakkha (Dakṣa)[31], Sōmacanda (Sōmacandra)[32] and his queen Çāriṇīdevī[33]. Nothing is known of their historicity.

The antiquity of the southern Aśmaka is also established by epigraphic evidence. The Hāthigumphā inscription of Khāravela the Great relates that regardless of king Śātakarṇi he sent a large army to the west to strike terror into Asaka (or Asika) nagara[34]. The Nāsik *praśasti* of Queen Balaśrī proclaims that her son Gautamīputra Śātakarṇi conquered Asika, Asaka, Mūlaka, Suraṭha, Kukura, Aparānta, Anupa, Vidabha, Akāra-Avanti, Vijha, Acavata, Pārivāta, Sahya, Kaṇhagiri, Maca, Siriṭaṇa, Malaya, Mahida, Setagiri and Cakora[35].

The name of the Aśmaka ruler subverted by Gautamīputra is, nowhere revealed. The Ajanta inscription of Cave No. 17, however,

---

28 Sanghadāsagaṇin, *Vasudēvahiṇḍi* II, p. 354 (Bhāvnagar, 1930) : *tato tuṭṭho bhaṇai sāmi jai evaṃ vaccāmo nayaraṃ mayī paḍivaṇṇaṃ tato amacca parivāra-saṁparivuḍo uttiṇṇamo Goyāvarīnadiṃ tattha hṇāyā kayaṇḍigā sīhavāhihiṃ turaehiṃ pattāmo Pōyaṇapuraṃ.*

29. *Ibid*, II, p. 316. 30. *Ibid*, II, p. 255. 31. *Ibid*, II, p. 275.
32—33. *Ibid*, I, p. 17

34. *Transactions of the International Oriental Congress*, III, p. 135 (Leyden, 1883); Jayaswal, *J. B. O. R. S.*, XIII, pts. 3 & 4, pp. 221-24 ; Barua, *Old Brahmi Inscriptions in the Udayagiri and Khaṇḍagiri Caves*, pp. 11, 42 (Calcutta. 1929) : *dutiya ca vase acitayatī Sātakaṇiṃ pacimadisaṃ haya-gaja-nara-radha-bahuḷaṃ pathāpayati Kalimgāgatāyaca senāya vitāseti Asakanagaraṃ.*

35. Burgess, *Arch. Survey of Western India*, IV, Nāsik No. 14, pp. 108-9; *E.I.*, VIII, p. 60. Cf. The *Dakṣiṇātya* countries mentioned in the *Harivamśa*-Mūḷaka, Aśmaka, Dāṇḍika. Kalinga, Asiṅka, Kuntala, Navarāṣṭra, Mahiṣaka, etc , Jinasena, *Harivamśapurāṇa*, XI, 70, p.210. The Asika of the Nāsik record is probably the same as the Asiṅka of the *Harivamśa* and the Aiṣika of the *Matsyapurāṇa*, CXIV, p. 309 (S. B. H. Series)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

furnishes a regular genealogy of these rulers. Bhagavānlāl Indrāji identified Hariṣena mentioned in the inscription with the Vākāṭaka monarch of that name[36]. Palaeographically the record has been assigned[37] to about the end of the fifth or the beginning of the sixth century A. D. Burgess suggested, on the basis of the contemporaneity of Rudradāsa ?) and Raviśāmba with Hariṣeṇa (C. A. D. 500–520), that the first king probably began to reign in about A. D. 250.[38] The descent may be set forth as follows :—

Aśmaka king (? Name lost) C. A. D. 250
|
Dhṛtarāṣṭra (C. A. D. 275)
|
Hariśāmba (C. A D. 300)
|
Sauriśāmba (C. A. D. 325)
|
Upendragupta (C. A. D. 350)
|
Kāca (I) (C. A. D. 375)
|
Bhikṣudāsa (C. A D. 400)
|
Nīladāsa (C. A. D. 425)
|
Kāca (II) (C. A. D. 450)
|
Kṛṣṇadāsa m. Sucandrā (C. A. D. 475)
|
Rudradāsa — Raviśāmba (C. A. D. 500)

The record states as follows : To the Aśmaka king (name lost) who had obtained existence through.... .... and wore a white parasol (over his head), was born Dhṛtarāṣṭra, who likewise, bore a white

36. Burgess and Indraji *A.S.W. I, Inscriptions from the Cave temples of Western India*, p. 73.

37. Burgess, *A. S. W. I*, IV, *Report on the Buddhist Cave temples and their inscriptions*, pp. 128-129.

38, *Ibid*.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

parasol. The latter's son was Hariśāmba, whose son was Śauri-śāmba. The next king was Upendragupta who is called one of widespread fame (*pṛthu kīrttir dyutimān*), but his relation to Śauri-śāmba is not clear. Upendragupta's son was Kāca who was the first of that name. Whether Bhikṣudāsa was the son of Kāca is also not clear from the record. But Bhikṣudāsa's son was Nīladāsa who became famous on earth (*pṛthito bhuvi*). His son and successor was Kāca (II), whom the record styles as one of brilliant fame (*prathitaḥ Kāca iti pradīpta kīrttiḥ*.) Nīladāsa, the son of Kāca then became the increaser of the splendour of that king's race and line. Kṛṣṇadāsa's queen was named Sucandrā, and they had two sons, the elder (name lost) and the younger Raviśāmba. Of these brothers the inscription records thus: –" ... (with or by) Aśmaka and others ..... having conquered with very great .... they shone like sun and moon .... While those two whose creeper-like friendship and glory had grown very much, were living always in concord and happiness, the thunderbolt of ....whose decree is not to be evaded even by ... ...and whose dread strength is produced by deeds done in former existences, was hurled on the younger one"[39]. It has been observed that this implies that the younger brother died a premature death[40]. It cannot be made out from the fragmentary inscription who exactly built the great *Caitya* whose construction is mentioned in the record, but it was obviously by the Aśmaka king or his minister Acintya. The expression used in connection with the elder brother that " he was the first born to enjoy the office of the sole ruler" (*ekādhipatyaṃ prathamo babhāra*) implies that he assumed independence

The name of this elder brother of Raviśāmba seems to have been preserved in a copper-plate from Śirpūr in the Khāndesh district. The grant is in shell-characters which have been referred to the beginning of the sixth century A. D. This record is one of a

39. Burgess and Indraji. *Op. Cit.* pp 73-76 ; Burgess, *A. S. W. I*, IV, pp. 128-132.

40. Burgess, *Ibid*, p. 131; but Bhagvānlāl (Burgess and Indraji, *Op. Cit*, p.73) is of opinion that the elder murdered Raviśāmba and later repented for it.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Mahārāja Rudradāsa who bore the epithet of 'meditating on the feet of the paramount sovereign' (*Parama Bhaṭṭārakapādānudhyāta*) and made a gift of the field of Ghōṭakatala to the west of the village of Vikaṭṭāṇaka in the Kaśapura sub-division (?). The boundary of the field is mentioned as extending till Kohalaṭṭaka which may be a field or village. The grant was made to a Brāhmaṇa named Drōṇilaka of the Bhāradvāja gōtra[41]. The extant portion of the plates does not give the genealogy, but from its find-spot and the suffix *dāsa* it has been inferred that Rudradāsa belonged to the family of the rulers of Aśmaka. "... it is possible that Rudradāsa may be the elder son, whose name is now illegible in the record (i.e., Ajanta Cave no. 17) of Kṛṣṇadāsa."[42]

A third record found on a pilaster in Nāsik Cave No. 26, and in characters belonging to the latter half of the sixth or beginning of the seventh century A D. contains the details that Bhāvirāja was the minister of the magnanimous Aśmaka king (*mahānubhāvāśmakarāja mantriṇam*)[43]. The son of Bhāvirāja, Dēvarāja, is likewise said to have continued in the same office (after the death of his father) (*itthambhūtosya putrōpi Dēvarāja dhurandharaḥ*)[44]. In honour of Bhāvirāja and that of his father and mother, Bhikṣu Buddhabhadra caused to be built a temple of Buddha[45]. The reference to the Aśmaka king appears to connect this record with that of Cave No. 17[46].

Towards the middle of the fifth century A. D. the Aśmakas fell a prey to the arms of the Rāṣṭrakūṭa ruler Māṇāṅka. The Pāṇḍurangapaḷḷi plates of Avidhēya assigned by Dr. Krishna to A. D. 516 contain the significant details that Māṇāṅka, his grand-father, conquered the countries of Aṅga, Vidarbha, Aśmaka and Sātkuṇṭa[47]. It has been rightly opined that this shows that Māṇāṅka had to struggle against the rulers of the later Gupta, Vākāṭaka and Aśmaka

41. I. A, XVI, pp. 99-100. 42. *Ibid*, p. 99. 43. Burgess, Op. *Cit.* pp. 133-136. 44. *Ibid*, pp. 134-5. 45. *Ibid.*, 46. *Ibid*, p. 58.

47. *Mys. Arch. Rep*, 1929, pp, 197-8, 207 : *Svasti Vasudhādhipatir Anga Vidarbha Aśmaka vijetā Māṇāṅkanṛpatiḥ.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

territories prior to his rise to power[48]. It is evidently to these southern Aśmakas that Varāhamihira refers to in the following order: Among the peoples of the south were the Coḷas, Drāviḍa (Pallava), Videha (?), Āndhra, Aśmaka, Konkaṇa, Kuntála, Keraḷa, Daṇḍaka, Mlēccha etc.[49].

The interstate relations in the Dakṣiṇāpatha about this time have been vividly described by Daṇḍin in the *Dáśakumāracarita*: In Vidarbha, Anantavarmā succeeded Puṇyavarmā of the Bhōjavaṁśa. The new king spent his time in dissipation and his minister Vasurakṛita realised that the kingdom might fall into the hands of the neighbouring king, and feudatory, Vasantabhānu, the ruler of Aśmaka. Before long the Aśmaka king took stock of the decadent state of affairs in Vidarbha, and through Indrapālita, son of his minister Candrapālita, and other secret agents, soon reduced the Vidarbha army to sore straits by internal treachery. Vasantabhānu then incited Bhānuvarmā, the king of Vanavāsi, to wage a war with Anantavarmā (*atha Vasanta bhānu Bhānuvarmaṇāṃ nāma Vanavāsyaṃ prōtsāhya Anantavarmaṇāṃ vyagrāhyat*). When the borders of his dominion were invaded Anantavarmā set his army in motion. Outwardly Vasantabhānu maintained a semblance of loyalty and, by forestalling the other feudatories in rendering his services against the Vanavāsya, became a favourite of the Vidarbha king. The royal army then marched out and encamped near the Narmadā. Among the feudatories of Vidarbha was the Kuntala prince (*Kuntalapati*) *Mahāsāmanta* Avantideva. Then in the camp Anantavarmā became enamoured of a female dancer, in the service of Avantideva, named Kṣamātalōrvaśī. Vasantabhānu observed this and acquainting Avantideva of Anantavarmā's dissipation poisoned his mind against the latter. Thereafter with a combined army consisting of 100 elephants of Vasantabhānu and 500 of Avantideva, they allied themselves with other disaffected chiefs like Vīrasena, ruler of Muralā, Ēkavīra, the chief of Ṛṣīka, Kumāragupta, the ruler of Konkaṇa and Nāgapāla,

48. *Ibid*, p. 208; also read *the Early Rāṣṭrakūṭas of Mahārāṣṭra*, in *K V. Rangaswami Aiyangar Comm. Volume*, p. 58 (Madras, 1940)

49, *Bṛhastamhitā*. XVI, II, p. 101.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

he ruler of Nāsikya, and winning over other feudatories the rebels gave battle to Anantavarmā and completely defeated him. Vasantabhānu whom Daṇḍin calls *nayāvaliptaṃ Aśmakendra* and *Śāṭyanisṭura Aśmaka* subsequently brought about a quarrel among he princes, on the pretext of dividing the spoils of war according o power, whereupon he seized their wealth. He then gave a mall portion of it to Bhānuvarmā and marching back established imself in Vidarbha for a short time[50].

How far this account can be relied upon for historical purposes annot be made out. Most of the rulers of this confederacy are nknown from other sources. Of these, however, Bhānuvarmā lone can be identified with a certain degree of precision. It is ossible that this Vanavāsya Bhānuvarmā is the same as Kadamba Bhānuvarmā, the younger brother of Ravivarmā. A solitary copper-late hailing from Halsi, records a grant made by Kadamba Bhānuvarmā and another by a follower or subordinate of his named *Bhōjaka* Paṇḍara, in the reign of his elder brother Ravivarmā. t continues as follows: " . ...and his (Ravivarma's) ounger brother is king Bhānuvarmā, who is resplendent, and who ffects the welfare of himself and of others[51] ....Land of the easure of 15 *nivartanas*, in (the field called) Kardamapaṭi at 'alāśikā, free from gleaning tax and all other burdens was assigned a copper-charter (and so was given) on the 10th lunar day in the h fortnight of the winter season in the 11th year of the reign of e pious great king Śrī Ravivarmā, by the *Bhōjaka* Paṇḍara, the orshipper of the supreme *Arhat*, who had acquired the favour of the et of the glorious king Bhānuvarmā "[52].

In the above record the phrases *Bhūpakanīyaṃ* and *Śrīmad Bhānuvarmarājalabdhapāda prasādena* imply that Bhānuvarmā njoyed a certain amount of independence. Indeed, Fleet observed

50. Dandin, *Daśakumāracarita*, VIII, pp. 190-203 (Bombay, 1903, Ed. odbole and Parab).

51. I. A. VI, p. 28 : *tad bhārtā Bhānuvarmā svaparahitakaro bhāti bhūpakanīyaṃ.*

52. *Ibid.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

thus on the latter epithet: "Apparently, then, Ravivarmā and Bhānuvarmā were reigning jointly."[53] The identity of Vanavāsya Bhānuvarmā and Kadamba Bhānuvarmā, if tenable, shows that Kadamba Bhānuvarmā was engaged on his northern frontier in subverting the Vidarbhas, while his elder brother was in Banavāṣi, thereby supporting Fleet's suggestion that Bhānuvarmā was an important personage in Kadamba history. It may also be noted that the Kadambas were in some way connected with the Vidarbhas. Thus *Bhōjaka* Paṇḍara, *Bhōjaka* Dāmakīrti[54] and *Bhōjaka* Śrutakīrti[55] appear as officials under the Imperial Kadambas.

Nothing is known about the southern Aśmaka until the 7th century when Cāḷukya Arikēsari I (C. A. D. 686—713) the lord of Sapādalakṣa country is known to have bathed his 500 elephants at Pōdana in tanks filled with oil. This achievement has been mentioned in the records of his successors. Thus Pampa in his *Vikramārjunavijaya*[56], the undated Vemulavāḍa inscription of Arikēsari II[57], and the Parbhaṇi plates of Arikēsari III dated 966 A. D.[58] give an account of this feat.

The Sapādalakṣa country mentioned above was no other than the southern Aśmaka. As we have already seen Pōdana was the capital of Aśmaka. This equates the latter with Sapādalakṣa, and is corroborated by a verse in the *Yaśastilaka* which is as follows:

Garjiṃ jahīhi Bhōjāvanīśa Cēdīśa viśāśmavaśaṃ pradeśaṃ

Aśmantakavēśmavihāya yāhi Pallava laghukēlirasaṃ apaihi[59]

53. *Ibid*, p. 29, note (4).

54. *Ibid*, pp. 24—25.

55. *Ibid*, pp. 26—27.

56. Pampa, *Vikramārjunavijaya*, I, 16—17, p. 4. (1931).

57. *Jl. Andhra H. R. S.* VI, Pts 3—4, p. 185.

58. *Prabuddha Karnāṭaka* for Śrīmukha Samvatsara, *Vināyaka Sañcike*, p. 78, ff; Q. J. B. I., M. XIII, No. 31. p. 49.

59. Sōmadēva, *Yaśastilaka Campū*, I, i, 207, p. 187, (Bombay, 1916).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The commentator Śrutasāgara observes as follows on the word Aśmantaka : *he Aśmantaka Sapādalakṣaparvatanivāsin tvaṃ veśmagṛhaṃ vihāya tyaktvā yāhi gaccha*[60].

It is interesting to note that Sapādalakṣa was also known as Barbara. This detail is also found in the following eulogistic verse in the *Yaśastilaka*:

Garvaṃ Barbara muñca mā carata re Pāñcālakaccāpalaṃ

keḷiṃ Keraḷa saṁharapravēśa rē Madreśa dēśāntaraṃ[61] etc.

The commentator gives the following rendering *rē Barbara Sapādalakṣaparvatādhīśa tvaṃ garvaṃ muñca madaṃ parihara mithyābhimānaṃ tyaja*[62].

From this account the following may be deduced :

1. That Sapādalakṣa denoted the region of One lakh and Quarter Mountains—a meaning which is synonymous with Aśmaka, the rugged or mountainous country.

2. That Aśmaka, Sapādalakṣa and Barbara were different names of Aśmaka.

3. That Pōdana must have been their capital.

The vicissitudes of Aśmaka cannot be traced in the period after Arikēsari I. The city of Pōdana however became the capital of the Rāṣṭrakūṭa monarch Indra III (A. D. 915—922). The Bōdhan inscription of the reign of Trailōkyamalla, Someśvara I, dated A. D. 1056 relates that the Indra-nārāyaṇa temple erected at the capital Bōdhana by the Rāṣṭrakūṭa emperor Indra Vallabha having gone to ruin, Perggaḍe Jogapayya, a servant of Someśvara I, renovated and endowed it with gifts (specified)[63].

60. *Ibid*, p. 188 ; *Jl*, Or. *Research*, XII, p. 264.

61 & 62. Sōmadēva, *Ibid*, I, iii, 113, p. 396.

63. *Hy. Arch. Series*. No. 7, pp. 2, 4,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

It is evidently this Pōdana which has been immortalised in the annals of the Jainas of the south. In the 10th century it became associated with Cāmuṇḍarāya about whose patronage to Jainism many accounts bear witness. Thus the Gommaṭeśvara temple inscription dated A. D. 1180 narrates as follows: Who is so honourable as the high-souled Bāhubali, son of Puru, who having generously handed over the kingdom of the earth to his elder brother, who on defeat in a regular hand-to-hand fight unjustly left off speaking and when even the discuss thrown by him proved a failure was seized with shame, went forth and destroyed by his penance the enemy *Karma*? The emperor Bharata conqueror of all kings, son of Purudeva, *caused to be made near Paudanapura* with joy of mind, an image, 525 bows high, resembling the victorious-armed Bāhubali kēvali. After the lapse of a long time, a world terrifying mass of innumerable *kukkuṭasarpas* having sprung up in the region near that Jina, that enemy of sin obtained indeed the name Kukkuṭeśvara. Afterwards that region became invisible to the common people, though seen even now by many skilled in spells and charms (*prākṛtargg āyt agōcaraṃ ant ā mahī mantra-tantra niyatar kkāṇbar ggaḍ innuṃ palar*) ...... On hearing from people of the celebrated supernatural power of that Jina, a desire arose in his mind to see him and when he prepared himself to go, he was told by his preceptors that the region of that city was distant and inaccessible (*dūraṃ durgamaṃ tat-purāvaṇi end-āryajanaṃ prabhōdisidoḍe*) whereupon, saying "in that case I will cause to be made an image of that god," Cāmuṇḍa Rāya had the exquisite image of Gommaṭeśvara made at Śravaṇabeḷgoḷa[64].

This Paudanapura has been identified with Pōdan, modern Bodhan a village lying in Lat. 18°40′ and Long. 77°53′ in the Nizamabad district of H. E.H. the Nizam's Dominions[65].

The Caulukyas of Gūrjara-maṇḍala had also political dealings with Sapādalakṣa. Mērutunga asserts that soon after his accession to the throne, Mūlarāja (A D. 941) was assailed by two armies, first by

64. E. C. II, No. 234 (85), p. 98; Saletore, *Mediaeval Jainism*, pp. 109—111.
65. Saletore, *Ibid*, p. 186.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

that of the Sapādalakṣīya rāja and then by Bārapa, general of Tailapa the king of Telangadeśa. Unable to withstand these attacks Mūlarāja fled to Kaṇṭhādurga[66].

Jayasiṁha Siddharāja I (1094–1144) is known to have conquered, according to many inscriptions[67], the lord of Avanti, Tribhuvanagaṇḍa and Varvaraka (Barbaraka)[68]. It is related how Hemacandra alone could explain the Samskṛta verse sent by the king of Dahāḷa to king Jayasimha. On another occasion the king of Sapādalakṣa sent for Jayasimha's court poets the first portion of a Prākṛta *dodhaka*, when Hemacandra immediately composed the other half of it[69]. It appears that the name of the Sapādalakṣa ruler was Ānaka[70].

Kumārapāla (1149—1173) upon his accession to the throne decided to subjugate Arṇōrāja, the arrogant king of Sapādalakṣa. But he was successful only in the twelfth attempt when Arṇōrāja was defeated in the battle of Mount Arbuda. Mērutuṅga says that Kumārapāla having restored peace at home led an expedition against Arṇōrāja or Ānaka, king of Sapādalakṣa, and later against (the Śilāhāra) Mallikārjuna[71]. It is also related how when this ruler was converted to Jainism by Hemacandra, he proceeded to Sōmanātha Paṭṭaṇa where he was initiated into Jaina rites like *abhakṣaniyama*, *śrāddha dharma* etc., after which he promulgated a humanitarian decree which forbade killing of animals in Lāṭa, Surāṣṭra, Mālava, Ābhīra, Mēdapāṭa, Maru and Sapādalakṣa[72]. The next ruler Ajayapāladeva (1173 - 1176) is again said to have levied tribute from the ruler of Sapādalakṣa (*karadīkṛta Sapādalakṣa kṣamāpāla*)[73]. It is not clear whether the Sapādalakṣa of the Caulukyas was the same as Aśmaka. However, the proximity of Aśmaka to Gūrjara maṇḍala is a fact which cannot be denied.

66. Merutunga, *Prabandha Cintāmaṇi*, I; pp. 24—26, (Bombay, 1932); Forbes, *Rās Mālā*, I, p. 51.
67. I. A. VI, Nos. 3—10; VII, Or. Conf. Proc, p. 644.
68. Merutunga, *Ibid*, III, p. 119.
69. *Ibid*, III, 22, p. 103.
70. *Ibid*, III, 51. p. 123.
71. *Ibid*, IV, pp. 128-30.
72. Jayasimhasūri, *Kumārapāla Carita*, VII, 581-82 (Bombay 1926).
73. I. A. VI, Nos. 3, 5-10; VII, Or. Conf. Proc. *op. cit.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

THE SILAPPADIKĀRAM OR THE LAY OF THE ANKLET

TRANSLATED WITH AN INTRODUCTION AND NOTES

By

V. R. Ramachandra Dikshitar.

Speaking about the author's religion Mr Dikshitar says "Far more important is the question of his religious faith. The term 'Kunavayirkottam' is interpreted by Adiyarkkunallar as Aruhankoil, the name generally given to the Jaina temples. From this and from the term Adigal being used as a suffix to his name, the late Mr. Kanakasabhai opined that Ilango was a monk of the Nirgrantha sect of the Jainas. But this question is largely interwoven with the faith adopted and adhered to by his brother Śeṅguṭṭuvan. Adigal is a term of respect and is in use even today among saints, seers and holy men to whatever faith they may belong. Again the term Koṭṭam is a general name for temple, and cannot be said to denote particularly a Jaina temple. While we are examining this question it is necessary to call in the testimony of another datum and that goes to establish his religion beyond doubt. This is the fact of Ilango's attending the Vedic sacrifice elaborately performed by his brother after his return from his northern expedition. A follower of the Jaina cult, with his watchword of ahiṁsā, could not be expected to attend a function like the Vedic sacrifice. This, together with his presence on the occasions of the founding of the Pattini cult, conclusively shows that Ilango was a follower of the orthodox religion like his brother Śeṅguṭṭuvan."

From this quotation it is clear that Mr. Dikshitar is led to erroneous conclusion by ignorance of facts. In Tamil, term *velvi* is always used to denote fire ritual. Whenever it is intended to refer to Vedic sacrifice involving slaughter of animals they always use the term *Veda-Velvi* which means Vedic sacrifice. This is borne out abundantly in Tamil literature. Sambanda in his Thevaram, while condemning the Jains, brings the charge that they reject Vedavelvi or Vedic sacrifice. The author of the Kural also uses the same descriptive phrase to refer to Vedic sacrifice. Whenever the term

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Velvi is used alone, it merely means fire ritual without involving animal sacrifice. Such a fire ritual has never been condemend by Jains, while they were staunchly opposed to Vedic sacrifice on the ground of Ahiṁsā. Even now among the Tamil Jainas fire-ritual is a common thing. During their marriages they do have the characteristic marriage-Homam with all its necessary details. Even in temple worship it is a common practice among the south Indian Jainas. Hence it is entirely erroneous to conclude that fire ritual is foreign to Jainas and that it could not be performed or attended by a Jaina.

On this erroneous ground Mr. Dikshitar bases his conclusion that Ilango could not have been a Jaina by faith for he attended the fire-sacrifice performed by the Chera King, his brother, who is assumed, to be a Sanātanist Hindu by faith. He miserably fails to notice that even in the sacrificial hall where distinguished good people were assembled there was an address on the Ahiṁsā doctrine based upon benevolent words of the daughters of the Gods (Kannaki). "Rise above pleasure and pain in accordance with the approved course of conduct. Know God, and serve those who have known him. Fear speaking falsehood. Avoid tale-bearing. *Refrain from meat-eating and abjure injury to any living being.* Give gifts and perform the prescribed penances. Do not give false evidence, and never depart from words of truth. Do not fail to join assemblies of people learned in Dharma. Strive ever to escape the meeting places of the unrighteous. Avoid other people's wives, and give succour to those who are dying. Protect the household virtues, but reject what is bad. Abstain immediately from drinking, theft, lust, falsehood, and useless company. Youth, wealth and the body are impermanent. You cannot escape from the days allotted to you nor can you avoid what will happen. So seek the best help to the land of your final destination (Heaven). Do all this, O dwellers on this wide prosperous earth." To preach the doctrince of Ahiṁsā in the Yāgaśālā after animal sacrifice would be incongruent and absurd. Hence the sacrifice referred to must be one based upon the principle of Ahiṁsā. The term used in *Śilappadikāram* for such a sacrifice is *Arravelvi*, fire sacrifice, according to the doctrine af Ahiṁsā. Chera king Śeṅguṭṭuvan

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

is praised in the epic for introducing '*Poobali*' flower offering in temple worship which clearly proves that he was the follower of Ahiṁsā Dharma. His brother Ilango who is testified to be the follower of Ahiṁsā by ancient commentator must be accepted as such. It is sheer intellectual perversity to draw any other conclusion based upon ignorance of facts. No doubt the king was tolerant of other faiths; but certainly he was the follower of Ahiṁsā Dharma and his brother certainly the Jaina Sannyāsi by faith.

A. C.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

New Studies in South Indian Jainism.

III
Sravana Belgola Culture.
Sec (ii)

A religious system that had preached and cheerfully practised such *Ahimsa* was a "religion of strength", a religion of self-effort, possibly coloured by the Kshatriya origin of its earliest expounders, the Thirthankaras, especially Mahâ Vira. It was a religion of the spirit, of the spiritual suffusion or spiritualisation of matter by intensive *dîkshas* (concentrations) and sikshas (desciplines) which are in no sense emaciations of the body as ununderstanding non-Indians call them. It was indeed a religion of heroism, really a *mahā-Viratwa* (महावीरत्व), a grand heroism, a practical culture of "Soham" (सोहम), capable of realisation and realised, indeed, by persons in all stations and grades of life, high and low, men and women, and *lived* in medieval India, from day to day in the presence of the populace, the nation that lives in the Cottages. How it had appealed to the general, common, mind of the vast body of Andhra-Karnatakas will be clear from a few excerpts from the Sravana Belgola Inscriptions :—

Trans: (1) "To the lord of the three worlds, obeisance, the destroyer of birth, by the rays of his speech which establishes the truth overpowering the darkness of ignorance, *Santi* (No. 90 of A. C. 1181)".

(2) "Of unlimited joy and highest knowledge, remover by his power of the fear of others, of a glory manifest to all, the Supreme Intellegence—may he fill my mind (No. 108 of A.C. 1433)"

---

1. The Numbers in brackets refer to those in I. S. B. quoted in Section (i) I. S. B.—"Inscriptions of Sravana Belgola" by Lewis Rice (Bangalore 1889).

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(3) "Shining with all jewels (sciences), freed from bilge water (ignorant people), the various morals its cabins, painted white with the purity of Syât-kāra (doctrine), the ship of faith, on which taking on board those who are overwhelmed in the ocean of family cares, they carry them over to the inland of immortality,—these Thirthankaras, may they be in the middle of my heart (108 of A. C. 1433)"

(4) "An ignorant man, manifestly corrupting his mind with passion, and enemity, may fail in devotion to the spirit, the form of all wisdom, the ever peaceful, but how can a wise man for a moment strive for any other end ?" (54 of A.C. 1128).

From such statements, it is quite clear that what appealed strongest in the Jaina faith was its insistence on *the culture of the spirit*, *chit* and *ananda*, the spiritualisation or control of the body, the conquest of sex and desire, the dispelling of ignorance, the removal of fear, the cultivation of peace and the assurance of Immortality. The conquest of *Samsâra* or the transcendence of the sea of troubles is its greatest achievement; neither by running away from it, nor by ending it as Hamlet thought, by suicide, but by "cultivating the spirit that is unaffected by it." The freedom from the cycle of births and deaths is its greatest aspiration. No wonder, then, that the natural *finale* of such a disciplined life is *Sallekhana*, 'the fast unto death' which is the last giving up of all dependence on earth and things earthly on the way to the Mahâprasthan, 'the great pilgrimage' from which there is no coming back as the Andhra popular funeral dirge[2] Sings. This *Sollēkhana* corresponds to *Prāyopavēsana* (प्रायोपवेशन) such as that of Parikshit, a rite of purification of body and the ego, of both the dēha (देह) and dēhi (देहि). It was entered upon most cheerfully by Jaina devotees, monks and

2. 'मललो जन्मानिकि रामु मरिचिपोकंडी' (we don't come again to birth : Please don't forget us.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

nity, men and women, rich and poor, and was celebrated as the Crowing glory" of a life. Lewis Rice who first edited these igraphs, however, thought that such a rite was inconsistent with e doctrine of *ahimsa* and therefore said in his Introduction to the olume of 'Inscriptions of Sravana Belgola"[3] :-

> "The bitterest satirist of human delutions could hardly depict a scene of sterner Irony than the naked summit of this bare "rock dotted with emaciated devotees, both men and women, in silent torture awaiting the hour of self-imposed death. The irony is complete when we remember that avoidance of the destruction of life in whatever form is a fundamental doctrine of the sect."

European critics may still be of the same opinion as Lewis Rice, ut still, it is a significant fact that, from the time of Bhadrabâhu in hose early centuries down into the nineteenth century, have conti-ued instances of this rite joyfully, enthusiastically and without any eeling of torture or pain, entered upon by devotees of this great ndian spiritual Sampradaya. Here below are details of *Sallekhana* f women that so entered upon this rite :—

No. (2) Nāgamati-Ganti of Chittur in Adeyare-nad ……… .. 3 months vow.

No. (5) Jambu Nâyagi ………1 month vow.

No. (10) Ēchal-goravi of Kuttara……. · …

No. (17) Echal-goravi wife of Santisena Muni…… ……

No. (20) (daughter) Nachchikavve…………

No. (28) The great Anantamati-Ganti of Naviher Sangha………

No. (30) Sasirmati-Ganti, of lofty virtue, of firm qualities, of great learning……………

3. . S. B. page

4 I. S. B No. 1.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

No. (44) A. C. 1121 Pôchâmbika, mother of Ganga Raja minister and general.. ....

No. (48) A. C. 1122 Dandanayakiti Lakkavve wife of general Ganga Raja.........

No. (49) A. C. 1120 Demiakke wife of Chamunda Setti........

No. (53) A.C. 1131 Mâchikabbe mother of Santala Devi, the first queen of Hoysala Vishnuvardhana....... .... vow of 1 month.

This last mentioned event, the Sallekhana of Machikabbe, the mother-in-law of a reigning king is naturally the most highly celebrated one in these epigraphs and *Lewis Rice's translation* of the passages in the particular[5] epigraph refering to her is quoted here to *disprove his own view* of this rite :—

Trans. "With eyes half-closed, repeating the five words, glorious with meditating on Jinendra, magnanimous in parting from relative, absorbed in the vow of a *Sanyasi*, fasting for one month Māchikabbe herself attained god-head by means of her penance in the presence of all the blessed"

"That Mārasinga's wife, devoted to the feet of Jina, a union of all good qualities, of great attachment to her husband, thus praised by all the world did Machikabbe shine."

"Devoted to the feet of Jina, worshipped by her friends, a Cow of plenty to his dependents, like the wife of Kama, great in good qualities, loving to give, ever devoted to the lotus feet of Munis, a praise to the people, such was Marasinga's wife, thus to praise Machikabbe did the world love."

"Jinanatha being her favourite, Bala Deva her father, the chief of women, Bāchikabbe, the mother who bore her, her youngerbrother Singa ;—possessed of such greatness, the distinguished Machikabbe went to the world of gods amid

5 No. 53 of A. C. 1131. I. S. B,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

the continual praises of all the earth; who can describe her (fitly), he alone can describe her."

" Among women, who took the vow of a sannyasi, who was able to endure like this ? While all were thus saying, *she chose with joy the glory of fearful severe penance*; while learning shone in her minds, praising the lotus feet of Jina, amid the plaudits of the world, Machikabbe *with exultation* आनन्द) attained god-head."

× × ×

" What Pandit in this world by his death obtained such glory as Machikabbe, performing unbroken severe penance ?" (No. 53 of A. C. 1131)

Such " heroism " with *Jñan* and *ānand* had, no doubt, been characteristic of many a *Vîrapatni* and *Vîramāta* in ancient and medieval India.

Another characteristic feature of Jainism in its influence of what is generally called 'high life' is to impress on persons in it the idea of the trancience of riches, and the great need, therefore, for their sanctification by utilising them towards acts of social usefulness and exaltation of the faith and commemoration of teachers. We often hear in these epigaphs about this changefulness of fortune. The idea is thus stated : --

No 26. (archaic)

' Sura-chāpam bole vidyul-lategala teravol mañjuvol tôṛe bêgam Pirudum Sri rūpa-lîla-dhana-vibhava-mahā-rāsigal nillav ârggê Paramārttham-meecha nān îdhariniyuliruvān endu Sanyasanage-yd uru Satvan Nandisena Ravara-meni-varan deva lokakke Sandān.'

Trans. Rapidly vanishing like the rain-bow, like clustering flashes of lightning or like heavy cloud, to whom are the treasures of beauty, pleasure, wealth and power secure? Thus saying, having assumed the state of a sanyasi, the great mighty one Nandi Sena, best and most excellent of munis, reached the world of gods.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

From this point of view Jainism seems to have centred the whole problem of the spiritualisation of life on the *conquest* of desire, of sense, of sex and it not only recommended it to the ordinary householder, but even to the king, the general and the warrior, even to the most beautiful of them, as such temptations would be strongest to them and turn out to be the most destructive. While many literary works convertionally describe a heroic and handsome person in high life as "*a cupid to women*" (नारीमदन), Jainism recommends to such persons, the fight against cupid or Madana as their best fight and his conquest as the greatest heroism, both in descriptions of famous sages and famous heroes. In these inscriptions, this great principle of life is celebrated thus:—

(1) No. 53 of Ac. 1131:—Vinayâditya of yādava race has among his titles:—"to other's wives a Hanuman[6] (Paravanitage Anilatanayam.)

(2) No. 108 of A. C. 1433:—Of Siddhantayogi it is said—"whom, though his lotus feet were ever tinted with the rays from the crowns of bending kings, no substance and no woman and no clothing and no youthful pride, no strength and no wealth could tempt"

And Bhujbali or Gommateswara or Bahubali the brother of the great Emperor Bharata is celebrated as the greatest exemplar of such a *grand renunciation* to become a teacher of humanity,—an exemplar. This great feat was materialised to all time in the Colossal statue of Gommateswara on the Sravana Belgola Hill made in A. C. 1180 and the inscriptions celebrating it thus describe that *central event* in the life of that great Scion of Indian's most ancient royal and ruling family:—

No. 85 of A. C. 1190.

Trans. "Of unequalled beauty, superior to Manmatha, victor over kings, of great bounty, having subdued the whole world, *he gave it away*; of great kindness, engaged in penance, his two feet given to the earth, possessed of

6. Compare No, 56 of A. C, 1123 I, S. B,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

perfect wisdom, freed from the bonds of action, how great is Bahubalîsa ! "

* * *

" Younger brothers, all my brothers have gone to penance; if you too go to this penance, I care not for this wealth, go not,"—heeding not thy elder brother who spoke thus, thou didst take *diksha,* Gommata Deva; who is equal to thee in sacrifice? "

" Say not thy feet are in my land, it is both thine and mine, it cannot be divided; the highest merit is *the power of imparting knowledge, thus it is said* in the Divine word " from they elder brother's thus saying " hast thou cast away the desire of self-glory, Gommata Deva."

* * *

" Thou, having fixed they mind unshaken on the indwelling spirit, love and all the desires of sense have fled away; the happiness of perfect spiritual knowledge increases, and by the complete destruction of sin, thou hast attained the state of final beatitude Gommata Deva, and unending happiness."

* * *

" Tho' Manmatha had formerly obtained in him the mastery of the empire of desire, and he was connected with the empire of the world—the discus weapon resembling the sun, discharged from the hand of Bharatā having struck on his powerful long arm, he forsook all, and for the sake of gaining the happiness of the *empire* of *mukti,* he took diksha, Bahubali, how do the worthy abandon all, saying what is it ! "

It is under the ever living inspiration of such a *Râjarshi* that many a king, general, minister or warrior lived and described themselves as " Paranârî Sahôdara " (पर नारी सहोदर), brother to other's women. But the living, not for self-glory, but for the good of others, for the imparting to them of spiritualising knowledge, both by teaching

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and the *example* of a life, was pursued as the ideal by the followers of this faith. Thus, tho'' an ascetic, a stoic, a heroic, a self-perfecting, a self-denying, a desciplining religion, yet, from the sanyasis to the most ordinary desciples of it, *all lived it* as a *religion of social usefulness.* It is when and where it degenerated into a *mere routine, shodâsopachara* type of image worship (षोडशोपचार मूर्त्याराधन) and the *merely* traditional forms of respect paid to *gurus* or *mandalacharyas*, that it has assimilated itself to current types of popular Hinduism and become, like them, a mere formula or uninspiring symbolism. There is no use pretending now a days that it has not also so degenerated. My veneration is, therefore, to Jainism as it was practised in those early ages, tho' I cannot distinguish it from Popular Hinduism to-day, except in its traditional philosophy. But to return to the past;

A few passages will illustrate its *social appeal* in its palmy days:—

(1) No. 47 A C. 1115 Praise of Lakshmimati Dandanayakiti, by disciple of Prabhachandra Sidhanta Deva for her "gifts of food, shelter, medicine and instruction."

(2) No. 105 A. C. 1398. "The ignorant and the wise, the poor and the rich, the lowly and the honourable, evil and the good the sorrowing and the happy, the proud and the happy, the proud and the virtuous, he caused to be Samanta bhadra (fortunate) ....Sri charukirti.

To be contd.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

REMNANTS OF THE 12TH JAINA ŚRUTĀṄGA DIṬṬHIVĀDA.*

BY

(Prof. Hiralal Jain, Amraoti)

---

1 Tradtion about the Aṅgas.

According to the unanimous tradition of both, the Digambara as well as the Śvetāmbara Jainas, the teachings of the last Tirthaṃkara Mahāvira were arranged into twelve books called Aṅgas and they were handed down by word of mouth from preceptor to pupil till they began to fall into oblivion. But as to the subsequent history of the Aṅgas, the two accounts differ. The Śvetāmbaras hold that the canon of the Aṅgas was successively settled during the second, the sixth and the tenth century after the Nirvāṇa of Mahāvīra, by congregations of monks at Pataliputra, Mathura and Vallabhi, under Sthūlabhadra, Skandilācārya and Devardhigaṇi respectively, and that the forty-five books now current as Āgamas were the result of the labours of the last congregation. The twelfth Aṅga Diṭṭhivāda was, however, irretrievably lost and what had remained of it was only the table of contents found in the various books of the restored canon.

This tradition the Digambaras do not accept. According to them the whole of the original canon was lost and what had remained of it was only fragmentary knowledge of the subject-matter which has been reproduced by subsequent writers in their own language. The only works which may be said to be directly associated with the canon were preserved in what are popularly known as Dhavala, Mahādhavala and Jayadhavala Siddhāntas. Of these works, however, a single manuscript was known to exist in Kanarese script on palm leaves at the Jaina pontifical seat of Mudabidri in South Kanara. For the last several centuries these mss. had been used only for worship and they were not available

---

* A paper read in the Prakrit section of the 10th All India Oriental Conference met at Tirupathi in March 1940.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

for study. It was only during the last twenty years that transcripts of two of them *i.e.*, the first and the third, had become available, and the information given here was the result of the axamination of those transcripts in connection with the edition of the same which the present writer has undertaken.

2
How fragments of Ditthivada were saved from oblivion.

An examination of the Dhavala Siddhānta ms. shows that it consists of Sūtras in Prakrit and a very extensive commentary in Prakrit alternating with Sanskrit in the nature of a Bhāṣya in which are found many verses, mostly Prakrit, quoted from older writers. This commentary has been called Dhavalā by its author Vīrasena who reveals himself in the Praśasti as the disciple of Elācārya and also a pupil of Āryanandi the disciple of Candrasena, belonging to the Pancastūpa line of teachers and completing the commentary on the 13th day of the bright fortnight of Kārtika in Śaka year 738, equivalent to the 8th October 816 A. D., when Jagattuṅga deva's reign had come to an end and Boddaṇaraya was ruling. These kings I identify with Govind III and his successor Amoghavarṣa I of the Rāṣṭrakūṭa dynasty.

This commentary, in its introductory part, gives information about the composition of the original Sūtras as follows :—

The teachings of Lord Mahāvīra were arranged into twelve Aṅgas by his pupil Indrabhūti Gautama, and they were handed down from preceptor to pupil through a line of twenty-eight Ācāryās. But the knowledge was ever decreasing and what the last of the Ācāryās, Lohārya, knew in full was only the first Aṅga. After him only fragments of the Aṅgas were known to Dharasena who practised austerities at Girinagara in Saurāṣṭra (modern Kathiawar). He felt the necessity of preserving the knowledge, and so he wrote a letter on the subject to the monks of southern India who had assembled at *Mahima*, probably Mahimanagarh in the Satara district. The latter sent two monks from the banks of the Benna in the Andhra country, and Dharasena, after satisfying himself as to the capacity of the monks to learn, taught to them the grantha. These two monks came to be known as Pupphayanta (Puṣpadanta)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and Bhūdabali (Bhūtabali), and they reduced the knowledge to writing in the form of the Sutras upon which the commentary Dhavalā has been written. The contribution of Puṣpadanta was the first one hundred and seventy-seven Sūtras, while all the rest of them were composed by Bhūtabali.

3 Period of restoration.

As regards the time of the composition of the Sūtras the commentary helps us to this extent only that it gives the list of Ācāryas up to the twenty-eight succession from Mahāvīra, records their period of time which comes to 683 years and declares that Dharasena lived sometime after that. But how long after, is not made clear. Other succession lists also record the same period, but one of them, the Prakrit Paṭṭāvali of Nandi Saṃgha, differs from them all materially in recording the time of each Ācarya separately in extending the list to four more Ācāryas amongst whom are included our Dharasena, Puṣpadanta and Bhūtabali and in showing them to have flourished between 614 and 683 years after Mahāvīra. The times mentioned herein and the account of the gradual disappearance of the Aṅgas appear to be more reasonable. The time given for Dharasena is in agreement with that of another independent authority the *Bṛihat tippaṇikā* which attributes a work by name *Joṇipāhuḍa* to Dharasena and assigns it to 600 years after Vīra Nirvāna. The time of the composition of the Sūtras, thus, falls, according to the traditional reckoning of Vīra Nirvāṇa, betweeen 87 and 156 A. D.

4 Commentaries on the restored texts.

Yet another authority has preserved for us an account of the commentaries that were written from time to time on the Sacred Sūtras. This authority is the *Śrutāvatāra*. The time of its composition is not definitely settled, but one conjecture identifies its author Indranandi with the Indranandi Guru mentioned in the *Gommaṭasāra.* This makes Śrutāvatāra a work not later than the eleventh century A. D. The details preserved in this work about the composition of the Sūtras are substantially the same as those recorded in the commentary of Vīrasena. There is yet another circumstance that shows the work to be reliable. The author, when

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

he speaks about the place of Dharasena in the succession list of Acāryas boldly confesses that 'he does not know it because he came across no book or teacher declaring the same.' This shows that where the author is informative he relies on some tradition, oral or written, and not merely on his own imagination.

Indranandi gives some details of five commentaries written upon the Sūtras before Vīrasena. The first of these was called *Parikarma*, Its extent was twelve thousand Ślokas and its author *Kundakundācārya* the celebrated author of several Prakrit works We find numerous references to Parikarma in the Dhavalā itself and the quotations given from it are all in Prakrit. This shows that the commentary was written in Prakrit. The time of Kundakundācārya is about the second century A. D. There seems to be no reason to doubt the statement of Indranandi. The second commentary mentioned by Indranandi is *Paddhati* by *Sāmakunḍa*, also equal to twelve thousand slokas is extent. The third is *Cūdāmaṇi* by *Tumbulūrācārya* in Kanarese and as extensive as ninety-one thousand ślokas. The fourth is ascribed to *Samantabhadra*, a celebrated name in Jaina literature. This is said to have been written in "very beautiful and tender Sanskrit," to the extent of forty-eight thousand ślokas. The fifth commentary was the *Vyākhyāprajñapti* by *Bappadeva Guru* in Prakrit equal to seventy-three thousand slokas in extent. It was written at *Maganavalli* near *Utkalikā*, a village situated between the rivers *Bhīmarathi* and *Kṛiṣṇamekha*. Indranandi also tells us that Vīrasena had this commentary before him when he wrote the Dhavalā and this is borne out by the fact that we find references to and quotations from it in the commentary of Virasena. The details given by Indranandi about the locality where Bappadeva wrote may be taken to indicate that he was more closely acquainted with this work than with the previous ones and that he may not have been separated too long from him. Though the time of these commentators is uncertain, we would not be far wrong in separating them from each other by a century and assigning them to the third, fourth, fifth and sixth century respectively.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Unfortunately, however, all these commentaries are at present mere names to us, except so far as we can find traces of some of them in the commentaries of Virasena. But it is not unlikely that some of them are still reposing in some manuscript stores of the Deccan which has proved itself so pregnant with such treasures, awaiting the hand and the eye of the explorer, even as the Dhavalā itself had remained locked up for centuries at Mudabidri.

5 Variations in the texts and dogmas and the language of the Sūtras.

Even a peep into the Dhavalā is enough to give us a glimpse of the wealth and richness of the literature that Vīrasena had before him. He had to deal with several different readings found in the several Sūtra books (*Sutta-potthaesu*) that he had before him and the varying interpretations put upon them by earlier writers and teachers. These he frequently quotes, refutes or supports, or leaves the question open for the verdict of those " who might know better than himself." Of a particular interest are his references to the dogmas of two different schools of thought which he calls the *Northern* and the *Southern*, he himself identifying with the latter. He also mentions and quotes from several authors and works that are otherwise unknown to us, for example, *Sārasaṃgraha* of Pūjyapāda, *Chedasutta*, *Kammapavāda* and *Daśakaraṇi-saṃgraha* and *Joṇipāhuḍa*.

As regards the language of the Sūtras, the technical terminology is almost wholly *Ardhamāgadhi* as also many other forms. For the rest, the phonology and morphology is predominantly *Sauraseni* but exhibiting signs of Mahārāṣtri influence. Thus, we may say that the back ground of the language of the Sūtras is Ardhamāgadhī, the general structure is Śaurasenī and there is a superimposition of Mahārāṣtrī. How Mahārāṣtrism has developed in the language might be illustrated here. There are several verses of Prakrit quoted by Virasena in his commentary from earlier writers. Many of these verses recur in the *Gommaṭasāra* of Nemicandra which was based upon the work of Virasena, and some of those verses appear in the later work in a strikingly Mahārāṣtricised form. Not only this, but the contrary phenomenon is also discernible. Some verses in the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Gommaṭasāra retain the Śauraseni traits while they appear in a Mahārāṣtricised form in the manuscript of Dhavalā. From this it appears probable that the latter traits may have been imparted by the copyists. It is, however, difficult to say definitely at present how far the Mahārāṣtri influence was originally in the Sūtras and how far it may have been developed later.

6 Extent of Diṭṭhivāda and relation to it of the Saṭkhaṇḍāgama.

The most interesting part of the commentary is that it gives us details of the extent of the twelfth Aṅga *Diṭṭihvāda* and indicates clearly what part of it has been reproduced in the present Sūtras. Diṭṭhivāda consisted of five parts, the fourth of which was called *Pūrvagata*. Purvagata again, contained fourteen sections, the second of which was known as *Āgrāyaṇīpūrva*. Of the fourteen sub-sections of Āgrāyaṇīpūrva, the fifth was *Cayanalabdhi* which itself contained twenty books called *Pāhuḍas*. Amongst them the fourth was *Kammapayaḍi-pāhuḍa* the twenty-four topics of which form the subject matter of the Sūtras and the commentary we are dealing with. Only one small section of the work is based upon Viyāhapannatti.

The work of Puṣpadanta and Bhūtavali has been called by Virasena, *Chakkhaṇḍa siddhānta* and it acquired subsequently the popular name of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*. The names of the six Khaṇḍas are *Jivaṭṭhāṇa, Khuddābandha, Bandha-sāmitta-vicaya, vedaṇā,* Vaggaṇā and *Mahābandha*. Their subject-matter is Karma philosophy which is dealt with in the first three khaṇḍas from the point of view of the soul which is the agent of the bondage, and in the last three khaṇḍas from the point of view of the objective karmas, their nature and extent. On this twofold division of the subject-matter of this Āgama were based the two parts of Gommaṭasāra of Nemicandra Siddhāntacakravarti, namely the Jivakāṇḍa and the Karmakāṇḍa. The first five Khaṇḍas are said to contain six thousand Sūtras and these, together with the commentary Dhavala of Virasena which is said to be Seventy-two thousand ślokas in extent, is popularly known as the Dhavala Siddhānta. The extent of the sixth Khaṇḍa is said to be thirty or forty thousand ślokas and it is entirely the work of

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Bhūtabali himself. It is this Khaṇḍa, *i.e.*, the Mahābandha that is popularly known as Mahādhavala. The only surviving manuscript of it still reposes in the sanctuary of Mudabidri Jaina temple.

Yet another teacher by name Guṇadharācārya is responsible for the preservation of another portion of the Diṭṭhivāda about the same time as Dharasena. Of the fourteen Pūrvas the fifth was known as *Jñānapravāda* consisting of twelve *vastus* or subjects. Of the twenty Pāhuḍas included in the tenth Vastu, the third was called Pejjadosa-pāhuḍa, and it is this Pāhuḍa that was preserved by Guṇadharācārya in 180 Gāthās under the name of *Kasāya Pāhuḍa.* The commentary written by Virasena and his pupil Jinasena on this work is sixty thousand ślokas and is called Jayadhavala. This work is popularly known as *Jayadhavala Siddhānta.*

The information given in these works as to their origin shows the vast extent of the Aṅga literature in general and of the twelfth Aṅga in particular, and they afford us a peep into the subject matter of the lost Diṭṭhivāda. A fuller scrutiny of their contents is yet to be carried out and it is likely to throw considerable light upon the mystery of the name Pūrva or Pūrvagata and the story of their disappearance. In this connection it is noteworthy that the Śvetāmbara Jainas have preserved versions of the first eleven Aṅgas but they take the twelfth Aṅga to be entirely lost. The eleven Aṅgas are disowned by the Digambara school which, however, has scrupulously preserved the above mentioned portions of the twelfth Aṅga unknown to the Śvetāmbaras. The two traditions thus inscrutably seem to complement each other.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Select Contents of Oriental Journals.

1. *Bulletin of the Deccan College Research Institute, Vol. 1, Nos. 2—4 (March, 1940)*:—

pp. 157—168. *Jaina Yakṣas And Yakṣiṇīs* by H. D. Sankalia. Different types of Yakṣa images are discussed.

pp. 185—188. *The So-called Buddhist Images from the Baroda State* by H. D. Sankalia.

The Archaeological Dept. of the Baroda State found last year four metal images from Mahuḍī in the Vijāpur taluka and declared them as those of Buddha. But Prof. Sankalia proves them to be Jain ones.

2. *Journal of the University of Bombay* Vol. IX, pt. 2 (Sept. 1940):—

pp. 147—169. *Iconography of the Jain Goddess Ambikā* by U. P. Shah, M. A.

Different types of the images of Jain goddess Ambica are discussed.

3. *Indian Historical Quarterly*, Vol. XVI, No. 2 (June, 1940):—

pp. 314—317. *The story in Stone of the Great Renunciation of Neminātha* by Dr. H. D. Sankalia.

A ceiling panel in the Tejaḥpāla temple on Mt. Abu is described.

4. *Journal of the Royal Asiatic Society*, London, Pt. II June, 1940:—

pp. 129—178. *Catalogue of the Tod Collection of Indian Mss. in......R. A. Society*, by Prof. L. D. Barnett. Many a Jain mss. are noticed.

5. *Indian Culture*, Vol. VI, No. 2, Oct. 1939:—

Jaina Images in Bengal by K. K. Ganguli. 'A few Jain images representing the Tīrthankaras and belonging to the Pāla period have been found in Bengal.'

K. P. Jain.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

JAIN BIBLIOGRAPHY.

1. *Prākrita, Sanskrit, Apabhramsa Etc.*

   1. *A Grammar of the Ardha Māgadhī Prākritā* (Jain-Siddhāntā Kaumudī) by Pt. Ratnacandra, pp. XII + 411, The Sanskrit Book Depot, Lahore.

   2. *Samrāicca-Kahā* of Haribhadra Sūri (Book I), Edited by M. C. Modi, pp. 174. Gurjar Grantha Ratna, Ahmedabad.

   3. *Caṭakhanḍāgama* with Dhavalā-Tīkā (Jīvasthāna, Satprarūpaṇā) Vol. II edited by Prof. Hira Lal Jain, King Edward College, Amraoti C. P.

   4. *Sāgāradharmāmrata* of Aśādhara edited by Pt. Devakinandan Shastri, Digamber Jain Pustakālaya, SURAT.

2. *Hindi, Gujarati Etc.*

   1. *Arthaprakāśika* of Pt. Sadāsukhaji, Digamber Jain Office, Surat

   2. *Bharat—Sāmāyika—Pāṭha*, ed by M. K. Kapadia, Digambar Jain office, Surat. pp. 175

   3. *Panca-Stotra—Samgraha* ed. by Pt. Pannalal Jain, Surat, pp. 142.

   4. *Laghu—Jñānāmrta—Sāra* by Muni Kunthusāgar, Surat, pp. 38.

3. *English, Etc.*

   1. *Jaina Iconography*, by Dr. H.D. Sankalia, M A. Ph. D. (Sir E. Denison Ross Presentation Volume) Bombay.

K. P. Jain.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

JOURNAL OF THE UNIVERSITY OF BOMBAY

Published five times a year with original articles and abstracts of thesis of Research Work done by the students and teachers of this University in the following subjects :

No. 1. History, Economics & Sociology (July)

No. 2. Arts and Law (September)

No. 3. Physical Sciences, including Mathematics (November)

No. 4. History, Economics and Sociology (January)

No. 5. Biological Sciences, including Medicine (March)

Rates of Subscription :

Annual Subscription for Five Issues	...	Rs. 12/-
" " " Nos. 1 & 4	...	Rs. 5/-
" " " Nos. 3 & 5	...	Rs. 5/-
Number Two or a Single Copy	...	Rs. 3/-

For All University and Educational News, Subscribe to :

BOMBAY UNIVERSITY BULLETIN

(Issued in August, November and March)

Annual Subscription :—Rupee One, Post Free.

For advertisement rates and further particulars please write to :—

The Manager,
Journal of the University of Bombay,
University of Bombay, Fort, Bombay.

पुस्तकालय
028891
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"INDIAN CULTURE"

(JOURNAL OF THE INDIAN RESEARCH INSTITUTE)

A high class research quarterly in English on Indology, conducted under the distinguished editorship of Drs. D. R. Bhandirkar, B. M. Barua, B. C. Law, with a strong Advisory Committee, consisting of such eminent orientalists as Sir D. B. Jayatilaka, Dsr. S. N. Das Gupta, Laksman Sarup, Radhakumud Mukerjee, P. K. Acharya, MMs. Kuppuswami Sastri, Gananath Sen, and others, each of whom represents a particular section of Indian Culture.

It deals with all the branches of Indian Culture-Vedas, Philosophy, Buddhism, Jainism, Zoroastrianism, Ancient Indian Politics and Sociology, Indian Positive Sciences, History, Archaeology, Dravidian Culture, etc. Among the contributors are the best orientalists of India and foreign lands including Drs. Sir B. N. Seal, Sir, A. B. Keith, Drs. Winternitz, Otto Schrader, Otto Stein, R. C. Mazumdar, P. K. Acharya, etc.

Indispensable for every lover of Indology. A most attractive get up and printing. Each issue contains about 200 pages. Price very moderately fixed Rs. 6 or Sh. 10 per annum (including postage).

Among the other publications of the Institute, which aims at wide propagation of Ancient Indian Culture and Wisdom by publication of the best products of Ancient Literature under various Series-Vedic Buddhistic, Jain, etc., are :—

(1) An encyclopaedic edition of the Rigveda with texts, commentaries and translations with elaborate research note in English, Bengali and Hindi.

(2) Gaya and Buddha Gaya, 2 Vols. Rs. 12.

(3) Barhut, 3 Vols. Rs. 27.

(4) Upavana Vinoda (a Sanskrit treatise on Arbori Horticulture), etc., etc., Rs. 2-8.

(5) Vangiya Mahakosa (each part), As. 8.

(6) Books of the Buddhistic Series.

For further particulars, please apply to :

The Hony. General Secretary,
The Indian Research Institute
170 Maniktala Street,
Calcutta, (India.)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1.
uall
arch.
2.
aska
r ani
ceipt
3.
cept
app
who
4.
mpt
5.
e app
once
6.
ogra
s, re
ear
7.
itten
8.
ectir
9.
stag
10.
sent
11.
nora
inolo

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

078891

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo quarterly, which is issued ually in four parts, *i.e*, in June, September, December and arch.

2. The inland subscription is Rs. 4 (including 'Jain Siddhanta askara') and foreign subscription is 6 shillings (including postage) r annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on ceipt of Rs. 1-4-0

3. Only the literary and other descent advertisements will be cepted for publication. The rates of charges may be ascertained application to

THE MANAGER,
The "Jaina Antiquary"
Jaina Siddhanta Bhavana, Arrah (India).

whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him omptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from e approximate date of publication, the office should be informed once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, ography, art, archæology, iconography, epigraphy, numisma-s, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc , type-itten, and addressed to,

K. P. JAIN, Esq. M. R. A. S.,
EDITOR, "JAINA ANTIQUARY"
Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or jecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if stage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work onorarily simply with a view to foster and promote the cause of inology :—

PROF. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
PROF. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
PT. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की प्रकाशित पुस्तकें

(१) मुनिसुव्रतकाव्य (चरित्र) संस्कृत और भाषा-टीका-सहित ...

(मू० कम कर दिया

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित ...

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह ... ...

(४) जैन-सिद्धान्त-भास्कर, १म भाग की १ग, २य तथा ३य किरणें ...

(५) " २य भाग ...

(६) " ३य " ...

(७) " ४र्थ " ...

(८) " ५म " ...

(९) " ६म " ...

(१०) भवन के संगृहीत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की पुरानी सूची ...

(यह अर्ध

(११) भवन की संगृहित अंग्रेजी पुस्तकों की नयी सूची ...

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिह

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD., ARRAH.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar